सेनाएं और राष्ट्र रक्षा

डा. कमला रंजन

3009
रा

प्रेमचन्द और राष्ट्रीय एकता
डॉ० कमला रंजन का शोध-ग्रंथ है,
जिसमें विशद ढंग से लेखिका ने
प्रेमचन्द के जीवन और साहित्य को
संग्रह योग्य बनाया है।

प्रेमचन्द भारतीय साहित्य की
पहली और साथ-साथ अंतिम
कड़ी थे, जिन्होंने राष्ट्रीयता के
संदर्भ में एकता को जहां कहीं भी छुआ,
उसे अनायास विवरण मात्र ही
नहीं रहने दिया
बल्कि मानव चेतना को झकझोरकर
रख दिया।

प्रेमचन्द और राष्ट्रीय एकता
का स्वागत पाठक-वर्ग में होगा,
ऐसा हमारा विश्वास है
और डॉ० कमला रंजन इस प्रेरणा
को पाकर साहित्य को और भी
ऐसी कृतियां देंगी, यह
हमारी प्रतीक्षा है।

राष्ट्रीय एकता
और
प्रेमचन्द

C598300S
29ZU

राष्ट्रीय एकता
और
प्रेमचन्द

—डा० कमला रंजन

पारिजात प्रकाशन
पटना-800001

प्रथम संस्करण : 1986
© डा० कमला रंजन

प्रकाशक :
पारिजात प्रकाशन, डाक बंगला रोड, पटना-800001

आवरण : विमलेन्दु

मूल्य : सत्तर रुपये

RASHTRIYA EKTA AUR PREMCHAND

Dr. Kamla Ranjan

First Edition 1986
Price : Rs. 70.00

मुद्रक : मयूर प्रेस, 27 डी० एल० एफ० इन्डस्ट्रियल एरिया,
नजफगड़ रोड, नई दिल्ली-110015

प्रस्तावना

भारत में सांप्रदायिक एकता की समस्या आधुनिक नहीं है। यह एक पुरानी समस्या है। भारतीय संस्कृति कई जातियों के संघर्ष और समन्वय की संस्कृति है। एक-एक करके द्रविड़, आर्य, नीग्रो, यूची, ऑस्ट्रिक, यूनानी, शक, हूण, आभीर, मंगोल तथा प्राचीन तुर्क इस देश में आए और भारतीय संस्कृति में मिलकर एकाकार हो गए। वस्तुतः हिंदू संस्कृति एक जाति की संस्कृति नहीं है, वरन् सभी जातियों के समन्वय और एकता की संस्कृति है।

इस्लाम भारत में सदियों पहले आ गया था। उस समय दोनों में विरोध की भावना नहीं थी। इस्लाम जब देश में शासकों का धर्म बन कर आया तब हिंदू-मुस्लिम दोनों को एक दूसरे को समझने का मौका मिला। विजेताओं एवं शासकों का धर्म होने के कारण तथा उनके अत्याचारों के कारण, इस्लाम के प्रति हिंदू समाज में जो घृणा, तनाव और उपेक्षा की भावना आई वह राजनीतिक परिस्थितियों की उपज थी। भारत में इस्लाम अपने धार्मिक प्रतिनिधियों के साथ नहीं आया। शासकों का धर्म होने के कारण इस क्रांतिकारी धर्म को लोगों ने सहानुभूति एवं प्रेम से समझना नहीं चाहा। इस्लाम का अर्थ शांति-धर्म है। मुहम्मद साहब के धर्म का मूलमंत्र है—"ला इलाह इल्लिलाह, मुहम्मदुर्रसूलिलाह", जिसका अर्थ है—ईश्वर एक है, वही पूज्य है, मुहम्मद उसके पैगंबर हैं। इसमें ऐसी कोई बात नहीं कही गई जो हिंदू धर्म मानने वालों को मान्य न हो। वेदों, उपनिषदों तथा षट्दर्शनों में एक ही ईश्वर की मान्यता है।

भारत में हिंदू-मुसलमान लगभग एक हजार वर्षों से एक ही धरती पर रहते आ रहे हैं। दोनों की जन्मभूमि एक है। दोनों का जीवन-विकास इसी धरती पर हुआ है। इसमें से अधिकतर मुसलमान धर्मपरिवर्तन-पूर्वक हिंदू मां की संतानें हैं। फिर भी, आज भारतीय हिंदू अपने कट्टर विचार और धर्म से हिंदू हैं और भारतीय मुसलमान इस्लाम से बँधे रहने के कारण मुसलमान बने हुए हैं। ऐसे ही कट्टर हिंदू-मुसलमानों को, अकबर और दाराशिकोह जैसे राजनेताओं ने और सूफी फकीरों तथा संत साधकों ने, आपसी एकता, प्रेम और स्नेह की डोर में बाँधने का अथक प्रयास किया। अकबर ने सभी धर्मों का समन्वय कर, धर्म के एक नए रूप, "दीन इलाही" की प्रतिष्ठा की। अकबर के इस नए प्रयास को लोगों ने स्वीकार कर लिया होता तो आज भारत में रहनेवाले हिंदू और मुसलमानों का सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन कुछ

और ही होता। सांप्रदायिक विद्वेष को औरंगजेब और अंग्रेजों ने इस प्रकार भड़काया कि आज भी इसकी ज्वाला शांत नहीं हुई है।

19वीं-20वीं शताब्दी में कुछ समाज-सुधारकों तथा राष्ट्रीय नेताओं एवं विशेषत: गांधी जी ने "हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, आपस में हैं भाई-भाई" तथा "ईश्वर अल्ला तेरो नाम" कह कर विभिन्न विश्वासों में समन्वय करने का प्रयास किया। वे सांप्रदायिक विद्वेष समाप्त कर जन-जन में एकता, प्रेम एवं भाईचारे की प्रतिष्ठा करना चाहते थे। लेकिन कुछ स्वार्थी तथा संकुचित विचारवाले लोगों को यह संदेश विषमंत्र-सा जान पड़ा। राष्ट्रीय एकता के प्रचारक बापू भी शहीद हो गए, पर लोगों के कान पर जूं तक न रेंगी। राष्ट्रीय एकता के नेताओं की आवाज नक्कारखाने में तूती की आवाज बन कर रह गई। इसका लाभ आज भी राजनीतिक नेता उठाते हैं और देश में बीच-बीच में हत्या, मार-पीट का ताण्डव-नृत्य होता रहता है। अत: आज भी हिंदू-मुस्लिम-मन में धर्म और संस्कृति को लेकर सांप्रदायिकता बनी हुई है।

मानवता के आदर्श से विच्युत समाज के इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न को प्रेमचन्द गंभीरता से सोचते हैं और उसे सुलझाने का प्रयास अपने ढंग से करते हैं। वह यह मानते हैं कि सांप्रदायिक भावना राजनीतिक अधिक, सामाजिक कम है। उनका विश्वास मानवतावाद में था। यह मानवतावाद उन्हें सूफी संत-साधकों, विवेकानंद, गांधी और टालसटाय से मिला था, जिसके आधार पर वह बार-बार स्पष्ट करते हैं कि धर्म और संस्कृति बाद की चीज है; यह विकसित होकर हम पर आरोपित है; मूल-वस्तु है हमारा मानव होना; हम एक दूसरे को मनुष्य समझें, मनुष्य से मनुष्य की तरह, बंधुत्व की भावना से—धर्म, जाति, संस्कृति, संप्रदाय को भूल कर—मिलें। प्रेमचन्द सांप्रदायिक एकता हासिल करने की दिशा में सदा जागरूक रहे। उनका सारा साहित्य इस प्रयास की देन है। अत: प्रेमचंद आज भी प्रासंगिक हैं। वे भविष्यद्रष्टा थे। उन्होंने सहज साधारण भाषा-शैली में अपने उच्च विचारों को कथा-साहित्य के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास किया। लेकिन उनके युग ने उनके सांप्रदायिक एकता के प्रयास की अवहेलना की।

आज तक हिंदी के आलोचकों ने प्रेमचंद के साहित्य के इस महत्त्वपूर्ण पक्ष की उपेक्षा की। उनके कथा-साहित्य पर अनेकानेक आलोचनात्मक ग्रंथ एवं शोध-प्रबंध लिखे गए, लेकिन अधिकांश आलोचकों, शोधकर्ताओं ने सांप्रदायिक एकता के लिए किए गए उनके प्रयासों को नजर अंदाज किया, बस, जहां-तहां उल्लेख भर किया। वस्तुत: प्रेमचंद-साहित्य का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय तथा सांप्रदायिक एकता है। प्रेमचंद ने युग की परिस्थितियों और राजनीतिक घटनाचक्रों के बीच इसे ही अपनी जीवन साधना का विषय बनाया। वह सांप्रदायिकता को सामाजिक कोढ़ मानते थे। उस कोढ़ को दूर करने के लिए उन्होंने राजनीति की अपेक्षा साहित्य को माध्यम

बनाया। वे कहते थे कि साहित्य में न कोई हिंदू होता है, न मुसलमान, वहां व्यक्ति तो जाति, धर्म और संप्रदाय से परे मानव होता है।

प्रस्तुत शोध-ग्रंथ में मैंने पूर्वमान्य परंपरा से हट कर प्रेमचंद के जीवन एवं साहित्य को नई दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। मेरे इस शोध का आधार प्रेमचंद का संपूर्ण साहित्य है।

प्रस्तुत शोध का निर्देशन डॉ० वासुदेव नंदन प्रसाद, युनिवर्सिटी प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिंदी-विभाग, मगध विश्वविद्यालय ने किया है। अत्यन्त व्यस्त रहने पर भी वे मेरे प्रति सदा सदय रहे। मैं उनके प्रति अत्यंत कृतज्ञ और श्रद्धावनत हूँ।

इसके अतिरिक्त मैं अपने पूज्य ससुर जी श्री ईश्वरीनंदन प्रसाद और ममता-मयी सास जी श्रीमती कमल कामिनी प्रसाद के प्रति श्रद्धावनत हूँ, जिन्होंने मुझे अमित स्नेह एवं आशीर्वाद देकर, मुझे सदैव कर्मपथ पर चलते रहने एवं साहित्य-सेवा में निरत रहने की प्रेरणा प्रदान की। इस शोध कार्य में भी उनका आशीर्वाद ही फलीभूत हुआ है।

मैं अपने पति श्री राजीव रंजन जी को भी भूलना नहीं चाहती, जो हर स्थिति में मेरा मनोबल और उत्साह बनाए रखने में मेरे संबल रहे हैं।

मैं अपने प्रिय पुत्रों—अमिताभ, जयेश और देवेश—को भी अशेष स्नेहाशीष देती हूँ, जिन्होंने इस शोध-साधना में ऐसे अनुकूल वातावरण का निर्माण किया, जो मेरे लिए शुभ सिद्ध हुआ।

—कमला रंजन

विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

प्रस्तावना v-vii

प्रथम अध्याय : **9-33**

भारत में सांप्रदायिक एकता का इतिहास

द्वितीय अध्याय : **34-48**

सांप्रदायिक एकता में मध्ययुगीन सूफ़ियों एवं संतों का योगदान

तृतीय अध्याय : **49-69**

उन्नीसवीं शताब्दी का भारतीय नवजागरण और सांप्रदायिक एकता

चतुर्थ अध्याय : **70-93**

प्रेमचंद का युग—राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवेश में

पंचम अध्याय : **94-110**

प्रेमचंद का जीवन और सांप्रदायिक एकता संबंधी विचार

षष्ट अध्याय : **111-126**

प्रेमचंद-पूर्व कथा-साहित्य में सांप्रदायिक एकता

सप्तम अध्याय : **127-146**

प्रेमचंद के कथा-साहित्य में स्वातंत्र्य आंदोलन एवं
सांप्रदायिक संघर्ष

अष्टम अध्याय : **147-159**

प्रेमचंद के कथा-साहित्य में सांप्रदायिक एकता :
प्रयत्न की दिशा

नवम अध्याय : **160-184**

प्रेमचंद के कथा-साहित्य में सांप्रदायिक एकता के प्रतिनिधि चरित्र

दशम अध्याय : **185-193**

सांप्रदायिक एकता को प्रेमचंद की देन

उपसंहार **194-196**

प्रथम अध्याय

भारत में सांप्रदायिक एकता का इतिहास

भारतीय जीवन कई जातियों, संप्रदायों और संस्कृतियों के समन्वय और एकता का इतिहास है। भारत में रहने वाली कौन-कौन-सी जातियाँ बाहर से आईं और उनके आने से कौन-सी सांप्रदायिक भावनाएँ जगीं और उनका किस रूप में ऐक्य एवं समन्वय हुआ इसके ऐतिहासिक आधार नहीं मिलते। समय, परिस्थिति, विदेशी आक्रमण आदि के कारण हमारा प्राचीन साहित्य यथेष्ट विपुल परिमाण में उपलब्ध नहीं है। इसीलिए उसमें हमें सांप्रदायिक समन्वय के इतिहास का स्पष्ट परिचय नहीं मिलता।

आज जब हम भारत की संपूर्णता का सर्वेक्षण करते हैं तो देश की विभिन्नता की ओर हमारा ध्यान जाता है। देश की भौगोलिक दशा विभिन्न प्रकार की है। कहीं समतल मैदान हैं, कहीं पर्वत-प्रदेश, कहीं घाटियां हैं, कहीं पठार। इस देश का कोई हिस्सा सूखा रेगिस्तान है तो कोई अत्यधिक वर्षा से परिपूर्ण। प्राकृतिक दृष्टि से राजपूताने और कूर्माचल प्रदेश में कोई समता नहीं है। इसी प्रकार, विभिन्न प्रदेशों में रहनेवालों की वेश-भूषा, खान-पान में भी अंतर है। अतः **भारतीय जीवन विभिन्नता में एकता का जीवन है।** इस देश में विभिन्न नस्लों, जातियों, सांप्रदायिक-धार्मिक भावनाओं और विचारों के लोग रहते हैं।

भाषा-वैज्ञानिकों के अनुसंधान के आधार पर, ऐसी किसी जाति का पता नहीं चलता जिसे मूलतः भारत-भूमि का निवासी माना जा सके। "यहां की छोटी-बड़ी सभी जातियां समय-समय पर बाहर से आईं।"[1] ये भाषा-वैज्ञानिक मानते हैं कि 'नेग्रीटो' भारत-भूमि पर आनेवाली प्राचीनतम जाति है। नेग्रीटो मूलतः अफ्रीका के निवासी थे और दक्षिण अरब, ईरान से होते हुए भारत आए थे। भारत में आनेवाली दूसरी जाति 'ऑस्ट्रिक' थी। यह नेग्रीटो जाति के बाद भारत आई थी। मूलस्थान भूमध्य सागर माना जाता है। डॉ० भोलानाथ तिवारी मानते हैं कि आज भी कोल, मुंडा, खासी, मोनख्मेर, निकोबारी आदि भाषाएँ बोलनेवाले इसी समुदाय के हैं। 'कोड़ी' शब्द (20 वस्तुओं की गिनती के लिए) तथा पुनर्जन्मवाद भारतीय संस्कृति को इनकी देन है। भारत में आनेवाली तीसरी मुख्य जाति 'किरात' (मोंगोलॉयड)

---

1. डॉ० भोलानाथ तिवारी—हिंदी भाषा, पृ० 35 (पुनः मुद्रित 1973, किताबमहल)

थी । "ये लोग मूलतः याङ्सीक्यांग नदी के मुहाने के पास रहनेवाले आदि-मंगोल थे। इन्हीं की एक शाखा चीनी सभ्यता एवं संस्कृति की निर्माता बनी ।[1] इसके बाद भारत में 'द्रविड़' जाति के आने की संभावना स्वीकार की जाती है । द्रविड़ों के मूल स्थान के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है । कुछ विद्वान इन्हें भारत का मूल निवासी मानते हैं । लेकिन डा० तिवारी इन्हें मूलतः अफ्रिकावासी मानते हैं । लेकिन वहीं से भूमध्यसागर, ईरान, अफगानिस्तान होते हुए ये पूर्वी भारत (असम और बंगाल) में फैले । आज तमिल, तेलगु, कन्नड़ और मलयालम के अतिरिक्त तुलु, कोडगु, कोलमी टोडा, गोंड, खव्द, ओरावँ, ब्राहुई, माल्तो आदि इन्हीं की भाषा की अवशिष्टियाँ हैं ।

द्रविड़ों का भारत-आगमन, भाषा-विज्ञान की दृष्टि से, 4000 ई० पू० के बाद माना जाता है । आर्य जाति, ईरानियों एवं दरद लोगों से भिन्न होकर, 1500 ई० पू० के आसपास पश्चिमी एवं पश्चिमोत्तर सीमा से भारत में आई थी । हार्नले एवं स्टार्क[3] का विचार है कि आर्य दो बार भारत में आए और ये परवर्ती आर्य ही वैदिक साहित्य एवं संस्कृति के निर्माता थे । आर्यों के विषय में विद्वानों में मतभेद है । कुछ लोग इन्हें 'भारत के मूल निवासी' मानते हैं और कुछ लोग 'बाहर से आए हुए' ।

आर्यों का मूल स्थान भारत है, इस मत को मानने वाले विद्वान हैं डॉ० एल० डी० कल्ल (कश्मीर या हिमालय मूल स्थान), महामहोपाध्याय डॉ० गंगानाथ झा (ब्रह्मर्षिदेश), डॉ० डी० एस० त्रिवेद (मुल्तान में देविका नदी के किनारे), श्री अविनाश चंद्र दास, डॉ० संपूर्णानन्द (सरस्वती नदी के किनारे हिमालय में) इत्यादि । भारतीय आर्यों और ईरानी आर्यों की भाषा एक दूसरे से बहुत मिलती-जुलती है । भारतीय आर्यों का प्राचीन ग्रंथ "ऋग्वेद" है और ईरानी आर्यों का प्राचीन ग्रंथ "जेंद-अवेस्ता" है । "जेंद-अवेस्ता" की भाषा वेदों की भाषा से बहुत मिलती है । इन दोनों में न केवल तत्सम शब्दों की अभिन्नता है वरन् व्याकरण धातुएँ भी सदृश ही हैं । इसके अतिरिक्त जेंदअवेस्ता और वेदों में प्रतिपादित प्राचीन धर्म भी एक दूसरे से मिलते-जुलते थे । डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार ने लिखा है कि "प्राचीन ईरानी लोगों का धर्म भी वैदिक धर्म के बहुत समीप था । मित्र, वरुण, अग्नि आदि वैदिक देवताओं की पूजा ईरानी लोग भी करते थे ।"[4] ऐसा अनुमान किया जाता है कि ये आर्य बहुत दिनों तक साथ-साथ एक ही स्थान में रहे और भाषा एवं धर्म का साथ-साथ विकास हुआ । फिर, कुछ कारणवश, संभवतः धार्मिक मतभेद के कारण, ये दो संप्रदायों में बंट गए और दोनों के बीच भीषण संघर्ष हुआ । ऐसा लगता है कि ईरानी संप्रदाय वाले आर्य परास्त हो गए और ईरान

---

1. वही, पृ० 36 ।
2. हार्नले : कंपेरेटिव ग्रामर ऑफ द गोडियन लैंग्वेज, पृ० 31 ।
3. हार्नले एवं स्टार्क : हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० 2 ।
4. डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार—भारत का प्राचीन इतिहास, पृ० 99 ।

की ओर जाकर बस गए, और दूसरे संप्रदाय वाले आर्य भारत आए। वैदिक संहिताओं और जेंद-अवेस्ता के अध्ययन से आर्यों के इस संघर्ष का पता चलता है। संभवतः "इसी को देवासुर संग्राम भी कहा जाता है।"[1] लेकिन स्पष्ट रूप से यह पता नहीं चलता है कि ये दो विरोधी संप्रदाय क्यों बने, एक ही भाषा और एक ही धर्म के माननेवालों में विरोध का मूल कारण क्या था। "प्राचीन ईरानी लोग किस कारण देव-विरोधी और असुर-उपासक हो गए और भारत के आर्य किस कारण असुर-विरोधी और देव के उपासक हो गए, यह विषय विवादग्रस्त है।"[2] साहित्य और पुरातत्व-अवशेष के आधार पर इसके बारे में सही निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है। जाहिर है कि प्रारंभ में ही किसी विश्वास और धार्मिक मान्यताओं के कारण आर्यों में आपस में विरोध हो गया होगा और उनकी एक शाखा ईरान चली गई तथा दूसरी शाखा भारत आ गई।

कुछ विद्वानों का विचार है कि अगर आर्य बाहर से आते तो अपने वाङ्मय में अपने मूल स्थान के विषय में अवश्य लिखते। वैदिक साहित्य में कहीं भी आर्यों के बाहर से आने का उल्लेख नहीं है। लेकिन भाषा-विज्ञान के अध्ययन के आधार पर विद्वानों ने यह माना है कि आर्य भारत के मूल निवासी नहीं थे क्योंकि भारतीय परिवार की अधिकांश भाषाएं यूरोप और एशिया के संधिस्थल की हैं। सन् 1788 ई० में सर विलियम जोन्स ने भाषा-विज्ञान के अनुसंधान के आधार पर यह स्पष्ट किया कि संसार की बहुत-सी भाषाएं एक ही भाषा से निकली हैं और यह भाषा आर्यों की प्राचीनतम भाषा थी। आज इस भाषा के रूप एशिया और यूरोप के भिन्न-भिन्न देशों में मिलते हैं। एशिया में जेन्द, फारसी, पश्तो, बलूची, कुर्द और आरमीनियन तथा यूरोप में इटालियन, स्पेनिश, यूनानी, केल्टिक, फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेजी, लातीनी, अलबेनियन, लिथुएनियन आदि भाषाएं)। अतः संभावना इस बात की है कि आर्य बाहर से आए और जहां-जहां रहे, अपनी भाषा का विकास किया। भारत में आकर आर्य फिर वापस नहीं गए होंगे। जब आर्य बाहर से आए तब इन्हें पूर्ववर्ती सभ्यता को समाप्त करने और भारत में रहने वालों से युद्ध करना पड़ा होगा। भारत में, आर्यों के आने के पहले, आर्येतर जातियाँ कौन-सी थीं, इसके विषय में वैदिक साहित्य में कुछ संकेत मिलते हैं। वेदों में उन्हें 'दस्यु' और 'दास' कहा गया है।[3] आर्यों को इन दासों दस्युओं को परास्त करने में बहुत संघर्ष करना पड़ा होगा। फिर दोनों जातियाँ इस देश में शासक और शासित के रूप में रहने लगी होंगी। दोनों में क्रमशः सभ्यता, संस्कृति, भाषा आदि का सम्मिश्रण होने लगा होगा और दोनों जातियाँ समन्वय के आधार पर एक संस्कृति को मानने लगी होंगी। डॉ० विद्यालंकार मानते हैं कि ये

---

1. वही।
2. वही, पृ० 99।
3. वही, पृ० 99।

दस्यु सिंधुघाटी में रहते होंगे जिनकी सभ्यता-संस्कृति समुन्नत थी। आर्यों को भारत में रहने के लिए इन्हीं समुन्नत सिंधुघाटी के निवासियों से युद्ध करना पड़ा होगा। पुराणों में वर्णित कथाओं के आधार पर यह स्पष्ट पता चलता है कि आर्यों और दासों में वैवाहिक संबंध बाद में मान्य हो गए थे। इससे इन दोनों की संस्कृतियों का समन्वय अधिक सहज रूप में हो गया। आर्यों और आर्येतर जातियों से उत्पन्न बच्चे व्रात्य[1] कहलाते थे। ऋग्वेद में व्रात्य जातियों का उल्लेख मिलता है। बाद में व्रात्यस्तोम यज्ञ का विधान कर इन व्रात्यों को आर्य जाति में सम्मिलित करने की भी व्यवस्था की गई।[2] अतः प्रारंभ में आर्येतर जातियों को वैदिक धर्म की दीक्षा और यज्ञ के द्वारा शुद्ध कर आर्यों ने समन्वय एवं एकता का अच्छा प्रयास किया। "महाभारत के शांति-पर्व में इंद्र ने मांधाता को उपदेश दिया कि अपने राज्य के इन दस्युओं को वैदिक धर्म की दीक्षा दो और उनसे यज्ञ करवा लो।"[3]

इस प्रकार समन्वय और एकता के प्रयास में वर्षों लगे और भारतीय समाज में ये विभिन्न जातियाँ मिलकर एक हो गईं। वे आगे चलकर हिंदू समाज के नाम से अभिहित हुईं। इस समन्वय और एकता में आर्यों ने आर्येतर जातियों से बहुत-सी बातें लीं। आर्यों का उद्देश्य अन्य जातियों से बचना नहीं था। उनमें वैमनस्य, छुआछूत और जाति-पांति की कट्टरता नहीं थी। वे दूसरी जातियों से मिल-जुल कर अपनी सभ्यता-संस्कृति का विकास करना चाहते थे। समन्वय की यह भावना शादी-विवाह के द्वारा अधिक सहज हो गई और जो महिलाएँ जिस घर में गईं, वे अपनी संस्कृति उस घर में ले गईं। इसलिए धार्मिक विश्वास, पूजा-पाठ आदि में बहुत सारे परिवर्तन हुए। हिंदू देवी-देवताओं के अनेकानेक रूप मिलने लगे। आज शिव-पूजा का जो प्रचार है वह वेदों में प्रचलित नहीं था। वेद के रुद्र (आंधी, तूफान, बाढ़, बिजली, वज्रपात, भूकम्प आदि) प्रकृति के उग्ररूप के लिए मान्य हैं। लेकिन बाद में शिव की विभिन्न कल्पना, लिंग की पूजा आदि विधान द्रविड़, ऑस्ट्रिक आदि समाज से आया होगा। डॉ० राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक "हिंदू व्यू ऑफ लाइफ" में स्पष्ट लिखा है कि हिन्दुत्व ने बाह्य जातियों के विचारों को, उनके देवी-देवताओं को, अपने में मिला लिया। वस्तुतः भारतीय संस्कृति समन्वय और एकता की संस्कृति थी। इसमें दूसरे धर्मों, रस्मोरिवाजों को अपने में आत्मसात् करने की अपूर्व क्षमता थी।

आज यह निश्चय करना बहुत कठिन है कि कौन-सी धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक मान्यताएं मूलतः आर्यों की थीं और क़ौन-सी द्रविड़, ऑस्ट्रिक, नीग्रो, किरात आदि जातियों की। हिन्दू संकृति कई संस्कृतियों के मिश्रण, समन्वय एवं एकता की

---

1. भारत का प्राचीन इतिहास, पृ० 135
2. वही, पृ० 135
3. संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 53

प्रतीक है। हिंदू धर्म के विषय में भी हम यही कह सकते हैं कि यह किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा स्थापित धर्म नहीं है। यह क्रमशः विकसित धर्म है। ईसाई-धर्म और इस्लाम धर्म की भांति इसके कोई संस्थापक या प्रवर्तक नहीं हैं। "सच तो यह है कि हिंदू धर्म किसी एक विश्वास पर आधारित नहीं है प्रत्युत वह अनेक विश्वासों का समुदाय है।"[1] आज की भारतीय जनता अनेकानेक जातियों और संप्रदायों के मिश्रण से बनी है।

आर्यों और द्रविड़ों के बाद भारतीय जीवन में बाहर से आने वाली जाति 'ग्रीक' थी। मैसिडोनिया निवासी सिकंदर विश्व-विजय की महत्वाकांक्षा लेकर भारत में आया था। सिकंदर ईसा पूर्व 326 में भारत आया था और एक वर्ष बाद अपने देश को लौट गया। लेकिन ग्रीक सैनिक भारत में रह गए। सिकंदर के क्षत्रप फिलिप्स ने, जो भारत में रह गए, भारतीय जीवन और भारतीय संस्कृति को अपना लिया। सांप्रदायिकता एवं घृणा, द्वेष, प्रतिशोध की भावनाएं, जो प्रारंभ में इनके आने से उत्पन्न हुई थीं, धीरे-धीरे समाप्त हो गईं और ये ग्रीक बिना प्रयास के भारतीय संस्कृति में मिल गए। सिकंदर महान का स्वप्न था संसार की विविध सभ्य जातियों को मिलाकर एक विश्व-संस्कृति का विकास करना। इसी उद्देश्य से उसने सामूहिक रूप से अपने यूनानी सैनिकों का विवाह ईरानी एवं भारतीय स्त्रियों के साथ कराया था। इन विवाहों से एक विश्व-संस्कृति का जन्म भले न हो सका हो, पर उसकी दिग्विजय के फलस्वरूप चौथी ई० पू० की तीन उन्नत एवं सभ्य जातियाँ-ग्रीक, ईरानी एवं भारतीय एक दूसरे के समीप आ गईं और उनमें ज्ञान तथा व्यापार का संबंध घनिष्ठ होता गया।[2] इस प्रकार इन तीन संप्रदायों एवं जातियों में जो विभिन्नता थी वह समाप्त हो गई। ग्रीक, ईरानी और भारतीय, तीनों ने परस्पर संस्कृति, कला और ज्ञान का आदान-प्रदान किया। इस तरह भारतीयों का इन विदेशियों के साथ समन्वय सुलभ हो गया। उस समय के सामाजिक जीवन में, इन जातियों के आने या इनके रहने से कोई विशेष प्रतिक्रिया नहीं हुई। ये भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग बन गए। इसके अतिरिक्त, भारत, मिस्र और ग्रीस में व्यापारिक संबंध भी कायम हो गए। "भारत के व्यापारी बड़ी संख्या में मिस्र-ग्रीस जाने-आने लगे। पश्चिमी देशों में भारत का माल अच्छी मात्रा में बिकने लगा और विदेशी माल भारत में बिक्री के लिए आने लगा।"[3] इसके साथ ही भारतीय कला पर इन यूनानियों की कला का प्रभाव पड़ा। विशेषकर सिकंदर के द्वारा प्रचलित सिक्कों का प्रभाव बाद के सिक्कों पर पड़ा। भारतीय संस्कृति बाहर से आनेवाली संस्कृति के प्रति उदार थी और उसने अपनी संस्कृति के विस्तार के लिए उस संस्कृति को आत्मसात् कर लिया। इसका यह अर्थ

1. संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 87
2. भारत का प्राचीन इतिहास, पृ० 315
3. भारत का प्राचीन इतिहास, पृ० 315

नहीं कि भारतीय संस्कृति के समक्ष इनकी संस्कृति नगण्य थी या इनकी कोई विशेष संस्कृति नहीं थी। वैसे, भारतीय संस्कृति के इतिहास में स्व० प्रो० कालीशंकर भटनागर और डॉ० बी० डी० गुप्त लिखते हैं कि "सभी इतिहासकार सहमत हैं कि सिकंदर की विजय-यात्रा का भारत पर कोई विशेष संस्कृतिक प्रभाव नहीं पड़ा, यद्यपि यूनानी लोग भारत की संस्कृति से प्रभावित अवश्य हुए।"[1] लेकिन युगीन जीवन एवं कला के अनुशीलन से हम पाते हैं कि दोनों देशों की संस्कृति एक दूसरे से प्रभावित हुई थी।

मगध की शक्ति के ह्रास के साथ-साथ जिन विदेशी शक्तियों ने भारत पर आक्रमण कर राज्य स्थापित किया था उनमें मुख्य थीं ग्रीक (यवन) शक, पार्थियन (पहलवी) और युइशि (कुशान)। शक जाति का मूल स्थान सीर नदी की घाटी में था।[2] शक लोग सिंध के मार्ग से भारत आये थे। पार्थियन पार्थिया के रहने वाले थे। उत्तर-पश्चिम कोने से इन्होंने भारत में शासन स्थापित करना शुरू किया था। "युइशि जाति का मूल अभिजन तिब्बत के उत्तर-पश्चिम में तकला मकान की मरुभूमि के दक्षिण में था।"[3]

भारतीय शक्ति की क्षीणता के कारण इन विदेशी आक्रमकों को सफलता मिलती गईं। विदेशी जातियों का आक्रमण दूसरी सदी ई० पू० के प्रारंभ में शुरू हुआ था और दूसरी सदी ईस्वी तक जारी रहा। भारतीय इतिहास की ये चार सदियाँ विदेशी आक्रांताओं से आक्रांत रहीं। बाहरी जातियाँ बार-बार आकर भारत में रहने की चेष्टा करने लगीं। भारतभूमि का सौंदर्य और संपदा छोड़कर जाने का उनका मन नहीं हुआ। वे भारतीय बनने लगे और धीरे-धीरे भारतीय जन-प्रवाह में मिल-जुलकर एकाकार हो गए। उन्होंने बौद्धधर्म, शैव या वैष्णव धर्म को अपना लिया एवं अपने सिक्कों पर उत्कीर्ण लेख आदि में भारतीय जन-भाषा (प्राकृत तथा संस्कृत) का उपयोग करने लगे। अत: इन्होंने भारतीयों के धर्म, भाषा और रहन-सहन को अपना लिया। "भारत में आकर ये लोग विदेशी नहीं रह गए और न ही इनका किसी विदेशी राज्य से संबंध ही था।"[4] अंतत: ये विदेशी जातियां जब भारतीय राज्य-शक्तियों से पराजित हुईं, तब भारत में रह गईं और विवाह आदि के द्वारा भारतीय भाषा और धर्म को मानकर भारतीय संस्कृति-सागर में समाहित हो गईं। डॉ० विद्यालंकार लिखते हैं कि "यवन, शक, पलहव, कुशान आक्रांता शीघ्र ही पूर्णरूप से भारतीय बन गए।"[5]

---

1. स्व० प्रो० कालीशंकर भटनागर, डॉ० बी० डी० गुप्त : भारतीय संस्कृति का इतिहास, पृ० 219
2. भारत का प्राचीन इतिहास, पृ० 470
3. वही, पृ० 474
4. वही, पृ० 486
5. वही, पृ० 486

ऐसा लगता है कि विवेच्य युग में भारतीय संस्कृति उदार और सहिष्णु थी और आनेवाली जातियों के साथ जाति-धर्म को लेकर बहुत संघर्ष नहीं करती थी। साथ ही ये बाहरी जातियां भी अपने विश्वासों एवं मान्यताओं में उदार थीं। "सभ्यता की दृष्टि से शक लोग बहुत उन्नत नहीं थे पर बैक्ट्रिया के जिन यवनों ने भारत में प्रवेश किया, वे प्राचीन ग्रीक (यवन) लोगों के समान ही सभ्य एवं सुसस्कृत थे। इसी प्रकार पार्थिया के पार्थियन (पहलव) लोग ग्रीस के सम्पर्क में आकर सभ्य बन चुके थे। इन उन्नत सभ्य लोगों का भारतीय धर्म और भाषा को अपना लेना भारत के लिए गौरव की बात थी और इससे सूचित होता है कि इस युग के भारतीय लोग धर्म, सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में ग्रीक लोगों की अपेक्षा अधिक उन्नत थे।"[1] उस युग में भारत के धर्म, सभ्यता और संस्कृति का विदेशों में काफी प्रचार हुआ।

कुशान राजा कनिष्क का साम्राज्य केवल भारत में नहीं था वरन् हिन्दूकुश पर्वत के पश्चिम व उत्तर में चीन की सीमा तक उसका शासन था। कनिष्क के संरक्षण में बौद्ध धर्म ने बहुत उन्नति की और संपूर्ण मध्य एशिया में भारत की संस्कृति का प्रचार हुआ। साहित्य, शिल्प, विज्ञान, कला (चित्रकला, मूर्तिकला) की दृष्टि से भारत का यह युग गौरवपूर्ण है। इस युग में कई महान् साहित्यकार हुए। संस्कृत और प्राकृत में अनेकानेक ग्रंथ लिखे गए। संस्कृत का प्रसिद्ध कवि भास (प्रतिज्ञायौगन्धरायण) कण्व वंश के समकालीन माने जाते हैं। आचार्य अश्वघोष (बुद्धचरितम्) कनिष्क के समकालीन थे। शूद्रक (मृच्छकटिक) सातवाहन वंश के समय में हुए थे। नाट्यशास्त्र के लेखक भरतमुनि और कामसूत्र के रचयिता आचार्य वात्स्यायन भी इसी युग के महान् साहित्यकार हैं।

पतंजलि मुनि पुष्पमित्र शुंग के समकालीन थे, जिन्होंने पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर महाभाष्य लिखा। अनेकानेक स्मृति-ग्रंथों का निर्माण हुआ। डॉ० विद्यालंकार ने लिखा है—"स्मृति-ग्रंथों का निर्माण शुंग काल में प्रारंभ हुआ।"[2] महाभारत और रामायण का वर्तमान रूप भी इसी काल में संकलित हुआ। इसके अतिरिक्त, विशाल बौद्ध साहित्य एवं जैन साहित्य का प्रणयन इस युग में हुआ। यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से यह अव्यवस्था, अशांति एवं विद्रोह का युग था, तथापि साहित्य, संस्कृति एवं ज्ञान की उन्नति निरंतर हो रही थी। धर्म के नाम पर बहुत सारे धर्मों की प्रधानता हो गई थी। बौद्ध और जैन धर्मों के साथ-साथ शिव, विष्णु और सूर्य की पूजा का चलन था। इसके अतिरिक्त, उस समय जाति-प्रथा का विकास होने लगा था, लेकिन जाति-पाँति के विषय में कट्टरता अभी नहीं आई थी। इसीलिए शक, यवन, युइशि आदि जातियों को भारतीयों में घुलमिल जाने में कठिनाई नहीं हुई। जाति निर्भर थी कर्म

1. वही, पृ० 493
2. भारत का प्राचीन इतिहास, पृ० 496

की प्रधानता पर। अनुलोम और प्रतिलोम विवाह बहुत होते थे—उच्च वर्ण के पुरुषों का निम्न वर्ण की स्त्रियों के साथ एवं ऊंचे वर्ण की स्त्रियों का नीच वर्ण के पुरुषों के साथ ऐसे विवाह से उत्पन्न बच्चों को सभी सामाजिक अधिकार मिलते थे और पिता की सम्पत्ति में हिस्सा भी।

धीरे-धीरे जाति-प्रथा कट्टर होती गई और इतनी कठोर हो गई कि मध्ययुग में जब तुर्क व अफगान भारत आए तो भारतीय समाज उन्हें अपने में मिलाने को तैयार नहीं हुआ। समन्वय की जो भावना प्राचीन काल से चली आ रही थी, धार्मिक मान्यताओं और जाति-प्रथा की कट्टरता के कारण इतनी अधिक बढ़ गई कि एक साथ रहने पर भी एक जाति दूसरी जाति को अपवित्र और म्लेच्छ समझती रही। दसवीं सदी के अंत में विदेशी यात्री अलबरुनी भारत आया था। उसने लिखा—"हिन्दुओं की कट्टरता का शिकार विदेशी जातियां होती हैं। वे उन्हें म्लेच्छ और अपवित्र समझते हैं। वे उनके साथ खान-पान व विवाह का संबंध नहीं रखते। उनका विचार है कि ऐसा करने से हम भ्रष्ट हो जाएंगे।"[1] डॉ० विद्यालंकार मानते हैं कि यद्यपि जाति-प्रथा से भारतीय मनोवृत्ति बदल गई थी, तथापि उसमें कट्टरता का विकास नहीं हुआ था। क्योंकि "बारहवीं सदी के अंतिम चरण में जब शाहबुद्धीन गौरी ने गुजरात में हार खाई तो उसकी मुस्लिम सेना का बड़ा भाग कैद हो गया। गुजरात के हिंदुओं ने उन्हें आत्मसात् कर लिया। इसी प्रकार तेरहवीं सदी में जब अहोम जाति ने असम में प्रवेश किया तब वह भी हिंदू समाज का अंग बन गई।"[2]

बाद में, जाति-प्रथा में इतनी कट्टरता आ गई कि बाह्य जातियों के साथ अपनी जातियों में भी उच्च जातियाँ बनने लगीं। जाति-प्रथा का कुपरिणाम यह हुआ कि देश में एकता की भावना समाप्त हो गई। व्यक्ति अपनी जाति में सिमट गया। लोगों के विचार संकुचित हो गए और संपूर्ण देश एवं संपूर्ण देश की जनता के प्रति वे अपना धर्म, कर्तव्य और प्रेम भूलने लगे। सब देशवासी एक हैं, इस भावना का विकास नहीं हो सका। 'एक राष्ट्र, एक देश' की भावना पल्लवित नहीं हो सकी। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि उच्च वर्ग के लोग अपने को महान समझने लगे और इतर जातिवालों को हेय दृष्टि से देखने लगे। विद्या (शिक्षा) ब्राह्मणों और क्षत्रियों तक ही सीमित रह गई और इनसे भिन्न जातियों में निरंतर हीनता की भावना आने लगी। इसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय भावना की जो कमी हुई उससे देश कई सदियों तक गुलाम रहा।

भारत में बाहर से अनेकानेक जातियों के आने से भारतीय जन-जीवन में विभिन्न विचार, विश्वास एवं मान्यताएं आईं। इनमें प्रारंभ में समन्वय के प्रश्न पर

1. भारत की प्राचीन इतिहास, पृ० 734
2. वही, पृ० 735

कुछ समस्याएँ उत्पन्न हुई होंगी, लेकिन आज उनके संबंध में कोई साहित्यिक या ऐतिहासिक आधार प्राप्त नहीं। अधिक संभव है कि सांप्रदायिक समस्या जिस रूप में मध्ययुग में इस्लाम के आने से जागरित हुई, उस रूप में उस समय नहीं होगी। भारतीय इतिहास यह सिद्ध करता है कि भारतीय सामाजिक जीवन अनेक संप्रदायों, धर्मों, मतों आदि के साथ चलता है : प्रारंभ में विदेशी जाति से या विभिन्न संप्रदायों से क्रमशः संघर्ष हुए, लेकिन धीरे-धीरे विरोध सामाजिक धरातल पर ही शांत हो गए और ये बाहर की जातियां भी समाज में मिल-जुल कर रहने लगीं, उनकी सांप्रदायिकता और जाति भारतीय रंग में रंग गई। तद्‌युगीन राजाओं ने अपनी ओर से धर्म-निरपेक्ष राज्य की व्यवस्था पर ध्यान दिया। राजाओं ने किसी सांप्रदायिक भावना को राज्य की ओर से प्रश्रय नहीं दिया। "भारत की अपनी परंपरा असांप्रदायिक राज्य की परंपरा थी।"[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतवर्ष सदा से अहिंसा, प्रेम, सहिष्णुता और उदारता में विश्वास रखनेवाला देश है। अनेक धर्मों और जातियों का इसने स्वागत किया और उन्हें अपने में मिला लिया। "ईसाइयों ओर मुसलमानों को छोड़ दें, तो भी इस देश में एक के बाद एक कम-से-कम ग्यारह जातियों के आगमन और समागम का प्रमाण मिलता है, जिन्होंने इस देश को ही अपना देश मान लिया और जिनका एक-एक सदस्य यहाँ की संस्कृति और समाज में भली-भांति पच-खपकर आर्य अथवा हिंदू हो गया। निग्रो, ऑस्ट्रिक, द्रविड़, आर्य यूनानी, यूची, शक, आभीर, हूण, मंगोल और मुस्लिम आक्रमण के पूर्व आनेवाले तुर्क, इन सभी जातियों के लोग कई झुंडों में इस देश में आए और हिंदू समाज में दाखिल होकर सब उसके अंग हो गए।"[2]

महमूद के पूर्व आनेवाले मुसलमानों के साथ भी हिंदू राजाओं का व्यवहार सहृदयतापूर्ण एवं उदार था। वे उनके धर्म और मस्जिदों को सम्मान की दृष्टि से देखते थे। धार्मिक असहिष्णुता का प्रश्न तब नहीं था। सैयद सुलेमान नदवी ने लिखा है कि "अरब के व्यापारी छठी ई० सदी से भारत आते थे; उनके साथ भारतीय राजाओं का व्यवहार उदारतापूर्ण था। वे इस्लाम को घृणा की दृष्टि से नहीं देखते थे, इस्लाम को एक धार्मिक विश्वास के रूप में मान्यता देते थे, और अपने लोगों को उस धर्म को मान लेने से रोकते नहीं थे। भारत के साथ अरबों का व्यापारिक संबंध ईसा के कम-से-कम दो हजार वर्ष पहले का है।"[3]

मध्ययुग भारतीय इतिहास का ऐसा युग है, जिसमें दो विपरीत संस्कृतियों, धर्मों और जातियों का संघर्ष होता है और यह संघर्ष बहुत दिनों तक चलता है।

---

1. संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 4
2. वही, पृ० 4।
3. अरब और भारत के संबंध, पृ० 62

मुसलमानों का धर्म 'इस्लाम' नया धर्म था। 7वीं शताब्दी में इस धर्म का जन्म हुआ था। इसके प्रवर्तक मुहम्मद साहब थे। मुहम्मद साहब का जन्म 570 ई० में अरब के मक्का शहर में हुआ था। सन् 622 ई० में इन्होंने मक्का छोड़ा था और मदीना की यात्रा की थी। इसी वर्ष इस्लाम का जन्म हुआ। छठी-सातवीं शताब्दी का समय एक ऐसा समय था, जब संसार के कई बड़े-बड़े देशों में धार्मिक क्रांतियां हुई थीं। "चारों ओर मनुष्य की जिज्ञासा युग-युग के पूंजीभूत विश्वासों के आवरण को चीर कर, प्रत्येक वस्तु के आंतस्तत्व को देखना चाहती थी। मनुष्य की उद्‌भूत तर्कशीलता अब किसी भी पुरातन मत को ग्रहण करने के पूर्व पहले उसे भलींभांति परख लेना चाहती थी। सत्यान्वेषिणी दृष्टि के समक्ष प्राचीनतम अंधविश्वास कांप रहे थे। कर्मकांड की विशाल दीवारें जर्जरित हो रही थीं और अंध श्रद्धा के आधार पर संशेषित पुरातन मान्यताएँ अपने जीवन के प्रति निराश-सी दिखाई देने लगी थीं। वास्तव में, यह काल प्रबल गवेषणा का काल था, सत्यानुसंधान का काल था, रहस्योद्‌घाटन की दुर्घर्ष उत्कंठा का काल था।"[1] इस्लाम के पूर्व अरब का जीवन भी अस्त-व्यस्त और अंधकारमय जीवन था। चारों ओर वर्गगत विषमता, अनाचार, अज्ञान, अशांति और अमानवीय कृत्यों का राज्य था। ऐसी महत्वपूर्ण दार्शनिक मान्यताओं और विश्वासों के अभाव में, जीवन असंगठित, अनियमित, आचारहीन और पतनोन्मुख हो गया था। विवाह की कोई सुनिश्चित व्यवस्था न थी। समाज में कुछ लोग अमीर थे, कुछ बहुत ही गरीब थे। सुरा-सुंदरी तथा दासों की अधिकता से समृद्धि और ऐश्वर्य का प्रदर्शन होता था, "इस युद्धप्रिय घुमक्कड़ अरब जाति के लोग धर्म और दर्शन की सूक्ष्मताओं से अनभिज्ञ एवं आचारहीन थे। धार्मिक व्यवस्था के नाम पर इनमें मूर्तिपूजा का प्रचलन था। किंतु इनका मूर्ति विषयक दृष्टिकोण भारतवासियों से भिन्न था। ये मूर्ति को ईश्वर का प्रतीक न मान कर ईश्वर ही समझते थे। मक्का में स्थित काले पत्थर के मंदिर में 360 मूर्तियां विद्यमान थीं। इस्लाम-पूर्व अरबवासी जीवन की कठोरताओं और अज्ञान की कुरूपताओं से घिरकर पतनोन्मुख अवस्था में सांस ले रहे थे। गरीब होने के कारण उनका लोभ भी बहुत बढ़ा हुआ था। सूदखोरी साधारण-सी बात थी और धन बटोरने का हर उपाय लोगों में अच्छा समझा जाता था। जूआ, शराब-खोरी और वेश्यागमन भयंकर रूप से प्रचलित था। विधवा, अनाथ और कमजोर आदमी फालतू समझे जाते थे। उन्हें आश्रय देनेवाला कोई नहीं था। समाज में शादी का कोई खास महत्त्व नहीं था, न यौन संबंधों के बारे में ही कोई अच्छी नीति बरती जाती

1. आर० ए० निकल्सन : लिटरेरी हिस्ट्री ऑफ द अरब्स (कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी) पृ० 25। (उद्धृत—डॉ० जमीला अली जाफरी : हिन्दी कविता इस्लामी संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में, प्रथम खण्ड, 51।)

थी ।[1] ऐसी ही विपरीत परिस्थिति और अव्यवस्थित युग में हजरत मोहम्मद साहब पैदा हुए थे जिन्होंने इस्लाम धर्म को प्रवर्तित किया । इस धर्म का ज्ञान उन्हें आयतों के रूप में क्रमश: 23 वर्षों में समाधि की अवस्था में प्राप्त हुआ था, जिसे 'इलहाम' की अवस्था कहते हैं । कुरान में उन आयतों (पदों) का संकलन है । मुसलमानों का विश्वास है कि कुरान की आयतें मोहम्मद साहब के पास देवदूतों के द्वारा अल्लाह ने खुद भेजीं ।

वे मूर्ति-पूजक थे और तंत्र, मंत्र तथा तावीज में विश्वास करते थे । अतः मोहम्मद साहब की आदर्श बातें हठात् उनकी अभी समझ में नहीं आईं और फलतः सारा समाज उनका दुश्मन बन बैठा और इसीलिए, मोहम्मद साहब को अपनी जान बचाने के लिए मक्का से भाग जाना पड़ा । मोहम्मद साहब ने अपने धर्म में तीन बातों पर प्रकाश डाला, जिनकी तत्कालीन अरब समाज को बड़ी आवश्यकता थी । पहली बात थी कि ईश्वर एक है, निराकार है, सभी से प्रेम करनेवाला है । दूसरी बात यह थी कि आदमी-आदमी बराबर हैं, उनके बीच कोई भेद-भाव नहीं है । तीसरी बात यह कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने आचरण को सुव्यवस्थित करने के लिए पांच कर्म करने चाहिए कलमा पढ़ना, नमाज पढ़ना, रोजा रखना, जकात करना और हज करना ।

इस्लाम धर्म अपनी सुलभता और व्यावहारिकता के कारण क्रमशः लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करने लगा । जाहिर है कि इस्लाम वैराग्य की कठिन साधना में विश्वास नहीं करता । यह लौकिक सुखों के साथ-साथ धर्म और आचरण की व्यावहारिकता पर प्रकाश डालता है । इस्लाम एक क्रांतिकारी और मानवता की समानता की शिक्षा देने वाले धर्म के रूप में सामने आया । मुहम्मद साहब मात्र धर्म-सुधारक ही नहीं थे । उन्होंने अरब देश के असंगठित समाज, राज्य और राष्ट्र में नव-जीवन एवं नवीन स्फूर्ति का संचार कर, एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक सिद्धांत एवं दर्शन देकर, उसे शक्तिशाली बनाया ।[2] इस्लाम-प्रचारकों को प्रारंभ में बहुत सफलता मिली । अपने धर्मयुद्ध में उन्होंने मध्य एशिया और यूरोप के कुछ भाग एवं मिस्र, ईरान, पैलेस्टाइन, तुर्किस्तान और अफगानिस्तान के आस-पास के हिस्सों को जीता और वहाँ के लोगों को इस्लाम धर्म में सम्मिलित कर मुसलमान बनाया । इस्लाम के प्रारंभिक खलीफा बड़े शक्तिशाली, महत्त्वाकांक्षी और उद्योगी थे । वे अधिकाधिक लोगों को अपने नए धर्म में शामिल करना चाहते थे । धर्म-प्रचार को वे खुदा की पूजा मानते थे । धर्म-प्रचार के लिए वे अरब से विभिन्न देशों की ओर बढ़े । इसी समय भारत के विशाल साम्राज्य ने उन्हें आकर्षित किया जहाँ उनके धर्म-प्रचार के लिए अनगिनत जनसमूह

1. श्री दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 267 ।
2. डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार : भारत का प्राचीन इतिहास, पृ० 641 ।

था। दूसरी ओर धनधान्य से समृद्ध भारतीय धरती और संपदा आकर्षण की वस्तु थी। अत: भारत में इस्लामी शक्ति तलवार और धर्म के साथ आई।

सिंध पर मुहम्मद बिन कासिम की विजय सन् 712 ई० में हुई थी। यहीं से अरब और भारत के राजनीतिक संघर्ष का सूत्रपात होता है। फिर मुहमूद गजनवी की विजय और पंजाब पर उसका अधिकार (सन् 997-1030 ई० में) हुआ। इस समय से लेकर सदियों तक विदेशी शासक देश में शासन करते रहे। उस समय भारतीय राजाओं में आपसी प्रेम-भाव एवं राष्ट्रीय भावना का अभाव था। कोई शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता नहीं थी। चारों ओर अराजकता, अव्यवस्था थी। देश छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था। इन छोटे-छोटे राज्यों में एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या और दुश्मनी की भावना थी। आठवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक विचारों की संकीर्णता भारतवासियों के चरित्र का एक अंग बन गई थी। वे अपनेआप को सृष्टि की सर्वोत्तम जाति और ईश्वर के चुने हुए लोग मानते थे और दूसरे लोगों को अपने सम्पर्क में आने योग्य नहीं समझते थे। अलबरुनी नामक प्रसिद्ध विद्वान महमूद गजनवी के साथ हमारे देश में आया था। उसने यहाँ रहकर संस्कृत भाषा, हिंदू धर्म तथा दर्शन का अध्ययन किया था। वह आश्चर्य के साथ लिखता है कि "हिंदुओं की धारणा यह है कि हमारे जैसा देश, हमारी जैसी जाति, हमारे जैसा राजा, धर्म, ज्ञान और विज्ञान संसार में कहीं नहीं है।" वह यह भी लिखता है कि हिंदुओं के पूर्वज इतने संकीर्ण विचारों के न थे जितने इस युग (11वीं शताब्दी) के लोग हैं। उसे यह देखकर भी बड़ा आश्चर्य हुआ था कि हिंदू लोग यह नहीं चाहते थे कि जो चीज एकबार अपवित्र हो चुकी उसे पुन: शुद्ध करके अपना लिया जाए।[1]

वर्षों तक हमारे देश में कोई बाह्य आक्रमण नहीं हुआ था। अत: यहाँ के रहनेवालों को विश्वास होने लगा था कि कोई विदेशी शक्ति उन्हें पराजित नहीं कर सकती। इसके अतिरिक्त आपसी भेद-भाव, ईर्ष्या, द्वेष के कारण उनमें एकता या संगठित सैन्य-शक्ति प्रदर्शन की भावना नहीं थी। इसीलिए उन्हें पराजित करना बाह्य आक्रामकों के लिए आसान हो गया। इस युग की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक स्थिति पतनोन्मुख थी। इस समय हमारे समाज में जाति-बंधन कठोर हो गया था। समाज में रूढ़िवादिता और पंडितों का बोलवाला था। स्त्रियों के लिए पर्दा एवं वैधव्य के नियम कठोर हो गए थे। विधवा-विवाह उच्च वर्णों में पाप समझा जाने लगा था। अछूतों को नगर से बाहर रहने के लिए बाध्य किया जाता था।[2] धार्मिक क्षेत्र में उदारता नहीं थी। तांत्रिक साहित्य और देवदासी-प्रथा इस युग की विशेषता

---

1. डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : भारत का इतिहास, प्रथम संस्करण 1965, पृ० 5।
2. डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : भारत का इतिहास 1000-1707, पृ० 6।

थी। इससे भ्रष्टाचार फैला और मंदिरों में वेश्यागमन एक साधारण नियम बन गया। आर्थिक दृष्टि से देश संपन्न था, देश की धरती उर्वरा थी और खानों की कमी नहीं थी। लोग सुखी संपन्न थे। मंदिरों में अपार धन संचित था। कुछ लोग बहुत ही धनी थे और उनका जीवन विलासपूर्ण था। जो लोग गरीब थे वे भी अभाव-पीड़ित नहीं थे। देश की आर्थिक स्थिति अच्छी थी।[1] इसी अपार धन-संपत्ति के लालच से महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण किया था। वे शक्ति और इस्लाम धर्म लेकर भारत आए थे। तब भारतीय राज्यशक्ति छिन्नावस्था में थी; राजाओं में एकत्व का अभाव था। एकता के अभाव में ये राजा इस्लाम की शक्ति और धार्मिक उत्साह के समक्ष हार गए। भारतीय तो प्रेम और शांति के पुजारी रहे हैं किंतु अरब से आने वाले ये धर्मप्रचारक, सेना-शक्ति और तलवार के प्रेमी थे। धर्म और तलवार के जोर के साथ मुसलमानों के बार-बार आक्रमण ने भारतीय जन-जीवन में उनके विरुद्ध प्रतिक्रियात्मक घृणा और द्वेष की भावना भर दी। दोनों एक दूसरे के द्वेषी बन गए। स्वर्गीय मानवेन्द्रनाथ राय ने लिखा है कि "संसार की कोई भी सभ्य जाति इस्लाम के इतिहास से उतनी अपरिचित नहीं, जितनी हिंदू जाति है और संसार की कोई भी जाति इस्लाम को उतनी घृणा से नहीं देखती जितनी घृणा से हिंदू देखते हैं।"[2] इसके मूल में मुसलमानों का भयानक अत्याचार और ध्वंसात्मक वर्बर प्रवृत्ति है जिसने सहृदय भारतीय जन-जीवन को पतिद्वन्द्वी बना डाला। इसके पहले आई सभी संस्कृतियों को भारतीयों ने उदारता से, सम्मान से, सहृदयता से, अपने आप में मिलाने की चेष्टा की थी; इस्लाम के प्रति यह घृणा इसलिए नहीं थी कि भारतीय जनता एकेश्वरवाद या समानता की भावना अथवा जाति-पांति-बहिष्कार की भावना को पचा नहीं सकती थी। एकेश्वरवाद वेदों और वेदान्त में भी था। जाति-पांति का बहिष्कार और समानता का प्रचार गौतम बुद्ध पहले ही कर चुके थे और भारत के लिए यह कोई नई बात नहीं थी। लेकिन मुसलमान शासकों की क्रूरता, उनकी जघन्य निर्दयता, उनके अत्याचारों को भारतीय जनता ने जितना भोगा, उतना संसार के किसी अन्य देश ने नहीं जाना। इसलिए प्रतिक्रियात्मक घृणा और द्वेष की भावना भारतीयों के हृदय में जम गई।

मध्ययुगीन भारत हिंदू-मुस्लिम संघर्ष का भारत है। भारतीयों के पास उनका अपना गौरवशाली अतीत था, उसका समृद्ध साहित्य और संस्कृति थी, जिनके आधार पर वे अपने को श्रेष्ठ समझते थे। राजनीतिक दृष्टि से वे भले पराजित हुए, लेकिन अपनी संस्कृति, सभ्यता और साहित्य का गुमान उन्हें झुकने देने को तैयार नहीं था, दूसरी ओर इस्लाम-प्रचारक सैनिक-शक्ति और नए धर्म के जोश के साथ बढ़ रहे थे।

---

1. वही, पृ० 7।
2. श्री दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 261।

जिसके आधार पर वे किसी भी शक्तिशाली राष्ट्र से टकराने की शक्ति और उत्साह रखते थे। हत्या, अत्याचार, मारपीट, सभी को वे धर्म के नाम पर जिहाद के लिए उचित मान रहे थे। भारतीय जन उस समय एक विशेष धर्म और संकुचित विश्वास में इस प्रकार बँध गए थे कि कोई नया क्रांतिकारी धर्म उन्हें स्वीकार नहीं था। भारत में आपसी मतभेद बहुत बढ़ गया था। भारतीय अपनी संपन्नता में अकर्मण्य और शक्तिहीन हो गए थे। एकता और आपसी समझदारी की कमी के कारण भारतीय लोग इस्लामी विजेताओं से बार-बार हारते रहे।

आठवीं शताब्दी के प्रारंभ में भारत में कोई शक्तिशाली सम्राट् नहीं था। हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद कन्नौज में भी कोई शक्तिशाली सम्राट् नहीं हुआ। पश्चिमी भारत में भी कई छोटे-छोटे राज्य थे; उनमें कोई शक्तिशाली राजा नहीं था। सिंध में उस समय दाहिर नाम का राजा राज्य करता था। दाहिर बहुत ही वीर था। अरब के खलीफा के आदेश पर मुहम्मद बिन कासिम ने 712 ई० में एक बड़ी सेना के साथ सिंध पर आक्रमण किया। दाहिर ने बड़ी वीरता से मुकाबला किया लेकिन युद्ध में उसकी मृत्यु हो गई और सिंध अरब आक्रामकों के हाथ चला गया। अरब शासक भारत में राज्य-विस्तार और धन-संपदा के लिए बार-बार आकर्षित हुए। पर, गुर्जर प्रतिहारों की शक्ति से टकरा कर वे वापस चले गए। मध्य एशिया उस समय भारत का ही एक अंग था। खोतान आदि विविध प्रदेशों में भारतीय धर्म, भाषा और सभ्यता का प्रचार था।"[1] अरब आक्रांता बार-बार इस क्षेत्र पर चढ़ाई करते रहे और अंत में 751 ई० में यह भू-भाग अरबों के अधिकार में चला गया और वहाँ के बौद्ध धर्मानुयायी धीरे-धीरे इस्लाम धर्म को मानने लगे। इस्लाम आक्रांताओं की लूट-पाट से भारतीय शक्ति और भारतीय जीवन परेशान हो उठा। भारतीय राजा अरबों और तुर्क राजाओं के विरुद्ध वीरतापूर्वक युद्ध करते रहे और करीब 300 वर्षों तक वे उन्हें भारत में घुसने से रोकते रहे। लेकिन ये मुसलमान महत्त्वाकांक्षी थे और धर्म प्रचार इनका उद्देश्य था। अतः वे बार-बार भारत आते रहे। कहा जाता है—महमूद ने खलीफा से यह प्रतिज्ञा की थी कि वह भारत के काफिरों पर प्रत्येक वर्ष चढ़ाई करता रहेगा। इसके सत्रह आक्रमणों की चर्चा इतिहासकार करते हैं। महमूद भारत से धन-दौलत लूट कर वापस चला जाता था। इसका पहला आक्रमण 1000 ई० में हुआ था। 1001 में पेशावर के निकट जयपाल के साथ इसका युद्ध हुआ। 1009 में महमूद ने थानेश्वर के मंदिर पर आक्रमण किया और अपार धन लूटा तथा "चक्रस्वामी की मूर्ति को गजनी भेज दिया, जहाँ उसे एक सार्वजनिक चौक में फैंक दिया गया।"[2] 1018 ई० में महमूद ने मथुरा पर आक्रमण किया जो उत्तरी भारत का समृद्ध और

1. डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : भारत का इतिहास, पृ० 14।
2. डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : भारत का इतिहास, पृ० 14।

विशाल मंदिरों से सज्जित अपूर्व सुंदर नगर था। आक्रमणकारियों ने मंदिरों को तोड़-फोड़ डाला, अपार स्वर्णाभूषणों को लूटा तथा युग-युग से संचित हिंदुओं के विश्वास और प्रेम को छिन्न-भिन्न कर डाला। सोमनाथ का मंदिर लूटने में उसे अधिक कठिनाई नहीं हुई क्योंकि भारतीय जनता भगवान की मदद के विश्वास में रह गई और राजा आक्रांता के अत्याचार के डर से भाग गया। 50,000 से भी अधिक व्यक्तियों की हत्या की गई। सोमनाथ की मूर्ति को गजनवी ने अपने हाथों तोड़ कर उसके टुकड़ों को गजनी, मक्का और मदीना भिजवा दिया।

खिलजी वंश का अंतिम राजा नासिरुद्दीन खुसरवशाह एक भारतीय मुसलमान था और धर्म के नाम पर वह कट्टरता का पक्षपाती नहीं था। धर्म के नाम पर वह उदार व्यक्ति था। यहाँ तक कि महलों में उसके संबंधी मूर्ति-पूजा कर सकते थे। इस युग में कुछ तुर्क अमीरों ने खुसरव पर आरोप लगाया कि वह आधा हिंदू है, इस्लाम का अपमान करता है और महलों में मूर्ति-पूजा को प्रोत्साहन देता है।[1] उसकी उदार धार्मिक नीति के कारण बड़े-बड़े सूबेदार और अमीर मुसलमान उसके विरोधी हो गए और कुछ ही दिनों तक राज्य (15 अप्रैल 1320 से 5 सितम्बर 1320 ई०) करने के बाद वह युद्ध में मारा गया। ऐसा लगता है कि अगर खुसरवशाह कुछ दिन जीवित रहता और शासन-व्यवस्था उसके हाथ में रहती तो मुसलमान राजाओं में वह एक धर्म-निरपेक्ष उदार राजा होता।

खिलजीवंश के बाद तुगलक वंश (1320-1414 ई०) का राज्य हुआ। तुगलक वंश के कई राजा हिंदुओं की सन्तान थे, लेकिन वे अपने आपको पूर्ण मुसलमान मानते थे। इनका उद्देश्य इस्लाम धर्म का प्रचार, हिंदू धर्म का दमन और मूर्ति-पूजा का नाश करता था। फिरोज़ तुगलक की मां "पूर्वी पंजाब के हिसार जिले में स्थित अबोहर के भट्ठी राजपूत राजा रनमल की पुत्री थी।"[2] लेकिन तुगलक अपनी धार्मिक कट्टरता में अपने पहले के शासकों से अधिक सतर्क और कटिबद्ध था। वह अत्यंत संकीर्णहृदय का धर्मांध और कट्टर था। कठोर शासन के अतिरिक्त वह इस्लाम के नियमों के पालन का पूर्ण पक्षपाती था। मुल्ला और मौलवियों का उसके राज्य में बहुत सम्मान था। धर्म के नाम पर उसके राज्य में हत्याएँ बढ़ गई थीं। पक्षपात, संकीर्णता एवं सांप्रदायिकता तुगलक के राज्य में अपने उच्चतमरूप में थी। हिंदू प्रजा का जीवन दयनीय और कारुणिक हो गया था। डॉ० ईश्वरी प्रसाद लिखते हैं—राजपूतानी रक्त से पालित फिरोजशाह तुगलक (सन् 1351-88) अत्यंत संकीर्णहृदय का कट्टर, धर्मांध था। वह-शासन व्यवस्था में कुरआन के नियमों का पालन करता था, मुल्ला-मौलवियों को महत्त्व देता था और हिंदुओं पर अत्याचार करता था। 'जजिया'

1. वही, पृ० 148।
2. डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : भारत का इतिहास, पृ० 176।

कर भी इसने लगाया था।"[1] सांप्रदायिक भावना को उसने खूब बढ़ाया। इस्लाम को न मानने के कारण वह ब्राह्मणों पर विभिन्न प्रकार के अत्याचार करता था। उसने ब्राह्मणों को जीवित जला दिया, मंदिरों से मूर्तियां उखाड़वा दीं, मंदिर तोड़वा दिये। सर्वप्रथम उसी ने ब्राह्मणों पर पोल टैक्स लगाया। पहले के सुल्तानों ने ब्राह्मणों को जजिया से मुक्त रखा था, लेकिन फिरोज ने उनसे जजिया वसूल कर सांप्रदायिक भावना को बढ़ाया। इसने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि उसने इस्लाम स्वीकार करनेवालों को जजिया से मुक्त किया, उन्हें जागीर, नकद धन, उपाधियाँ, सम्मान और राजकीय नौकरियाँ दीं। उसने मंदिरों एवं मूर्तियों को तोड़ा एवं मस्जिदों का निर्माण किया। इन मुसलमान शासकों ने एक ओर भारतीय धन को लूटा और अपनी सुख-सुविधाओं के लिए सब कुछ किया, दूसरी ओर भारतीयों को इसलिए सताया कि वे इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। इस्लाम मूर्तिपूजक हिंदू को कभी माफ करने के लिए तैयार नहीं था। इन मुसलमान शासकों में धार्मिक सहिष्णुता तनिक नहीं थी। इन्होंने संपूर्ण समाज और सामाजिक जीवन में सांप्रदायिक भावनाओं को बढ़ाया। सांप्रदायिक भावनाएं इतनी बढ़ गईं थीं कि समाज दो वर्गों में बँट गया। धार्मिक असहिष्णुता ने दोनों वर्गों को एक दूसरे से अलग कर दिया। यह युग अत्याचार, हिंसा, बर्बरता और भयानक निर्दयता का युग था। इन विदेशी राजाओं के मन में बहुसंख्यक जनता के लिए कोई दया या सहानुभूति नहीं थी।

इस युग के विभिन्न संप्रदायों में विद्रोह की भावना भीतर-भीतर सुलग रही थी। बहुसंख्यक प्रजा इस युग में असंतुष्ट थी। इस युग के जो उदार शेख और रहस्यवादी कवि थे, उन्हें सल्तनत द्वेष भाव से देखती थी, क्योंकि उनके विचार सांप्रदायिक और कट्टर नहीं थे।

इस युग में इस्लाम न मानने वाले जिम्मी कहलाते थे, जिसका तात्पर्य था कि वे एक गांरटी के आधार पर जीवित थे और गारंटी यह थी कि जजिया देने पर वे एक सीमित रूप में अपने धर्म का अनुसरण कर सकते हैं।[2] विदेशी शासकों ने भारतीय जन-जीवन के प्रति कभी स्नेह और सहिष्णुता, मैत्री और प्रेम का व्यवहार नहीं किया। अगर ये थोड़ी सद्भावना और प्रेम से आगे बढ़ते तो संभवतः भारतीय जन इस्लाम धर्म को अधिक समझने की कोशिश करते और संभवतः उसे उतना खराब नहीं समझते जितना युग की परिस्थिति और विदेशी शासकों की नीति ने उन्हें समझने के लिए मजबूर किया था। हिंदू जनता में प्रतिक्रियात्मक घृणा की भावना इतनी भर गई थी कि इस्लाम के साथ समझौते या समन्वय की बात सोच ही नहीं सकती थी। मुसलमान शासकों ने अपनी धार्मिक कट्टरता, संकुचित विचार और पक्षपातपूर्ण नीति के कारण कभी हिंदू धर्म और

1. मेडिईवल इंडिया, पृ० 290।
2. डॉ० श्रीवास्तव : भारत का इतिहास, पृ० 285।

संस्कृति को समझने की चेष्टा नहीं की उसके, साथ समन्वय या प्रेम की बात वे कभी नहीं सोच पाए। ये शासक धर्मांध और अनुदार थे। राज्य-विस्तार, भोग-विलास और सुंदरियों से हरम भरने और सुवर्ण से खजाना भरने के अतिरिक्त इनका ध्यान और कहीं नहीं गया। भौतिक सुख-सुविधाओं में ये, इतने मग्न थे कि समाज के लिए कोई दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सके। समाज, देश या प्रजा की सुख-शांति अथवा उन्नति का इन्हें कुछ भी ध्यान नहीं था। इस युग में हिंदू जनता असंतुष्ट, क्लांत और हीन भावना से ग्रस्त थी। वह बाहर से डर गई थी, लेकिन उसके अन्दर घृणा विद्वेष की भावना धू-धू जलने लगी थी। मुस्लिम अत्याचारों ने हिंदू जनता में सांप्रदायिकता की भावना को जन्म दिया। धार्मिकविद्वेष भारत में नहीं था; यह बात यहाँ मुस्लिम सांप्रदायिकता के कारण उत्पन्न हुई। भारतीय सभ्यता और संस्कृति में समन्वय की भावना प्रारंभ से ही देखने को मिलती है। कितनी जातियाँ यहाँ अपनी-अपनी धार्मिक भावनाएँ लेकर आईं और यहाँ उनका समन्वय भारतीय चिंतनधारा के साथ कालक्रम में हो गया। इस्लाम धर्म के साथ ऐसा नहीं हुआ। मुसलमानों के अत्याचार से हिंदू जनता इतनी परेशान थी कि उनके धर्म को घृणा की दृष्टि से देखने लगी थी और उन्हें नीच, अस्पृश्य, मलेच्छ आदि समझने लगी थी।

देश की ऐसी दुर्दशा में उस समय ईरान के सूफी संत, जो अपने उच्च विचारों को लेकर भारत आए हिन्दू मुसलमानों को प्रेम का पाठ पढ़ाने लगे और आपसी विद्वेष की भावना, सांप्रदायिकता को कम करने का प्रयास करने लगे। ये सूफी संत इस्लामी तसव्वुफ रहस्यवाद से प्रभावित थे। इनका उद्देश्य सत्य का अन्वेषण था। मानव-मानव में प्रेम, भाईचारे का प्रचार इनका उद्देश्य था। ईश्वर को ये मन्दिर-मस्जिदों में बँधा हुआ नहीं मानते थे। ईश्वर सर्वोपरि है और प्रत्येक आत्मा में वह उपस्थित है। डा० ताराचंद ने सूफीमत के उद्‌गम के पांच आधार माने हैं: (1) कुरान (2) मोहम्मद का जीवन (3) ईसाई मत और अभिनव अफलातूनी मत (4) हिन्दुत्व और बौद्धमत तथा (5) ईरान में प्रचलित जरतुश्त धर्म। किंतु बाह्य प्रभावों में सबसे बड़ा प्रभाव हिंदू धर्म और बौद्ध दर्शन से ही आया है।[1]

सूफी साधक ईश्वर को निराकार और साकार दोनों मानते हैं, वे ईश्वर की कल्पना एक परम सुंदरी प्रेमिका के रूप में करते हैं। सूफी मतानुसार ईश्वर साकार सौंदर्य है और साधक साकार प्रेमी है। सूफियों का उद्देश्य था मानवात्मा से द्वेष-घृणा की भावना निकाल कर उसमें प्रेम की भावना जगाना, सांप्रदायिक घृणा को समाप्त कर हिंदू मुस्लिम दो धर्मों और जातियों में समन्वय स्थापित करना। इस क्षेत्र में उनका कार्य सराहनीय था। प्रचार के अतिरिक्त इस संप्रदाय में अनेकानेक ऐसे साहित्यकार हुए जिन्होंने साहित्य के माध्यम से सांप्रदायिक समन्वय का अपूर्व प्रयास

1. संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 298।

किया और भारतीय जीवन को एक नया रास्ता दिखलाया जिसपर चलकर हिंदू और मुसलमान एक साथ रह सकते थे ओर एक-दूसरे को समझने की चेष्टा कर सकते थे। इन उदार सूफियों और संतों ने समाज की विषमता को, धर्म की कट्टरता को व्यर्थ माना। इन्होंने मुल्लाओं और पंडितों के अत्याचार से पीड़ित जनजीवन को शांति का संदेश दिया। इस युग के दूसरे साहित्यकारों ने सांप्रदायिक एकता, समन्वय, प्रेम और भाईचारे के मंत्र को समाज में फैलाया और निराश, परेशान जीवन को प्रेम का दिव्य ज्योतिर्मय पथ प्रदर्शित किया। इन संतों ने हिंदू धर्म तथा इस्लाम के समन्वय का संदेश दिया। इन से प्रभावित होकर अनेकानेक हिंदू और मुसलमान इस परम्परा में सम्मिलित हुए और ईश्वर की एकता तथा अनन्य भक्ति और प्रेम की शिक्षा समाज को देने लगे। समन्वय का यह प्रयास राजाओं की ओर से नहीं हुआ। राजाओं ने इस संप्रदाय को कोई प्रश्रय या सहायता नहीं दी।' राजा अपने आप में वैसे ही धर्मान्ध और कट्टर बने रहे। समाज ने इस कट्टरता के बीच एक रास्ता अपने आप निकाल लिया था। यह रास्ता संतों और उदार महात्माओं का था जिन्होंने युग और जीवन की विषमता के मध्य एक वस्तु का अभाव देखा था, जिस अभाव से मानवता का विकास अवरुद्ध हो रहा था।

मानव जीवन के विकास के लिए इन महात्माओं ने कई धर्मों के मूल को मानव धर्म के रूप में स्वीकार किया और मानव कल्याण के लिए, युग-विशेष के लिए उसे अपेक्षित माना। तुर्कों के वाद 1526 से 1857 तक मुगलों का शासन देश में स्थापित रहा। जहीरुद्दीन बाबर ने जब भारत पर आक्रमण किया तब उसने भी अपने युद्ध को जिहाद माना और सैनिकों को धर्मयुद्ध के लिए प्रेरित किया और उन्हें जन्नत के सुख और गाजी की महत्ता की याद दिलाई। बाबर एक कट्टर सुन्नी मुसलमान था, लेकिन उसमें धार्मिक कट्टरता उस रूप में नहीं थी जैसी पहले के शासकों में थी। वह दूसरे धर्म की इज्जत करता था लेकिन सांप्रदायिक समन्वय अथवा हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए बाबर ने कोई कदम नहीं उठाया। 1530 ई० में उसने मृत्यु के समय हुमायूँ के नाम एक वसीयत नामा लिखा था कि "वह सभी धर्मावलंवियों के साथ समान व्यवहार करे, उन्हें पूजा की स्वतंत्रता दे और उनके मंदिरों और पूजा के स्थानों की रक्षा करे। उसे गोवध बंद कर देना चाहिए और हिंदुओं के सहयोग और सहायता से भारत में मुगलराज्य को दृढ़ करना चाहिए। उसे मुसलमानों के अंदर भी शिया और सुन्नी का भेदभाव मिटा देना चाहिए, क्योंकि यह इस्लाम के नाम पर एक धब्बा है। अत्याचार की तलवार की अपेक्षा शांति की तलवार इस्लाम के प्रचार का अधिक अच्छा साधन है।"[1] इस प्रकार बाबर एक उदार व्यक्ति था और समय की आवश्यकता को समझता था। भारत में सांप्रदायिक समन्वय की

1. कौलेश्वर राय—मुगलकालीन भारत, पृ० 21।

भावना उसके मन में जगी थी और उसने अपने आने वाले वंशजों को भारत में मित्रता, प्रेम, भाईचारे के साथ रहने की शिक्षा दी थी। देश की परिस्थिति और वातावरण की गम्भीरता को अकबर ने विशेष रूप से समझा और उसने अनुभव किया कि भारतीय वीर परिस्थिति की विषमता के कारण मुगल शासन के अधीन चाहे हो गए हों, लेकिन उनकी संस्कृति और उनके धर्म को वे कभी अपना नहीं सकेंगे। इसके अतिरिक्त, भारतीय प्रजा पर शासन चलाने के लिए राजा को धर्मनिरपेक्ष होना आवश्यक है। इसीलिए उसने धर्म के प्रति उदारता के सिद्धांत को महत्त्व दिया।

अकबर एक उदार और सहृदय व्यक्ति था। सभी धर्मों को समान सम्मान देता था। उसने अपनी रानी जोधाबाई को जो एक राजपूत युवती थी, धर्म की सभी छूट दी थी। कहते हैं, महल में जोधाबाई हिंदू ढंग से पूजा-पाठ करती थी। उसने हिंदू धर्म और उसकी संस्कृति को समझने की चेष्टा की थी। वह सभी धर्मों की धर्मचर्या, विभिन्न विद्वानों और धर्मावलंबियों की मान्यताओं को समझने की चेष्टा करता था। उसने सभी धर्मों की एकता के आधार पर एक धर्म "दीन-इलाही" निकाला था। यह दीन-इलाही मुख्य रूप से सांप्रदायिक समन्वय एवं एकता का महत्त्वपूर्ण प्रयास था जो विदेशी शासकों के द्वारा किया गया था। इसने गैर मुसलमानों पर लगाया गया जजिया कर हटा दिया था। अकबर मानता था कि सभी धर्मों में समझदार होते हैं और स्वतंत्र विचारक भी होते हैं। तीर्थयात्रा, सत्य सभी धर्मों में है। यह समझना भूल है कि सच्चाई सिर्फ इस्लाम धर्म तक सीमित है जबकि इस्लाम धर्म अपेक्षाकृत नवीन है, जिसकी आयु केवल हजार वर्ष की होगी।[1] धार्मिक कट्टरता और रूढ़ियों से ग्रस्त जनजीवन की संकुचित भावना को देखकर अकबर को दुःख होता था। इसीलिए उसने "तौहीदे इलाही अर्थात् दैवी एकेश्वरवाद"[2] को महत्त्व दिया। वह विभिन्न धर्मों और संप्रदायों में समन्वय चाहता था। इस संप्रदाय की विशेषता धार्मिक सहिष्णुता तथा सभी धर्मों की अच्छी बातों का संग्रह था। इसाई, जैन, इस्लाम, पारसी, हिन्दू आदि धर्मों के मूल सत्य को वह युग, समाज और जीवन के लिए आवश्यक मानता था।

धार्मिक सहिष्णुता, उदारता एवं समन्वय की भावना उसके बाद के मुगल राजाओं में नहीं थी। इस युग में भी सांप्रदायिक एकता का प्रयास हुआ। संतों-सूफियों ने सामाजिक धरातल पर एकता का प्रचार किया था। सूफी-संत-दर्शन से प्रभावित कवियों ने साहित्य के माध्यम से एकता का प्रचार कर बहुमूल्य कार्य किया। अगर अकबर की प्रगतिशील क्रांतिकारी नीति पर बाद के मुसलमान बादशाह चले होते तो संभवतः भारतीय सांप्रदायिकता का इतिहास कुछ दूसरा ही होता।

---

1. आईने अकबरी, भाग-1, पृ० 176।
2. डा० श्रीवास्तव—भारत का इतिहास, पृ० 522।

जहांगीर ने धर्म के नाम पर अकबर की ही नीति को प्रश्रय दिया और प्रत्येक धर्म के प्रति सहिष्णुता की नीति को स्वीकार किया। उसने हिंदुओं को अपने त्योहार मनाने की छूट दी थी। हिंदू-पर्वों में वह स्वयं भी सम्मिलित होता था। लेकिन उसने विभिन्न धर्मों की एकता के लिए कोई विशेष कार्य नहीं किया। शाहजहां और जहांगीर हिन्दू मां की संतान थे, लेकिन उनमें धर्म की वह उदारता नहीं थी जो अकबर में थी। "अकबर की उदारता, अकबर की दूरदर्शिता और अकबर का मानवत्व भारतवर्ष के नेताओं और राजाओं में कभी-कभी ही प्रकट हुआ है।"[1] साम्प्रदायिक एकता के लिए अकबर का प्रयास एक महान क्रांतिकारी प्रयास था, लेकिन औरंगजेब ने तो अकबर की उदार नीति को एकदम समाप्त कर दिया और पुन: देश में सांप्रदायिक भावना को जागरित किया। इसने फिर से इस्लाम को दरबार में उसी अवस्था में पहुँचा दिया जैसा अकबर के पूर्व था। इसने जजिया कर फिर लगा दिया। मंदिरों और विद्या-केन्द्रों को तोड़ डालने की इसने आज्ञा दी।" संसार प्रसिद्ध बनारस के विश्वनाथ, मथुरा के केशवदेव, तथा पाटन के सोमनाथ जैसे पवित्र मंदिरों को गिरा दिया गया।"[2] इस प्रकार एकता के प्रयास को औरंगजेब ने समाप्त कर पुन: हिंदू-मुसलमान के मन में द्वेष और घृणा की भावना जगा दी। सम्राट अकबर के प्रपोत्र प्रसिद्ध शहजादा दाराशिकोह ने फिर से धार्मिक एकता और सांप्रदायिक समन्वय का प्रयास किया था। इसने विभिन्न धर्मों को समझने का प्रयास किया और वेदांत के ग्रंथों का फारसी में अनुवाद कराया। विभिन्न मतों के आचार्यों के साथ वह सत्संग करता था और सभी धर्मों की मूल प्रवृत्ति को समझने की चेष्टा करता था। सांप्रदायिक समन्वय के लिए इसका प्रयास भी युग-परिस्थिति और सामाजिक व्यवस्था को देखकर सराहनीय माना जा सकता है। लेकिन शहजादा दाराशिकोह औरंगजेब के द्वारा मारा गया और उसे अपनी धार्मिक उदारता की नीति को समाज में उस रूप में प्रचार करने का अवसर नहीं मिला, जैसा अकबर को मिला था।

अब तक का इतिहास हमें बताता है कि सांप्रदायिक एकता के प्रयास में हमारे यहां तीन महान व्यक्ति हुए कबीर, अकबर, और आधुनिक युग में महात्मा गांधी। इन तीनों ने धर्म को मानव-जीवन के विकास के लिए आवश्यक माना, लेकिन इन्होंने धर्म को संकुचित दायरे में नहीं स्वीकार किया। धर्म को आत्मा की चीज माना; उसे शाश्वत और सनातन माना। यह धर्म मानवता का धर्म है, जिसमें विश्व-कल्याण की भावना का होना अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। इस मानव धर्म

---

1. श्री रामधारी सिंह दिनकर— संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 391।
2. डा० आ० श्रीवास्तव —भारत का इतिहास, पृ० 713।

के सहारे हम विश्व की मानसिक अशांति, धर्म की विषमता और द्वेष को समाप्त कर सकते हैं। भारत में भी हिंदू-मुस्लिम एकता का मार्ग इसी समन्वयात्मक धर्म के आधार पर संभव है, जिसे संतों ने माना, जिसे अकबर ने समझा और जिसे गांधी ने कार्यरूप देने का प्रयास किया। हिंदू-मुस्लिम एकता का होना भारतीय राष्ट्रीयता के लिए बहुत आवश्यक है। आधुनिक युग में सांप्रदायिक एकता और समन्वय के प्रयास को युग के नेताओं और महापुरुषों ने समझा।

अंग्रेजों ने देश की आंतरिक अवस्था, धार्मिक विषमता तथा सांप्रदायिक भावना को देख कर राज्य-व्यवस्था में धर्म को इस रूप में महत्त्व नहीं दिया जिस रूप में मुसलमानों ने दिया था। ईसाई मिशनरी ईसाई धर्मप्रचार की चेष्टा करते थे। लेकिन शासन-व्यवस्था की ओर से ईसाई धर्म प्रचार का कार्य नहीं किया गया। इसलिए सांप्रदायिक भावना इस युग में उस रूप में नहीं फैली जैसी पहले थी। इस समय तक हिंदू-मुस्लिम एक दूसरे के काफी समीप आ गये थे। वे एक दूसरे के साथ मिलजुल कर रहते थे। उनमें भाईचारे, प्रेम और स्नेह का संबंध था। वे एक दूसरे के लिए सहिष्णु और उदार हो गए थे, वे एक साथ रहते थे और एक दूसरे के धर्म का सम्मान करते थे। दोनों के धार्मिक विश्वास, आस्था और मान्यताएं दोनों समझने की चेष्टा करते थे। कितनी हिंदू औरतें मजारों पर मन्नते मानने लगी थी। फकीरों के तावीज़ और धागों को वे सभी उसी प्रेम, विश्वास और श्रद्धा से धारण करने लगी थीं जिस प्रेम और श्रद्धा से वे अपनी देव-मूर्तियों के आशीर्वादों को ग्रहण करती थी। पुरुष तो वैसे भी कुछ उदार प्रकृति के होते हैं लेकिन जब महिलाओं में धार्मिक सहिष्णुता की भावना आ गई तब देश में हिंदू और मुसलमान तथा अन्य विभिन्न संप्रदाय मिल-जुल कर रहने लगे।

आधुनिक युग सांस्कृतिक जागरण का युग है। हमारे देश में भी महान समाज-सुधारक नेता और साहित्यकार हुए। इस युग में राममोहनराय, केशवचद्र, दयानंद स्वामी, एनीबेसेंट, रामकृष्ण, विवेकानंद और रवींद्रनाथ ठाकुर आदि महान् व्यक्ति हुए। जिन्होंने मानवता और विश्व-कल्याण के लिए युग-चेतना को एक नया पथ दिखाया—मानवता का—जिसमें सहानुभूति, प्रेम और विश्वास की प्रधानता होती है। समाज के विविध क्षेत्रों में इन महापुरुषों ने जीवन के सुख, शांति और सामाजिक प्रगति के लिए कार्य किया। महात्मा गांधी ने युग-चेतना की आवश्यकता को पहचाना और उसी विश्वास और प्रेम को लेकर वे राजनीति के क्षेत्र में आए। लेकिन उन्होंने मात्र राजनीति के लिए कार्य नहीं किया, उन्होंने संपूर्ण मानवता के लिए कार्य किया। "इनकी आस्तिकता, विश्वास, कल्याण की भावना, मानव समाज की एकता में पूर्ण विश्वास, विचार स्वातंत्र्य, स्वानुभूति के प्रति आस्था, बाह्य विडंबनाओं के प्रति असंतोष, सार्वभौम विचार, विश्व-प्रेम तथा सबसे बढ़ कर अपने शुद्धाचरण

द्वारा सिद्ध किया आदर्श व व्यवहार का सामंजस्य संतों के ही अनुसार थे।"[1] गाँधी के विचारों पर संतों के विचारों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। विभिन्न धर्म एवं संप्रदायों को महात्मा गांधी ने एकता का संदेश दिया। उन्होंने स्पष्ट किया कि धर्म बाहर की वस्तु है, वह एक मान्यता है, वास्तविक वस्तु है प्रेम। संपूर्ण संसार की प्रगति उसी प्रेम से संभव है। मनुष्य-मनुष्य में प्रेम होना सबसे अधिक आवश्यक है। उनका विश्वास मानव-मानव की एकता में था। वे सभी को सुखी, सम्पन्न और प्रसन्न देखना चाहते थे। गांधीजी कहते हैं——"मैं यह नहीं समझ पाता कि किस प्रकार किसी एक व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास संभव हो सकता है जब उसके पड़ोसी दुखों से पीड़ित हो रहे हैं। मैं अद्वैत में आस्था रखता हूँ" और "मुझे मनुष्य की एकता तथा उसी के अनुसार सारे प्राणियों की भी एकता में विश्वास है।"[2] वर्षों की धार्मिक संकीर्णता में महात्मा गांधी ने धर्म के दिव्य रूप का दर्शन कराया और यह समझाने की चेष्टा की कि विभिन्न धर्म और धार्मिक विश्वास मनुष्यों को आगे बढ़ाने के लिए हैं न कि उन्हें संकुचित भावना में रखकर उनकी प्रगति को अवरुद्ध करने के लिए। वे अच्छे हिंदू, अच्छे मुसलमान, अच्छे ईसाई और अच्छे सिक्ख बनने से अच्छा, अच्छा नर-नारी बनना समझते थे। वे सभी धर्मों के मूल सत्य को स्वीकार करते थे। इसलिए गांधी के युग में सभी भारतीय एक हो गए थे और वर्षों की सोई हुई राष्ट्रीयता की भावना, एकता की भावना जगी थी और सबने मिलकर देश को सदियों की गुलामी से स्वतंत्र करने की कसम खाई थी। सांप्रदायिक एकता और समन्वय की भावना इस युग की विशेषता है, जब हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख आदि विभिन्न जातियों और संप्रदायों के लोग मिलकर विदेशी अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह करते हैं और जान हथेली पर लेकर स्वतंत्रता-संग्राम में कूद पड़ते हैं; देश में राष्ट्रीयता की भावना के साथ-साथ सांप्रदायिक एकता और शांति रहती है। सन् 1857 के समय से ही देश में जन-क्रांति और राष्ट्रीयता की भावना जगने लगी थी और राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित होकर देश में छोटी-बड़ी संस्थाएं बनने लगी थीं। लेकिन राष्ट्रीय स्तर पर कोई ऐसी संस्था नहीं थी जिसके द्वारा सभी राज्यों के लोगों में एकता की भावना को प्रश्रय मिले। सन् 1885 में ह्यूम साहब ने "आल इंडिया नैशनल कांग्रेस" की स्थापना की। उस समय तक देश के हिंदू मुस्लिम दोनों एक हो गए थे। दोनों के आपसी संबंध अच्छे हो गए थे। हिंदू-मुसलमान दोनों अपने को हिंदुस्तानी समझने लगे थे और देश की स्वतंत्रता के लिए प्रयास करने लगे थे। कांग्रेस की स्थापना और राष्ट्रीय स्तर पर कार्य-क्रम से देश की सभी जातियों में एकता की

---

1. श्री परशुराम चतुर्वेदी : उतरी भारत की संत परंपरा, पृ० 684।
2. यंग इंडिया 8 12 24, पृ० 398; उद्धृत — उतरी भारत की संत परंपरा, पृ० 690।

भावना बढ़ने लगी और इस प्रकार इस युग में सांप्रदायिक एकता एवं समन्वय का अभूतपूर्व कार्य हुआ ।

सांप्रदायिक समन्वय के प्रयास की दिशा में 19वीं शताब्दी के महान् सुधारकों में हम राजा राममोहन राय का नाम बड़े आदर से लेते हैं। राजा राम-मोहन राय का जन्म 1776 ई० में और मृत्यु 1833 ई० में हुई थी। राष्ट्रीय पुन-रुत्थान के लिए, सामाजिक सुधार के लिए वे सदा प्रयत्नशील रहे। वे देश में एकता और स्वतंत्रता के सपने देखा करते थे। सांप्रदायिक समन्वय के प्रयास में श्री बदरुद्दीन तैयब का नाम लिया जाता है। यह एक आदर्श कांग्रेस नेता थे। कांग्रेस का तीसरा अधिवेशन 1887 में मद्रास में हुआ था जिसके सभापति तैयबजी थे। इनका देश-प्रेम, हिंदुस्तानियों की उन्नति के प्रयत्न एवं हिन्दू-मुस्लिम एकता के उच्च विचार सराहनीय थे। राष्ट्रीय एकता के महान् समर्थक नवाब सैयद मुहम्मद बहादुरजी थे। इनकी ऊँची देशभक्ति और शुद्ध राष्ट्रीय दृष्टिकोण ने हिंदू मुसलमान, सिक्ख, ईसाई को एक सूत्र में बाँधने की प्रेरणा दी।[1] 1993 के कराँची अधिवेशन में ये सभापति चुने गए थे। सांप्रदायिक भावना को संयुक्त प्रांत के लैफ्टिनेन्ट गवर्नर ऑकलैंड काल्विन ने 1888 में उठाया था। लार्ड कर्जन ने बंगभंग के द्वारा (1903 में) इसे और भी उत्तेजित किया। उसे नवाब सैयद मुहम्मद बहादुर ने समाप्त करने और राष्ट्रीय एकता को अक्षुण्ण रखने की चेष्टा की। देश की अवस्था और परिस्थिति को देखते हुए अंग्रेजों के बहकावे से बचने की बात इन्होंने स्पष्ट शब्दों में कही। 1913 के अधिवेशन में सभापति पद से भाषण देते हुए इन्होंने कहा था "हिंदू और मुसलमान हिन्दुस्तान की दो आँखें हैं और दो में से एक भी न हो तो मां का चेहरा बदसूरत हो जाएगा"।[2] इसके बाद मो० मजहरुल हक ने हिंदू-मुस्लिम एकता की प्रेरणा दी। इन्होंने दोनों जातियों को संकुचित दायरे और संकीर्ण विचारों से निकलकर एक दूसरे के साथ मिलजुलकर कार्य करने की प्रेरणा दी। ये एक महान् राष्ट्रवादी नेता थे। सांप्रदायिकता से इन्हें घृणा थी। कांग्रेस के 25 वें अधिवेशन में (1910 में), जो इलाहाबाद में हुआ था, जिन्ना साहब ने सांप्रदायिक निर्वाचन के विरुद्ध प्रस्ताव पेश किया था।[3] मो० मजहरुलहक एक महान देशभक्त, समाज-सुधारक और एकता के महान् समर्थक थे। इनका जीवन एक आदर्श संत का जीवन था। इनके विचार उदार और जन-उपयोगी थे।

---

1. कांग्रेस का उतिहास, प्रथम भाग, पृ० 92।
2. कांग्रेस का इतिहास, पृ०
3. डॉ० पट्टाभिसीतारामय्या अनु० श्री हरि भाऊ उपाध्याय : कांग्रेस का इतिहास, पृ० 94।

लार्ड मिंटो ने सामाजिक सुधार, शांति और व्यवस्था के नाम पर पुनः संपूर्ण देश में रहनेवाले दो भाइयों के मन में सांप्रदायिक विद्वेष-भावना को जगाया। जातिगत-द्वेष, विषमता और आपसी मतभेद को सुधार के नाम पर आरोपित करनेवाले लार्ड मिंटों ने "डिवाइड एंड रूल" ("बांटो और राज्य करो") की नीति अपनाई, जिसके आधार पर अंग्रेजों को इस देश में रहने के लिए कुछ और वर्ष मिल गए। संकीर्ण, चालाक और स्वार्थी अंग्रेजों ने सुधार और व्यवस्था के नाम पर संपूर्ण देश में दुश्मनी, विद्वेष, हत्या और मार-पीट की जो आग लगाई, उससे हिंदू-मुस्लिम, वर्षों के सम्बन्ध को भूलकर, एक दूसरे के रक्त-पिपासु हो गए। देश में भयंकर दंगे हुए। मित्रता और प्रेम के संबन्ध, जो बहुत प्रयास के बाद बने थे, समाप्त हो गए। प्रारंभ में श्री जिन्ना ने सांप्रदायिक विद्वेष की निंदा की थी और अंग्रेजों के बहकावे से बचने की बात कही थी। अंग्रेजों ने बार-बार मुसलमानों को हिंदुओं के विरुद्ध बहकाया और उनमें सांप्रदायिक भावना भरी।

मैंमनसिंह और कोमिला में सन् 1907 में सांप्रदायिक दंगा हो गया। हिंदू-मुस्लिम दंगा मात्र बंगाल के कुछ जिलों तक ही सीमित नहीं रहा। दोनों ओर से ईर्ष्या-द्वेष की ज्वाला इतनी तेज हो गई कि दो भाई आपस में एक दूसरे के दुश्मन बन गए। 1910 में पेशावर में, 1912 में अयोध्या और फैंजाबाद में, फिर दूसरे वर्ष आगरा में भीषण रक्तपात हुआ। यह द्वेष, यह घृणा, यह मार-पीट यहीं समाप्त नहीं हुई। सन् 1923 में कलकत्ते में सांप्रदायिकता की ज्वाला इतनी तेज हुई कि कई दिनों तक भीषण नर-संहार होता रहा। प्रारंभ में जो मुसलमान नेता और कवि एकता के समर्थक थे वे भी बदल गए। "सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा" का गीत गाने वाले सर मोहम्मद इकबाल और मिस्टर जिन्ना ऐसे ही साहित्यकार और राजनीतिज्ञ थे। सांप्रदायिक समन्वय, एकता और प्रेम के बदले इन लोगों ने सांप्रदायिक द्वेष और घृणा को इतना फैलाया कि महात्मा गांधी जैसे समन्वयप्रेमी व्यक्ति को भी देश का बटंवारा स्वीकार करना पड़ गया। पाकिस्तान बनने पर भी सभी मुसलमान इस देश से चले नहीं गए। कुछ मुसलमानों ने इसी देश को अपना माना और वे आज भी यहीं रहते हैं।

सांप्रदायिक समन्वय के कार्य में महात्मा गांधी का कार्य अभूतपूर्व एवं विलक्षण है। उन्होंने राष्ट्रीय एकता, सांप्रदायिक समन्वय एवं प्रेम को मानव कल्याण के लिए आवश्यक माना। वे "हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, आपस में हैं भाई-भाई" की बात करते हैं। वे मानवता की मंगल-कामना के लिए, समाज की प्रगति और विकास के लिए प्रयत्नशील रहे। देश के दो टुकड़े होने पर उन्हें मर्मांतक पीड़ा हुई थी। सात सौ वर्षों तक साथ रह कर भी हिंदू मुस्लिम एक धरती और एक झंडे के नीचे रहने को तैयार नहीं हुए। यह उनके लिए बड़े दुःख की बात थी कि इतने वर्षों तक साथ रहकर भी हिंदू-मुस्लिम-संस्कृति मिलकर एक नहीं हो सकी। पाकिस्तान बन

जाने पर भी हमारे देश की सांप्रदायिक समस्या समाप्त नहीं हुई है। हमारे देश में आज भी कई धर्मों को माननेवाले, कई जातियों और संप्रदायों के लोग रहते हैं। आज तो सरकार की नीति धर्म-निरपेक्षता की तथा अल्पसंख्यकों को विशेष सुविधाएं देने की है, किंतु आज भी सांप्रदायिक समस्याएं देश में बीच-बीच में उभरती रहती हैं। सांप्रदायिक समन्वय के लिए आज भी हमें प्रेम, शांति और अपनत्व के मंत्र को जन-जन में फैलाना है। आधुनिक युग में साहित्य के माध्यम से प्रेमचंद ने सांप्रदायिक समन्वय का निरंतर प्रयास किया। भाईचारे का, अपनत्व का, स्नेह और प्रेम का भव्य चित्र प्रेमचंद ने प्रस्तुत किया। उन्होंने जाति, धर्म, संप्रदाय से ऊपर मानव को माना। वे मानव-कल्याण के आकांक्षी थे और देश की उन्नति के लिए, मानवता की प्रगति के लिए, सांप्रदायिक समन्वय पर आस्था और विश्वास रखते थे।

द्वितीय अध्याय

सांप्रदायिक एकता में मध्ययुगीन सूफियों एवं संतों का योगदान

आठवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी का भारत राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक संघर्ष का भारत था। भारत छोटे छोटे राज्यों में बंटा था। इन राज्यों में परस्पर युद्ध होता रहता था। उस समय बाहरी शक्ति, भारत की आंतरिक स्थिति को देखकर, बार-बार चढ़ाइयां करती थी।

भारत में बहुत सारी बाह्य जातियां समय-समय पर आई थीं और भारतीय संस्कृति में मिल-जुलकर एक हो गई थीं। भारतीय संस्कृति ने उनकी विशेषताओं को अपने में मिला लिया था। इस्लाम के पूर्व कोई ऐसी संस्कृति नहीं आई थी जिसे भारतीय संस्कृति आत्मसात् नहीं कर सकी थी। अरब वाले बहुत पहले से भारत में व्यापार के लिए आते-जाते थे। इसके अतिरिक्त इस्लाम धर्म-प्रचारक भारत आते थे और अपने धर्म के प्रचार का प्रयास करते थे। लेकिन अरब वाले जब भारत के स्वर्ण को लूटने लगे तब भारतीय जीवन में संघर्ष होने लगा। फिर, धीरे-धीरे, अरब वाले यहीं रहने की बात सोचने लगे और उन्होंने राज्य-स्थापना का प्रयास भी किया। फिर मुगलों का सम्राज्य भारत में स्थापित हुआ। मुगलों की प्रबल वीरता, आतंक और ध्वंसात्मक कार्यों के समक्ष भारतीय जन-जीवन पराजित होने लगा। मंदिर, मठ और विहार जला दिए गए। मुसलमानों की अपूर्व शक्ति और इस्लाम के प्रचार के कारण संपूर्ण भारतीय जन-मन में निराशा छा गई। उनके धर्म और शक्ति की भयंकरता ने हिंदुओं के मन में मुसलमानों के प्रति घृणा, विद्वेष और प्रतिशोध की भावना को जन्म दिया। अतः मध्य-युगीन भारत दो शक्तियों, दो धर्मों के साथ-साथ दो संस्कृतियों के संघर्ष का भारत था। दोनों धर्मों की मान्यताएं विपरीत थीं। एक सदियों से मूर्तिपूजक था, मूर्ति की उपासना में गंभीर विश्वास एवं आस्था रखता था, दूसरा मूर्तिभंजक था। एक गौमाता की उपासना करता था, उसे मां की श्रद्धा और सम्मान देता था; दूसरा उसकी हत्या और मांस भक्षण करता था। इस्लामी धर्मोन्माद के चलते भयानक तोड़-फोड़ ने भारतीय हृदय को वितृष्णा, विरोध और घृणा से भर दिया।

मुसलमान विजेता भारत में मात्र तलवार ही नहीं, अपने नए धर्म को भी लेकर आए थे। उन्होंने एक ओर जहां भारतीय वीरों को युद्ध के मैदान में पराजित किया, वहीं अपने धर्म-प्रचार के द्वारा भारत में एक नई संस्कृति को जन्म भी दिया।

यह नई संस्कृति सूफी फकीरों की थी, जो हिंदू-मुस्लिम संप्रदायों में एकता चाहती थी ये नए चिंतक और साधक मनुष्यता की भावना जगाने की प्रेरणा देने लगे। इन्होंने प्रेम की पीर के साथ हिंदू समुदाय को अपनी अकथ प्रेम कहानी से प्रभावित किया। भारतीय जन-जीवन में फैली हत्या, मारपीट तथा द्वेष-घृणा को ये प्रेम से जीत लेने की कहानी सुनाने लगे। ये सूफी अरब के धर्म-साधक थे। इनका उद्देश्य प्रेम की उस मधुरता का परिचय कराना था, जिसके आधार पर मानव-मानव एक दूसरे से द्वेष छोड़ कर मिल सके। इस प्रकार इस सूफी धर्म ने अपने प्रेम-अहिंसापूर्ण प्रभाव से इस्लाम की संस्कृति को जितनी दूर पहुँचा दिया उतनी मुसलमान शासकों की तलवार भी नहीं पहुँचा सकी। "यह प्रेम की विजय थी, जिसमें आत्मीयता और विश्वास की अपरिमित शक्ति थी"।[1] ये सूफी साधक उदार चिंतक और धर्म-प्रचारक थे, इसीलिये हिंदू धर्म के प्रति इनके भाव उदार थे। हिंदू धार्मिक विश्वासों के प्रति, हिंदू दर्शन के प्रति इनकी आस्था, उदारता और सौजन्य ने हिंदू जन-मन को इनकी ओर अत्यधिक आकर्षित किया। सूफी मत ज्ञान और भक्ति का एक ऐसा मध्यम मार्ग था, जिसमें निर्गुणोपासना की प्रधानता होते हुए भी सगुणोपासना का माधुर्य सन्निहित था। इन उदार सूफी चिंतकों का प्रवेश भारत में मुस्लिम शासन-स्थापना के बहुत पहले हो चुका था। सूफी धर्म की स्थापना ईरान में हुई थी। इस संप्रदाय के साधक विभिन्न देशों में घूम-घूमकर अपने रागात्मक प्रेम-धर्म का जन-जन में प्रचार कर अपने संप्रदायों-उपसंप्रदायों की स्थापना करते थे। वैसे सूफी साधक और कवि ईश्वर के एकत्व के प्रति अटूट विश्वास रखते थे; वे इस्लाम के रहस्यवादी दर्शन को मानते थे। उनके दर्शन को तसव्वुक कहा गया है। वे विरक्त त्यागी, परमात्मा के प्रेम में बेसुध रहने वाले साधक थे। सूफी साधकों का जीवन सादा था। वे उच्च विचारक, गम्भीर चिंतक और दार्शनिक थे। उनका जीवन प्रेम और महान त्याग का था। इसी प्रेम साधना के आधार पर परब्रह्म परमात्मा के साथ वे तादात्म्य चाहते थे। उनका जीवन-दर्शन आदर्शों से परिपूर्ण था। ये मानवता के अनन्य पुजारी थे; मानव धर्म, प्रेम, स्नेह एवं सद्भावना को महत्वपूर्ण मानते थे। वे मानव-मानव में प्रेम, भ्रातृत्व की भावना को प्रोत्साहित करना एवं राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक विषमताओं को समाप्त करना चाहते थे। वे मनुष्यों को अध्यात्म की प्रेरणा देते थे।

परमात्मा सूफी साधकों के लिए परम सौंदर्य, परम प्रियतम है। आत्मा उस प्रियतम को पाने के लिए व्याकुल रहती है। प्रेम के द्वारा प्रिय और प्रेमी का मिलन एवं एकाकार हो जाना ही उनका लक्ष्य है। ये सूफी साधक और कवि ईश्वर के अनन्य भक्त एवं प्रेमी तो थे ही, युग और समाज के सतर्क और जागरूक दर्शक भी थे।

---

1. डॉ० रामकुमार वर्मा : हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 433।

सूफियों के दिव्य प्रेम का कुछ सनातनपंथी मुसलमान विरोध करते हैं तथा साधक एवं ईश्वर में प्रेमी-प्रेमिका के सम्बन्ध को मान्यता नहीं देते। लेकिन सूफी साधक इन आलोचकों की परवाह नहीं करते; उनके लिए ईश्वर प्रेममय ही है। इस प्रकार इन साधकों ने जन-जन में प्रेम का प्रचार किया। अपने काव्यों के द्वारा सूफी साधकों ने प्रेम की महत्ता को प्रतिपादित किया। वे बार-बार मानव-प्रेम का संदेश देते थे। उनके लिए मानव-जीवन का साध्य यही प्रेम है। इन सूफी कवियों ने प्रेम काव्य की रचना की। जब भारत में मुसलमानों का शासन स्थापित हो गया तब हिंदू और मुसलमान दोनों एक दूसरे को समझने की चेष्टा करने लगे और दोनों स्नेह और प्रेम से रहने की इच्छा करने लगे। कुछ उच्चविचारक मुसलमान संत शासकों की कठोर नीति को सामान्य जन-जीवन के लिए अनुदार ओर व्यर्थ समझते थे, क्योंकि धर्म के कारण किसी को मार डालना वे इंसानियत की सबसे वीभत्स घटना मानते थे। इस समय कुछ शासक और कुछ उदार, कोमलहृदय मुसलमान भक्त भारतीय जीवन, समाज और संस्कृति को समझने की चेष्टा करने लगे और अपने प्रेमकाव्य के माध्यम से जन-जीवन में प्रेम, शांति, स्नेह ओर अपनत्व की भावना जगाने लगे। इन सूफी संतों ने जो अपनी व्यक्तिगत उदारता जौर सात्विकता के आधार पर भारतीय प्रेमकथा को अपने दर्शन के लिए उपयोगी माना, उससे हिंदू जनता मात्र आर्कषित ही नहीं हुई वरन् उस धर्म को समझने की कोशिश भी करने लगी। भारतीय घरों की कहानी को आधार बनाकर इन सूफी कवियों ने हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इन कवियों ने प्रेम के आदर्श को सर्वोपरि माना। इन्होंने ईश्वर और संपूर्ण संसार को प्रेम के अधीन स्वीकार किया। मानवता के विकास के लिए, जन-जीवन की शान्ति के लिए, प्रेम सबसे आवश्यक वस्तु है। इन सूफी कवियों ने हिंदू संस्कृति को, उसके रहन-सहन, आचार-विचार धर्म आदि के आधार को स्पष्ट कर आदर्शों को मान्यता दी। इन्होंने संत कवियों की तरह उपदेश नहीं दिया, लेकिन अपने प्रेम काव्य के द्वारा समष्टिगत प्रेम की अभिव्यंजना की और मानव-जीवन के लिए उसे अपेक्षित एवं अनिवार्य माना।

इन सूफी कवियों पर भारतीय वेदांत का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। सैयद सुलेमान नदवी लिखते हैं, इसमें तो कोई संदेह नहीं कि मुसलमान सूफियों पर भारत में आने के बाद हिंदू वेदांतियों का प्रभाव पड़ा।[1] अतः सूफी कवियों ने काव्य-परम्परा, छंद, शैली, भाषा आदि में भारतीय परंपरा को ही नहीं अपनाया वरन् धार्मिक विश्वास और भारतीय दर्शन को भी युग-विशेष के लिए उपयोगी माना। बुद्ध ने धर्म के लिए सभी को एक समान माना था। उन्होंने जाति-पाँति, ऊंच-नीच को व्यर्थ माना। सूफियों का जाति के प्रति उदार भाव बौद्ध दर्शन से प्रभावित था।

1. अरब और भारत के संबंध, पृ० 203।

सूफी कवियों ने लोक-मंगल की भावना से आलोच्ययुगीन मानवजीवन को प्रेम के मार्ग को स्वीकार करने की शिक्षा दी; हिंदू मुसलमान दोनों को एक नया पथ दिखाया जिसमें ईश्वर तक पहुँचने के लिए अंतर्मन का प्रेम चाहिए—हत्या, जबरदस्ती, कठोरता नहीं ।

सूफी-प्रेम-काव्यधारा में प्रथम काव्य मुल्ला दाउद का "चंदावन" या "चंदावत" माना जाता है । इसके अतिरिक्त उस युग में अनेकानेक प्रेम-काव्य लिखे गए और इन प्रेम-काव्यों के लेखक मुख्यतः मुसलमान कवि थे । कुतबन की एवं मंझन की "मृगावती", "मधुमालती" तथा जायसी का "पद्‌मावत" "अखरावट" और "आखरी कलाम" प्रसिद्ध रचनाएँ हैं और उपलब्ध हैं । जायसी ने पद्‌मावत में और भी कई प्रेम-काव्यों का उल्लेख किया है जो जायसी के पूर्व लिखे गए थे । इन सभी काव्यों में चौपाई और दोहा को छंद के रूप में स्वीकार किया गया है । सभी ने हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए अथक प्रयास किया । दोनों की संस्कृति को इन कवियों ने जनसाधारण के समक्ष इस प्रकार मिलाकर उपस्थित किया, जिससे संपूर्ण मध्ययुगीन समाज प्रभावित हुआ । सूफी कवियों ने मानवता की महत्ता को स्वीकार किया है । उनके अनुसार मानव संपूर्ण सृष्टि का श्रेष्ठतम प्राणी है और इसमें ईश्वर-रूप की अभिव्यक्ति है । मनुष्य के भीतर पाप और पुण्य दोनों गुण होते हैं; पाप को मारना ही मानव का कर्तव्य है । मानव में अगर अच्छे गुण आ जाएँ तभी वह ईश्वर को पा सकेगा । इन सद्‌गुणों का आधार मानवता का प्रेम है । इन सूफी कवियों ने संपूर्ण मानव समाज को आध्यात्मिक शक्ति विकसित करने की शिक्षा दी और स्पष्ट किया ईश्वर को प्रेम के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है । उसके लिए जाति, धर्म, वर्ग, संप्रदाय आदि का कोई बंधन नहीं है । जीवन की उपलब्धि प्रेम के उस दिव्य आलोक की प्राप्ति है और उसी में आत्मसात् हो जाना है । इन संत सूफी कवियों ने एकेश्वरवाद को मानवता के विकास के लिए अनिवार्य माना । उन्होंने ईश्वर को एक स्वीकार किया तथा उसे प्रेममय माना; अतः उन्होंने मानवतावाद, लोकमंगल और लोककल्याण के लिए समाज को प्रेम की महत्ता बतलाई और संपूर्ण मानव-समाज को प्रेम की उपलब्धि की चेतना दी, जिसके द्वारा कोई भी व्यक्ति ईश्वर तक पहुँच सकता है, एवं मानवीय शुद्धाचरण को जिसमें दया, क्षमा, त्याग, सहनशीलता, सहायता, सहानुभूति आदि अनंत गुण हैं-साधना के लिए और उस पथ पर चलनेवाले के लिए अपेक्षित माना तथा सांसारिक घृणा और द्वेष से बाहर निकलने का संदेश दिया ।

सूफी प्रेमकाव्यों में हिंदू-मुस्लिम संस्कृति का मिलन देखने को मिलता है । इन मुसलमान कवियों ने हिंदू जीवन, धर्म और दर्शन को अपने काव्य में इस प्रकार मिश्रित किया कि जिससे संपूर्ण समाज प्रभावित होकर प्रेम एवं एकता के बंधन में

वंध जाए। उन्होंने विश्वप्रेम एवं "वसुधैव कुटुम्वकम्" की भावना का प्रचार किया। उन्होंने मनुष्य को धर्म, जाति, संप्रदाय से परे मनुष्य के रूप में स्वीकार कर जीवन में प्रेम की महत्ता को स्थापित किया।

मध्यकालीन भारतीय जीवन में सूफियों के साथ एक और संप्रदाय था जो जीवन की विषमताओं से, संघर्षों से, सामाजिक अन्तर्द्वन्द्वों से परेशान जन-जीवन को एक नई दिशा दे रहा था। उन्हें संत नाम से अभिहित किया गया। संत लोग सांसारिक उत्तरदायित्व का परिपालन करते हुए ईश्वरपूजा, भक्ति, उपदेश और परोपकार में विश्वास करते थे। जीवन की भौतिकता के प्रति न तो उनमें कभी पलायन की भावना थी, न सांसारिकता के प्रति कोई विशेष आस्था। उनका जीवन कर्मवादी था। साधारण जन-भाषा में इन संतों ने युग-जीवन को एक नया मत, एक नई संस्कृति दी। उनके साहित्य में भौतिकतावाद के प्रति विकर्षण, मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा आदि का विरोध प्रदर्शित होता है लेकिन उन्होंने ब्रह्म के सगुण रूप को एकदम विस्मृत नहीं किया, क्योंकि वे स्वीकार करते थे कि ब्रह्म ही माया के रूप में सगुण रूप भी धारण करता है। साहित्यिक दृष्टि से उत्कृष्ट न होते हुए भी, धार्मिक दृष्टि से संतों का साहित्य अत्यंत उदार एवं समन्वयवादी था। संतों ने विशुद्ध ज्ञानमार्ग का प्रतिपादन करते हुए कहीं-कहीं नारदी भक्ति की भी प्रशंसा की है। साथ ही, सगुण भक्तों की रीति-नीति का विरोध करते हुए भी, ये संत कहीं-कहीं उसके प्रशंसक भी वन जाते हैं। इनका किसी विशेष संप्रदाय से कोई विद्वेष नहीं है। ये प्रत्येक संप्रदाय अथवा धर्म की साधन में वाह्याडंवर, मिथ्याचार, अवतारवाद, तीर्थ, व्रत, मूर्तिपूजा, पाखंड आदि के कटु आलोचक थे। संतों का यह विरोधी स्वर किसी प्रकार के पूर्वाग्रह के कारण नहीं, वरन् सात्त्विक होता है; वे सत्य का साक्षात्कार चाहते हैं। अतः संत-साहित्य में एक ओर परंपराओं की अवहेलना है तो दूसरी ओर उन समस्त क्रियाओं का प्रतिपादन भी, जिनके द्वारा मानव अपनी आचार-व्यवस्था का सम्यक् रूप से प्रतिपादन करता हुआ अवम से परम की ओर प्रस्थान करता रहा है। संतों ने अपने साहित्य में साखी, शब्द, पद आदि के माध्यम से आत्मचिंतन से प्रादूर्भूत विचारों, सत्यों एवं तथ्यों का प्रतिपादन किया है। उनके साहित्य की एक और विशेषता यह है कि अपनी आत्मा की आवाज अथवा अपनी सत्यानुभूति को ही साहित्य में स्वर देते हैं। इसलिए संत साहित्य में मानवता के स्वरूप की पूर्ण व्याख्या पाई जाती है।

संत साहित्य का प्रभाव उन जातियों पर अधिक पड़ा है जो दबी, त्याज्य, दलित एवं पिछड़ी रही हैं और जिन्हें अंत्यज की संज्ञा प्रदान की गई है। इसलिए संत साहित्य में समाज की रूढ़ियों के प्रति विद्रोह का स्वर अधिक प्रबल है। संत साहित्य अपने युग का प्रतिनिधित्व करता हुआ उसे प्रगति का संदेश देता है। संतों की स्वतंत्र

और निर्भीक अभिव्यक्तियां सुनने में अटपटी एवं कर्णकटु होते हुए भी संपूर्ण समाज के लिए बहुत ही हितकारी हैं।

संतों के तत्त्व-चिंतन, रहस्यानुभूति एवं प्रसूतज्ञान का प्रभावक्षेत्र बड़ा ही व्यापक था। साधना की पूर्ण विकसित अवस्था में अथवा ज्ञान एवं अनुभूति की गहनता में उन्होंने जिन तथ्यों का प्रकटीकरण किया वे सामान्य धरातल से कहीं अधिक ऊँचे हैं, जिन्हें साधारण मानव समझने में असमर्थ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संतों का साहित्य समाज को ज्ञानदान देने और जनहित के लिए रचा गया था और वह समाज में फैली विषमताओं को दूर करने में समर्थ है। संतों के समय की तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियां डाँवाडोल थीं। समाज आपस में कई वर्गों, समुदायों में बंटा था। चारों ओर राजनीतिक अस्थिरता व्याप्त थी। भारत की सदियों की स्वतंत्र आत्मा मुसलमानी आक्रमण और पराधीनता के बंधन के कारण व्याकुल हो उठी थी। मुस्लिम आक्रमण के बाद भारत ने पहली बार ऐसी पराधीनता देखी जिसमें मुस्लिम शासक भारतीय जनता को मुस्लिम धर्म कबूल करने को मजबूर कर रहे थे। इस प्रकार "मध्यकाल भारतीय इतिहास का वह युग था जिसमें दो संस्कृतियों का संघर्ष बहुत दिनों तक चलता रहा। हिंदुओं के प्रदेश में मुसलमानों के बलात् आक्रमण एवं अत्याचार भारतीय जनता के विरोधी तत्त्व बन गए।"[1]

भारत में इस्लाम का प्रारंभिक इतिहास अर्ध संघर्ष, धर्मपरिवर्तन, अभद्रता और अन्याय का इतिहास है। इस युग में अनेकानेक मंदिरों को तोड़कर मस्जिदें और सरायें बनाई गईं। धार्मिक अन्याय और पक्षपात इस युग के लिए साधारण बात थी। अतः संतों के युग का भारत (लगभग 11वीं शताब्दी से 17वीं शताब्दी तक का भारत) राजनीतिक संघर्ष, विप्लव, युद्ध और आपसी वैमनस्य का भारत था। राजा और प्रजा में आपसी एकता नहीं थी। प्रजा के मन में विप्लव एवं विद्रोह के भाव थे। प्रजा-शोषित थी। राजा अपने स्वार्थ-साधन और सुरा-सुंदरियों में तन्मय था। मुस्लिम शासकों की दृष्टि अपने राज्य-विस्तार एवं शस्त्र-वृद्धि पर लगी थी। इस प्रवृत्ति के पनपने का परिणाम यह हुआ कि शासकवर्ग धनी होता गया और शासितवर्ग गरीब। बार-बार पराजय के कारण हिंदुओं का मनोबल भी गिरता गया। दूसरी बात यह थी कि हिंदू आपस में भी जातीयता के घोर बंधन में जकड़े हुए थे। जातीयता का असमान स्तर होने के कारण हिंदू समाज में भी केवल मुट्ठी-भर राजपूत ही कृपाण धारण करते थे एवं देश हितार्थ लड़ते थे। परिणामतः राज्य की सुरक्षा तथा युद्धस्थल में लड़ने का भार मुट्ठी-भर लोगों के हाथों में होने के कारण देश गुलाम हो गया। फलतः भारतीय जनता में राष्ट्रीय एवं भावनात्मक एकता का विकास न हो सका।

1. डॉ॰ प्रह्लाद मौर्य : कबीर का सामाजिक दर्शन, पृ॰ 44

ऐसी स्थिति में संतों का प्रादुर्भाव मानव के मनोबल को ऊँचा उठाने तथा मानवीय एकता का पाठ पढ़ाने के लिए हुआ।

उस काल का राजनीतिक जीवन नितांत अव्यवस्थित, सांप्रदायिक और विद्वेष-पूर्ण था। राज्य-व्यवस्था में धर्म को सर्वोपरि महत्त्व दिया जाता था। मुसलमानों को छोड़कर अन्य जातियों के प्रति बादशाह के विचार अनुदार थे। संतों के समय का तत्कालीन समाज न केवल राजनीतिक दृष्टि से बल्कि आर्थिक दृष्टि से भी विषमताओं और संघर्षों का समाज था। वैसे तो, आर्थिक असमानता अथवा इससे उत्पन्न संघर्ष समाज में सदैव ही रहा, परंतु मध्यकाल में यह संघर्ष और गतिशील हो गया। हिंदू और मुसलमान दोनों अपनी-अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने की चेष्टा में थे। शक्ति एवं अर्थ की इस लड़ाई में हिंदुओं को पराजित होना पड़ा, जिसके कारण हिंदुओं का आर्थिक जीवन संकटपूर्ण हो गया। "मुसलमानों के आक्रमण से भारत की अर्थ-व्यवस्था बेतरतीब हो गई थी। देश में अब न तो हिंदुओं का राज्य ही रहा और न इनकी अर्थव्यवस्था ही रही। पराजित शासक लोग अब शक्तिहीन हो गए थे जिससे वे प्रजा का-सा जीवन व्यतीत करने लगे थे। समस्त शासकवर्ग की खुराक शासितवर्ग से पूरी हो रही थी, जिससे शासकवर्ग धनी होता जा रहा था और शासितवर्ग गरीब।"[1] आर्थिक असमानता के इस काल में समाज के धनी एवं गरीब वर्गों के बीच संघर्ष होना स्वाभाविक था। अर्थ-व्यवस्था की इस दुरवस्था का कारण राजनीतिक तो था ही, साथ ही धार्मिक भी था। सारे धार्मिक कर्मकांड, त्योहार, हज आदि के पीछे ब्राह्मणों एवं मौलवियों का हाथ था; यज्ञों एवं कर्मकाडों के कारण समाज की सम्पत्ति घटती जा रही थी और समाज खोखला होता जा रहा था। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मुस्लिम आक्रमण एवं राजनीतिक संघर्षों तथा धार्मिक अंधविश्वासों एवं पाखंडों, हजों, तीर्थों आदि के कारण समाज की अर्थ-व्यवस्था जर्जर हो गई थी। राजाओं की भोग-लिप्सा, कंचन एवं कामिनी पर पैसा बहाना, मदिरालय में धन खर्च करना आदि सामान्य बातें हो गई थीं। साधारण जनता त्राहि-त्राहि करने लगी थी। इस आर्थिक विषमता की परिस्थिति में आपसी संघर्ष, अन्याय, अत्याचार, चोरी, व्यभिचार स्वाभाविक था। इस्लाम धर्म का विरोध यद्यपि प्रायः सभी हिंदुओं ने किया, परंतु इस्लाम धर्म अपनी तलवार के बल पर आगे बढ़ता गया।

इस्लाम के पूर्व भारतीय शासन-व्यवस्था में धर्मनिरपेक्षता को महत्त्व दिया जाता था। राजकीय धर्म को विशेष सम्मान दिया जाता था, लेकिन दूसरी जातियों पर राजकीय धर्म लादने की प्रवृत्ति नहीं थी। परंतु इस्लाम ने अपने धर्म की प्रतिष्ठा के लिए तलवार का सहारा लिया। ऐसी स्थिति में दो धर्मों के बीच आपसी मतभेद होना स्वाभाविक था। ऐसी ही विपरीत परिस्थितियों में संतों व चिंतकों ने आपसी ईर्ष्या व

---

1. कबीर का सामाजिक दर्शन, पृ० 53

द्वेष के बीच प्रेम का पाठ पढ़ाना शुरू किया एवं सामाजिक सर्वोदय का आदर्श समाज को प्रदान किया। संतों ने सभी धर्मों की बुराइयों का खुलकर विरोध किया और इस विरोध के लिए उन्हें संघर्ष भी करना पड़ा। "भारत की अपनी परंपरा असांप्रदायिक राज्य की परंपरा थी। जैन, बौद्ध और वैदिक धर्मावलंबियों के बीच खटपट यहाँ भी चलती थी। लेकिन इस देश के राजा राज्य की ओर से किसी भी धर्म का दमन नहीं करते थे। न यहां यही रिवाज़ था कि राज्यधर्म से भिन्न धर्मों के मानने वाले लोगों को द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी का नागरिक माना जाए। किंतु मुस्लिम काल में भारत की यह धर्मनिरपेक्ष नीति समाप्त हो गई। सुलतान, बादशाह और नवाब खुलकर मुसलमानों का साथ देने लगे और हिंदुओं के साथ वही बर्ताव किया जाने लगा था जो गुलामों के साथ किया जाता है।[1]

ऐसे समय में संतों का प्रादुर्भाव और उनकी अमर वाणियों ने हिंदू जनता और कुछ मुस्लिम जनता को भी अपनी ओर आकृष्ट किया। परिणामतः हिंदुओं का आक्रोश आग की लपट न बन सका बल्कि प्रेम की अमृत धारा बन गया। हिन्दू जनता ने आपस का सभी वैर-भाव भूलकर धीरे-धीरे मुसलमानों को अपना पड़ोसी मान लिया। ऐसे समय में संतों एवं सूफियों के चिंतन और स्वानुभूत सत्य युक्तियों ने समन्वयवादी विचारधारा की अग्नि में घी का काम किया।

सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म के बीच फैले मतभेद को दूर कर दोनों को एक ही सत्ता बतलाना संतों के ज्ञान का क्रांतिकारी फल है। निर्गुण विचारधारा का उदय सामाजिक रूढ़ियों, अंधविश्वासों तथा धार्मिक संप्रदायों की प्रतिक्रिया के कारण ही हुआ था। तत्कालीन समाज की इन कुरीतियों से लड़नेवाले एवं नई विचारधारा देने-वाले संतों में ये प्रमुख थे : कबीर, धर्मदास, नानक, रैदास, दादू, रज्जब, सुंदरदास, गरीबदास, जगजीवन साहब, बुल्ला साहब, गुलाल साहिब, दरिया साहब, पलटू साहब, भीखा साहब, मलूकदास, दयाबाई और सहजोबाई आदि। इन संतों ने अपने समय के प्रचलित समस्त दार्शनिक सिद्धांतों को आत्मसात् कर लिया और ज्ञान एवं अनुभव से निस्सृत धर्म को समन्वयवाद के साँचे में ढालकर एक अभिनव रूप दिया। असत्य का खंडन और सत्य का मंडन उनकी प्रधान प्रवृत्ति थी। सामाजिक रूढ़ियों, अंधानुकरण, जातिगत भेदभाव, संप्रदायगत कट्टरता एवं धर्मांधता जैसे विघटनकारी तत्वों के प्रति जो विद्रोह इन संतों ने किया, उससे समाज, जिस विनाश की ओर तीव्र गति से जा रहा था, रुक गया। संतों ने विविध धर्मों के परमतत्त्व को एक मान कर विभिन्न धर्मों में समन्वय का प्रयास किया और एक ब्रह्म या ईश्वर की प्रतिष्ठा की। उन्होंने विविध देवताओं को एक ही 'सत्'-रूप में स्वीकार कर जो एकेश्वरवाद की स्थापना की, युगीन समाज में एक महान क्रांतिकारी कार्य किया। यद्यपि हिंदुओं ने वेदांत का

1. श्री दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 318

डा. डिल्ली रमण रेग्मी
कल्याणी रेग्मी स्मारक
पुस्तकालय

अध्ययन किया था, और वे अद्वैतवाद से भली-भांति परिचित थे, तथापि हिंदू लोग बहुदेववाद में बुरी तरह फंसे हुए थे। ऐसी परिस्थिति में, हिंदू और मुसमलान दोनों वर्गों से कुछ तत्त्वदर्शी, निर्गुणवादी संत निकल आए, जिन्होंने एकेश्वरवाद पर विशेष बल दिया तथा सांप्रदायिक एकता व धार्मिक, सामाजिक समन्वय का प्रयास किया। जीवन की गतिशीलता और समाज की प्रगति को अक्षुण्ण करने के लिए, संत नामदेव ने बहुदेववाद का विरोध कर एकेश्वरवाद की महत्ता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया।

संत नामदेव एकेश्वरवाद के पूर्ण समर्थक थे। सब में समभाव से रमण करने-वाले राम में उनकी अटूट आस्था थी। वे उसी परब्रह्म राम के उपासक थे और देवी-देवताओं की भक्ति और पूजा को व्यर्थ मानते थे--

भनत नामदेव जीवनि रामा। आन देव फोकट वेकामा।[1]
आन न जानों देव न देवा। जित जित प्राण तित ही तेरी सेवा।

कबीरदास भी एक ही ब्रह्म, एक ही ईश्वर में विश्वास करते हैं और कहते हैं—

हम तो एक एक करि जांनां।
दोइ कहैं तिनहीं को दो जग, जिन नाहिन पहिचाना।[2]

कबीर का ब्रह्म घट-घट वासी है और सर्वव्यापी है। कबीरदास के पहले इस्लाम धर्म ने भी एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा की थी, लेकिन अपने ईश्वर को उसने मस्जिद में बंदी बना दिया था। कबीर का एकेश्वरवाद सर्वव्यापी, घट-घट-वासी और सर्वसुलभ है। वह ईश्वर एक है। उसी ने संपूर्ण विश्व की सृष्टि की है। वह दृश्य जगत् का स्रष्टा है। उसे हम अलग-अलग नाम से, अलग-अलग भाषा में संबोधित करते हैं; लेकिन, वास्तव में, वह अनेक नहीं, एक है और हिंदू-मुसलमान, सभी का निर्माता है।

"जाके मुख माथा नहीं, नाहीं रूप अरूप;
पुहुप वास से पातरा, ऐसा तत्त्व अनूप।"[3]

1. संत नामदेव की हिंदी पदावली पद 30
2. कबीर ग्रंथावली, पृ० 105
3. कबीर ग्रंथावली, पृ० 130।

कहकर उन्होंने जिस सत्य की ओर हमें आकर्षित किया, उसमें सांप्रदायिकता की द्वेष-भावना के लिए स्थान नहीं था। उन्होंने सांप्रदायिकता की भावना को समाप्त करने का प्रयास किया और समाज को मनुष्यमात्र के प्रेम का संदेश दिया।

एकेश्वरवाद की स्थापना से भारतीय हिंदू-मुस्लिम-समाज आकर्षित हुआ। दोनों एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा करने लगे। हिंदू वेद के एकेश्वरवादी सिद्धांत में विश्वास करते थे। इस्लाम के एकेश्वरवाद और निर्गुण पंथ के एकेश्वरवाद की स्थापना में मूलतः अंतर नहीं होने पर भी एक विशेष अंतर यह है कि कुरान के अल्लाह की भावना में एक असीम अनंत शहंशाह की कल्पना की गई है, जिससे डर की भावना का उदय होता है, किंतु वेद के उस अनंत परमेश्वर में यह डर की भावना नहीं है। वस्तुतः अल्लाह की अनंत शक्ति उसके ऐश्वर्य को बढ़ानेवाली है। वह दयालु और प्रेमी है। वह मनुष्य को सत्पथ की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है। मध्ययुगीन निर्गुणवादी संतों ने इस्लाम के इस अल्लाह को और भारतीय परंपरागत एकेश्वर की भावना को मिलाकर एक ऐसे ईश्वर की स्थापना की, जो आकारहीन, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान एवं दयालु था। वही एक परम सत्य है। उसी विविध नाम-रूप की कल्पना कर हम बहुदेववाद में फ़ंस जाते हैं। संतों ने हिंदू और मुसलमान दोनों का ध्यान उस शाश्वत चिरंतन सत्य की ओर आकर्षित किया, जो संपूर्ण विश्व का स्रष्टा है। संत नानकदेव ने उसे निर्भ्रम निर्वैर, अजन्मा, स्वयंभू, परमसमर्थ, सत्यस्वरूप, कल्पनातीत और अनंत कहा है। संत दादू दयाल ने भी बताया कि सर्वव्यापी प्रभु ही राम, कृष्ण, गणेश, रहीम आदि विभिन्न नामों से संबोधित है; वह अनुपम और अनूप है; वही सब का निर्माता है। फिर, हम नाम-भेद से ईश्वर को दो क्यों समझते हैं, और अगर दो नहीं समझते हैं तो फिर हम में धर्म के नाम पर वैमनस्य क्यों, घृणा क्यों, दुराव क्यों है? दादूदयाल हमें एकता और प्रेम का मंत्र देना चाहते हैं जो बहुत ही सरल है।

संत सुंदरदास ने भी उस परब्रह्म ईश्वर को अद्वैत माना है। वह निर्गुण होते हुए सगुण है और सगुण होते हुए भी निर्गुण है। वही राम है, वही अल्लाह है। अतः हिंदू और मुस्लिम, दोनों धर्म, जाति एवं संप्रदाय की विषमता को त्याग कर उसी परम ईश्वर की उपासना करें।

संतों का धर्म मानव धर्म था। वे मानव धर्म के प्रचार के लिए विभिन्न तर्कों के आधार पर जीवन के सत्य और धर्म के मूल विषय की समीक्षा सहज भाषा में इस प्रकार कर रहे थे, जिससे समाज का साधारण व्यक्ति प्रभावित होता था। वे हिंदुओं और मुसलमानों के बीच पड़ी गहरी खाई को दूर करना चाहते थे, जिसके कारण समाज विषाक्त हो रहा था। ये संत कवि धर्म के सत्य को समाज के सामने रखकर सामाजिक एकता के लिए अटूट प्रयास कर रहे थे।

वे यही सिद्ध करना चाहते थे कि जो लोग मंदिर-मस्जिद में बद्ध ईश्वर को जानते हैं, वे यह न समझें कि वह मात्र मंदिर-मस्जिद में रहने वाला है। जो हिंदू-

मुसलमान यह कहते हैं, वे गलत कहते हैं, क्योंकि जहाँ मंदिर मस्जिद नहीं है, वहाँ कौन है ?

इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी संतों ने एक ईश्वर की कल्पना की और आत्मा-परमात्मा को समुद्र और जल तथा जल और जल की बूंद की तरह अभिन्न माना है। ये संत सच्चे रूप में विभिन्न धर्मों तथा सांप्रदायिक मतों के विरोधी थे। वे यह बतला रहे थे कि विभिन्नता मे अभिन्नत्व की बात सदियों से महापुरुषों ने बतलाई है; हम उसी सत्य पर चलें, वही सत्य जनोपयोगी और प्रगति के लिए अनिवार्य है। संतों ने बताया—ईश्वर असाधारण है और अजन्मा है। वेद, पुराण और कुरान में वर्णित सत्य भी यही बतलाता है। लेकिन पंडितों ने उसे मनुष्य बना दिया। वस्तुतः जिस राम की अखंडता की बात की जाती है वह राम दशरथपुत्र नहीं है, वह परम ईश्वर है, सर्वेश्वर है, उसके मर्म को समझना सहज नहीं है। पंडितों ने उस परम ईश्वर को मूर्तियों में बाँध रखा है और इन अज्ञानी पंडितों की बातों में आकर समाज पत्थर को परमेश्वर मानने लगा है। ये पंडित ढोंगी और स्वार्थी हैं, अपनी पूजा करवाते हैं। पत्थर का भगवान न तो प्रसाद खा सकता है, न पंचामृत। वे सभी पदार्थ पंडितों के खाद्य बनते हैं। संत लोग ऐसी पूजा से जनता की पूजा को उच्चतर मानते हैं, जिससे गरीबों की सेवा होगी, जिससे जन-कल्याण होगा, जिससे समाज में रहनेवाले अधिक सुखी हो सकेंगे। वास्तविक पूजा तो आत्मा से उत्पन्न पूजा है, अन्तःकरण की शुद्धता है, ईमानदारी है, जनसेवा है। तीर्थ करना, सिर मुड़ाना, छापा रामनामा कपड़ा पहनना, तिलक लगाना, माला फेरना—यह पूजा नहीं, बाह्य आडंबर है। यह संसार को धोखा देने वाला है। इससे समाज में भ्रष्टाचार फैलता है और समाज भ्रमित होता है। बाह्य आडंबर की चकाचौंध में समाज तत्त्व की बातें भूल गया है।

इस तरह मध्ययुगीन संतों ने मानवता के विकास के लिए धर्म को बहुदेववाद अवतारवाद से बाहर निकालने का प्रयास किया और युग-जीवन को वास्तविकता से परिचित कराया। इसके अतिरिक्त संतों ने वर्ग-संप्रदाय और जाति-पांति के भेद-भाव को भी व्यर्थ माना। उस समय सारा समाज अज्ञान के कारण एक-दूसरे का दुश्मन बन बैठा था—

"कह हिंदू मोहि राम पियारा। तुरुक कहे रहिमाना।
आपस में दोउ लरि लरि मूये। मरम न काहू जाना।"[1]

संकुचित विचार, संकुचित धर्म और स्वार्थपूर्ण आदर्शों के कारण मानवता का मूल मंत्र-प्रेम-उस युग में कहीं दिखाई नहीं पड़ रहा था। अतः संपूर्ण मानव-समाज

1. कबीर वचनावली, द्वितीय खंड 182।

अशांत था। संतों ने ऐसे ही समाज को "ढाई अक्षर प्रेम का" पाठ पढ़ाया था। संत जिस युग में एक ईश्वर की बातें बतला रहे थे, एक जाति और एक धर्म की बातें कर रहे थे, उस समय समाज में मुख्यत: राम-कृष्ण-भक्ति का प्रभाव था, जांति-पांति की मुख्यता थी। ऊँची जाति के लोग ही ईश्वराराधना कर सकते थे। निम्न जातियों का ईश्वर-पूजन, मंदिर-प्रवेश आदि निषिद्ध था। वर्णव्यवस्था के अनुसार, ब्राह्मण-क्षत्रिय पवित्र माने जाते थे, शूद्र या दास अपवित्र समझे जाते थे; उन्हें ईश्वरपूजा की वह छूट नहीं दी जाती थी, जो उच्चतर जातियों को थी।"[1] छोटे-बड़े का भेद-भाव बहुत था। हिंदू धर्म के पंडित और इस्लाम के काजी और मुल्ला धर्म की गूढ़ता को नहीं समझते थे। साथ ही, अपने स्वार्थ के लिए, वे जनता को भ्रम में रखना चाहते थे। ऐसे लोगों ने समाज में झूठे विश्वास और झूठी आस्थाएँ भर दी थीं। जन-साधारण ऐसे अंध-विश्वास से ऊपर नहीं उठ पा रहा था। संतों ने जन-साधारण को ऐसी झूठी मान्यताएँ छोड़ने का संदेश दिया। संतों ने धर्मांध शासकों और काजी मुल्लाओं को भी फटकारा और स्पष्ट शब्दों में कहा कि तुम जिसे धर्म समझ रहे हो, वह धर्म कुरान का भी नहीं है। कुरान ने कब जीवहत्या की बात बताई ? कुरान ने कब द्वेष-ईर्ष्या और तलवार को धर्म का आधार माना ? उसने भी तो प्रेम के आधार पर मानवता के कल्याण के लिए धर्म के प्रचार की घोषणा की है। "कुरआन में इस्लामी सामाजिक व्यवस्था और सदाचार संबंधी शिक्षा का मूल स्रोत निहित है। उसमें भ्रातृत्व-भावना, प्रेम, त्याग, उचित-अनुचित कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य तथा सामाजिक व्यवस्था संबंधी व्यापक निर्देश उपलब्ध होते हैं।"[2] धर्म में हत्या, निर्ममता और कठोरता के लिए कभी स्थान नहीं हो सकता।

नामदेव ने भी जाति और धर्म की संकुचित मान्यताओं से ऊपर उठने की बात कही; बताया कि ईश्वर मन्दिर-मस्जिद से बँधा हुआ नहीं है। उन्होंने समाज को सांप्रदायिक धार्मिक आडम्बरों से अलग होने का उपदेश किया। संत नामदेव ने एक पते की बात और भी बतलाई। उन्होंने कहा—नाम, रंग, रूप, जाति, धर्म, सब बाहरी चीजें हैं। यह कहना गलत है कि कोई ब्राह्मण है और कोई शूद्र। हम सभी मनुष्य हैं और हमारे भीतर एक ही तरह का रक्त है। जैसे गायों का रंग भिन्न है पर सभी का दूध एक ही रंग का है। अतः बाह्य भेद-भाव व्यर्थ की बातें हैं। सबसे बड़ी बात है मानवता, समानता।

कबीरदास ने भी यही कहा कि सामाजिक वर्ण-भेद, रूढ़िवाद, विषमता, धार्मिक मतभेद इसलिए हैं कि समाज एक महान अंधविश्वास में जी रहा है और वह

---

1. डॉ० रांगेय राघव : भारतीय संत परंपरा और समाज
2. श्रीमती डॉ० जमीला अली जाफरी : हिंदी कविता इस्लामी संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में पृ० 76।

अंधविश्वास है वर्ण-भेद का। ब्राह्मण-क्षत्रिय यह समझते हैं कि वे सभी वर्णों से ऊपर हैं। नीच जातियों को वे हेय दृष्टि से देखते हैं। कबीरदास ने ऐसे सांप्रदायिक विचारों को दूर करने की चेष्टा की।

संतों ने सांप्रदायिकता और वर्ण-वैषम्य में विश्वास रखने वाले लोगों को स्पष्ट कहा कि ईश्वर को हम चाहे जिस नाम से अभिहित करें, वह एक है और कण-कण में है। उसने किसी भी धर्म में कभी नहीं कहा कि मनुष्य-मनुष्य में विभेद किया जाए, मनुष्य को धर्म और जाति से पहचाना जाए। कबीर हिंदू, मुसलमान, ब्राह्मण, शूद्र की बात करना व्यर्थ समझते थे। वे संपूर्ण समाज को एक नया संदेश, नवीन ज्योति, नया पथ प्रदर्शित करना चाहते थे।

कबीर ने जहाँ एक ओर पंडितों को प्रेम का मंत्र पढ़ाया वहीं काजी और मुल्लाओं को भी ज्ञान की ज्योति दी और कहा कि तुम जिसे खुदा कहते हो, वही तो एक है, वही तो वेदों और कुरानों में वर्णित है, वही तो सत्य है। धर्म के नाम पर सांप्रदायिकता फैलाना उचित नहीं। संतों ने प्रेम को जीवन का मूल मंत्र माना। संपूर्ण समाज की प्रगति के लिए प्रेम से बढ़ कर कोई चीज नहीं। अगर मनुष्य-मनुष्य में प्रेम हो तो जीवन के बाह्य संघर्ष, धर्म की विडंबना, मुल्ला-मौलवियों, ब्राह्मण पंडितों के बहकावे, सभी व्यर्थ हो जाएँगे। वेद ने या कुरान ने घृणा, हत्या का पाठ कब पढ़ाया ? उसने कब कहा कि मनुष्यता और धर्म के नाम पर अन्याय किया जाए, धर्म के नाम पर उसे मार डाला जाए या उसे नीच समझा जाए ? इस्लाम भी शांति और प्रेम का धर्म है। उसका भी मूल आशय शांति का प्रचार करना है। जो लोग धर्म और जाति के आधार पर मानव का विभाजन करते हैं वे भ्रम में हैं, क्योंकि संपूर्ण विश्वात्मा और परमात्मा प्रेम के बंधन में आबद्ध है। जीवन के विकास के लिए, उस दिव्य आलोक की प्राप्ति के लिए, ज्ञान की आवश्यकता है; लेकिन ज्ञान, संप्रदाय, धर्म और विश्वासों में बँधा नहीं होना चाहिए, ज्ञान प्रेम पर आधारित होना चाहिए।

संतों ने विभिन्न धर्मों और संप्रदायों में विश्वास रखने वाले कट्टर धर्मप्रचारकों को सत्य के ज्योतिर्मय रूप का दर्शन कराया, एकतावाद और समन्वय के मंत्र को जन-मन में स्थापित करने की चेष्टा की। इन संतों ने सांप्रदायिकता के जंजाल में जकड़े शासक और जनता को एक नया लोकमंगलकारी पथ प्रदर्शित किया। जीवन के प्रति उच्च विचार और मानवता के प्रति प्रेम की भावना को उद्घोषित करने वाले संतों ने अपनी आत्मानुभूति को हमारे समक्ष रखा। अपनी स्वानुभूति की पुष्टि के लिए वे किसी आदर्श या प्रमाण को आवश्यक नहीं मानते थे, इसीलिए किसी भी धर्मग्रंथ को उन्होंने अपनी वाणी का आधार नहीं माना। उन्होंने मुख्य रूप से यह बतलाया कि सभी धर्म और संप्रदाय अपने मूल रूप में एक ही सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं। इन

विभिन्न सिद्धांतों और मतों में एकता और समन्वय लाना बहुत ही आवश्यक है। जो सांप्रदायिकता का प्रचार और अत्याचार किया जाता है उससे मानवता का मूल तत्त्व नीचे दब जाता है, मनुष्य-मनुष्य का ही दुश्मन बन जाता है; अपने-अपने धर्म और धर्माडंबरों को विशिष्ट मान कर लोग आपस में लड़ाई-झगड़ा करते हैं; जीवन की वास्तविकता को, जीवन के मूलभूत सत्य को, वे भूल जाते हैं। संतों ने ऐसे ही भूले-भटके हुए जन-समाज को धर्म के आडंबरों से ऊपर उठने की बात बतलाई। वे जाति-पांति के मूलतः विरोधी थे और सांप्रदायिकता के खंडन में सदैव तत्पर रहते थे। सामाजिक एकता और समन्वय उनका उद्देश्य था। वे सत्कर्म को समाज और मानव-जीवन के लिए उपयोगी मानते थे। उनका विचार था कि जब मनुष्य एकत्व के मूल मंत्र को पहचान लेगा तब पारस्परिक भेद-भाव और मानसिक कलुषता से पूर्ण द्वेष अपने-आप समाप्त हो जाएगा और एक मंगलमय समाज की स्थापना होगी। जो संपूर्ण विश्व का समाज होगा और जिसमें विश्वबन्धुत्व की भावना होगी।

संतों ने अपने त्याग, आचरण और कर्मयोग के आदर्श से सांप्रदायिक एकता के लिए जो प्रयास किया, वह केवल मध्ययुगीन जीवन ही नहीं वरन् युग-युग के जीवन के लिए आदर्श है। बाद के कितने ही महापुरुष ऐसे आदर्श समन्वयवादी सिद्धांतों और प्रयासों से प्रभावित हुए जिनमें लोकमंगल और विश्वकल्याण की भावना थी। मोहन दास करमचंद गांधी, जो बाद में महात्मा गांधी और बापू के नाम से ख्यात हुए, संतमत को ही विश्वकल्याण के लिए आदर्श मानते थे। महात्मा गांधी ने इसी आदर्श को विश्व-जीवन के लिए अपेक्षित माना और इसी आदर्श को लेकर राजनीति में उतरे। उन्होंने अपनी सेवा, त्याग, प्रेम आदि आदर्शों के बल पर विश्व मानव को जो आदर्श दिया, वह संतों का आदेश था। जीवन की पूर्णता और सर्वांगीण विकास के लिए जिस सत्य को गांधी जी ने राजनीतिक संघर्ष का आधार बनाया, उसी सत्य को प्रेमचंद ने लोकमंगल और जनकल्याण की भावना से प्रेरित होकर साहित्य में स्थापित किया।

संतों का साम्यवाद भारतीय साम्यवाद था। संतों के युग में समाज-सामाजिक-आर्थिक विषमता की पराकाष्ठा पर था। वे समाज में व्याप्त धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक समस्याओं को सुलझाना चाहते थे। धर्म, जाति आदि के नाम पर समाज के विभाजन को वे मानव-प्रगति का बाधक मानते थे। भौतिक सुख की व्यर्थता पर व्यंग्य कर उन्होंने धार्मिकों को गरीबों के लिए धन त्यागने की शिक्षा दी। संतों का आदर्श विश्व-मानव-कल्याण का आदर्श है। इसीलिए, बाद के महान् पुरुषों ने मानव-कल्याण और लोकमंगल के लिए संतों के दर्शन को साहित्य और समाज के लिए उपयोगी माना। महात्मा गांधी ही नहीं, रवींद्रनाथ, श्रीबालगंगाधर तिलक, स्वामी दयानंद सरस्वती आदि महान व्यक्तियों ने संतों के आदर्शों की पुनः स्थापना की। प्रेमचंद ने

भी अपने कथा-साहित्य में जीवन की प्रगति और विकास के लिए इसी मूलभूत सत्य को स्वीकार किया। आज भी विश्व में यही एक ऐसा आदर्श है जो मानवता को नया मार्गदर्शन दे सकता है। संसार के वैमनस्य और अशांति को हम संतों के आदर्शों से ही दूर कर सकते हैं। संतों का आदर्श, युग की सीमा से परे, एक महान् संदेश है, जो युग-युग तक मानवता का पथ प्रशस्त करता रहेगा। प्रेमचंद ने संतों के इसी आदर्श को, उनके उदार दर्शन को, साहित्य में लक्ष्य किया है एवं अपने साहित्य में मानवीय एकता एवं समानता का समर्थन किया है।

तृतीय अध्याय

१९ वीं शताब्दी का भारतीय नवजागरण और सांप्रदायिक एकता

19 वीं शताब्दी का भारतीय नवजागरण कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। सदियों से भारतीय जनमानस में स्वशासन के प्रति स्वाभाविक व्याकुलता थी। जनजीवन मुस्लिम अत्याचार से पीड़ित और निराश था और अपने अंतर में रामराज्य की भावना प्रतिष्ठापित किए हुए था। जनता राजकीय गतिविधि से अलग हो गई थी और "कोउ नृप होउ हमहि का हानी"[1] कहकर अपने पराजित मन को समझा ले रही थी।

नवजागरण की ऐतिहासिक एवं रानीतिक पृष्ठभूमि

भारतीय जनमन में यह उदासीनता, यह नैराश्य, यह विद्रोहात्मक प्रतिक्रिया साधारण रूप में नहीं आई थी। इस्लाम की कठोरता और उसके क्रूर अत्याचार ने भारतीय जन-जीवन को प्रतिक्रियात्मक विद्रोह, नैराश्य और वैमनस्य की भावना से भर दिया था। "भारत में मुसलमानों का अत्याचार इतना भयानक रहा कि सारे संसार के इतिहास में उसका जोड़ नहीं मिलता।"[2] मुस्लिम अत्याचार से विकल होकर जनमानस की आकांक्षा एकबार शिवाजी की शक्ति और स्वतंत्रता की भावना में पुंजीभूत हुई थी। फिर अंग्रेजों के अत्याचार ने जन-अनुभूति की विद्रोहात्मक प्रतिक्रिया को झांसी की रानी के माध्यम से अभिव्यक्त किया था। स्वशासन की भावना, जो एक शाश्वत, सनातन और स्वाभाविक भावना है, भारतीय मन में बहुत दिनों से थी, लेकिन देश में एकता का पूर्ण अभाव था, देश छोटे-छोटे राज्यों में बंटा था। देश की जनता छोटी-छोटी जातियों और संप्रदायों में विभक्त हो गई थी। संकुचित विचारों में इस प्रकार बंध गई थी कि उससे निकल नहीं पा रही थी। 19 वीं शताब्दी का नवजागरण या राष्ट्रीय जनक्रांति मात्र कुछ व्यक्ति-विशेष या आंदोलनकारियों की भावना नहीं थी, वरन् संपूर्ण भारतीय मानस

---

1. रामचरित मानस, आयों, दो० 16, चौ० 3।
2. श्री दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय पृ० 322।

की भावना थी, जो सदियों से बंद पिंजड़े से बाहर जाने के लिए आतुर थी, जो रामराज्य का सपना देख रही थी। 19वीं शताब्दी में इस भावना को जागरित होने के कई आधार मिल गए और तब यह भावना सामाजिक सुधार एवं जनक्रांति में परिवर्तित होने लगी। 19 वीं शताब्दी का भारत कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस युग के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक परिवेश एवं संघर्ष ने भारत को एक नया दृष्टिकोण, एक नई चिंताधारा एवं नवजागरण की प्रेरणा दी। 18वीं शताब्दी के प्रारंभ में ही, सन् 1707 ई० में, शक्तिशाली मुगल-सम्राट् औरंगजेब की मृत्यु हो गई और उसके साथ-साथ भारत का राजनीतिक परिवेश परिवर्तित होने लगा। औरंगजेब की दोषपूर्ण नीति के फलस्वरूप उसकी मृत्यु के साथ ही भारत का विशाल मुगल-साम्राज्य कई राज्यों में बंट गया और शक्तिशाली केंद्रीय सत्ता के अभाव में इन्हें संगठित रखना संभव नहीं हो रहा था। इन छोटे-छोटे राज्यों में आपसी सद्भाव, प्रेम और मित्रता नहीं थी। वे एक दूसरे से द्वेष और घृणा रखते थे और दूसरे की पराजय पर प्रसन्न होते थे। संपूर्ण देश में एकता का अभाव था। इसलिए यूरोपीय जातियों में इस देश पर अधिकार करने की लालसा बढ़ने लगी। उन्हें यहां अपनी राज्य-सत्ता स्थापित करने में कठिनाई नहीं हुई।

यूरोप की कई जातियां 15वीं शताब्दी से ही भारत को अधिकृत करने की आकांक्षा रखती थी। लेकिन शक्तिशाली मुग़ल साम्राज्य के ससक्ष उनकी आकांक्षा फलीभूत नहीं हो सकी। अंग्रेज भी 16 वीं शताब्दी के आसपास भारत आए थे।

पुर्तगाली तो 15 वीं शताब्दी में ही भारत आ गए थे और अपने धर्म के प्रचार में लग गए थे। लेकिन, मुगलों के राज्यकाल में, अकबर को छोड़ किसी ने भी इस धर्म को मान्यता नहीं दी। इसलिए उस समय उनके ईसाई धर्म का यथेष्ट प्रचार नहीं हो सका। भारत और पुर्तगाल के बीच व्यापार तभी से चलने लगा।

मुगल काल में पुर्तगाल और भारत का व्यापारिक समझौता हुआ था। पुर्तगालियों का जिस-जिस बंदरगाह पर क्रमशः अधिकार होता गया, वहां उन्होंने भीषण अत्याचार किया। वे इस्लाम और हिंदू दोनो धर्मों को घृणा की दृष्टि से देखते थे और लोगों को बलपूर्वक अपने धर्म में दीक्षित करने की कोशिश करते थे। वे अत्याचारी, अन्यायी और निर्मम थे। उनके राज्य में रहनेवालों के लिए ईसाई होना या गुलाम बन कर जानवर की तरह जीवन जीने के अतिरिक्त ओर कोई रास्ता नहीं था। भारतीय महिलाओं पर उनके अत्याचार से, और उनके मनमाने नियम से, उस क्षेत्र की जनता परेशान हो उठी थी।

मुगल-सम्राट शाहजहाँ ने बंगाल में रहनेवाले पुर्तगालियों को कत्ल कर और जेल की कड़ी सजा देकर उनके अत्याचरों को समाप्त किया। फिर जब डच जाति

भारत आई तब उन्होंने अपना व्यापार फैलाने के लिए पुर्तगालियों को भारत के कई बंदरगाहों से बाहर निकाल दिया और अपना आधिपत्य स्थापित किया। तब ये पुर्तगाली मात्र गोआ, दमन और दिउ में रहते थे। डच बहुत दिनों तक यहां नहीं रहे। डचों के बाद फ्रांसीसी भारत आए और आते ही इन्होंने डचों को पराजित किया। फ्रांसीसी और अंग्रेजों का एक दूसरे से कुछ वर्षों तक संघर्ष चलता रहा। फ्रांसीसी भी भारत में अपनी दाल गलते न देखकर वापस चले गए और अंग्रेज अपनी शक्ति, दूरदर्शिता, चालाकी और व्यापारिक छल-बुद्धि से भारत पर अपना राज्य स्थापित करने में सफल हो गए।

अंग्रेजों ने औरंगजेब की मृत्यु के बाद विभिन्न राजाओं को आपस में लड़ाकर, एक-दूसरे के प्रति विद्वेष, घृणा आदि जगाकर, अपने लिए राज्य-स्थापना का रास्ता सरल बना लिया। अंग्रेजों का अपना हित भारतीय जन-जीवन को अव्यवस्थित एवं असहिष्णु बनाए रखने में था। उस समय देश में स्वाभिमान, आत्मविश्वास, साहस और राष्ट्रीय एकता की भावना का पूर्ण अभाव था। अपने ही देश का कोई-न-कोई व्यक्ति या व्यक्ति समूह अंग्रेजों की मदद करता था एवं वही अंग्रेजों का मार्ग प्रशस्त करता था। देशवासियों में हीनता की भावना इतनी अधिक थीं कि वे अंग्रेजों के बहकावे में और उनकी मृगतृष्णा में फंस जाते थे। शिक्षा की कमी, अव्यवस्थित राज्य-व्यवस्था और आपसी द्वेष के कारण देशवासियों का नैतिक स्तर निम्नतर हो गया था। इसलिए विद्वानों ने इस युग को 'अंधकार-युग' कहा है। प्राचीन गौरव का इतिहास समाप्त हो गया था। मुसलमान राजाओं ने जन-साधारण के मानसिक विकास तथा शिक्षा के लिए कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया था। देश की अवस्था संकीर्ण विचारों को प्रश्रय देने के कारण शोचनीय हो गई थी। समाज रूढ़ियों, अंधविश्वासों में सिमट गया था। उस युग का भारत असंगठित एवं द्वेष-भावनाओं से पूर्ण था। राष्ट्रीय एकता और प्रेम की कमी के कारण भारत में क्रमशः ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन स्थापित हो गया। प्रारंभ में ईस्ट इंडिया कंपनी एक व्यापारिक संस्था थी जिसकी स्थापना 1600 ई० में हुई थी। 1690 ई० में अंग्रेजों ने फोर्ट विलियम किले का निर्माण कलकत्ता में किया और उसी समय अंग्रेज व्यापारी राज्य निर्माण की बात सोचने लगे। वे देश के राजनीतिक और घरेलू मामलों में हस्तक्षेप करने लगे और धीरे-धीरे व्यापारी की जगह राजा बनने लगे। ब्रिटिश पार्लियामेंट भी भारतीय शासन-व्यवस्था पर नजर रखने लगी। उनका व्यापार का काम कम और राज्य-व्यवस्था का काम अधिक बढ़ने लगा। कंपनी-सरकार देश की जनता और कमजोर शासकों पर जुल्म ढाने लगी। दिन-प्रतिदिन उनका अत्याचार, अन्याय एवं निर्ममता बढ़ने लगी। कई बार यह नीति निश्चित की गई कि कंपनी के एजेंट अपने-अपने क्षेत्र की सीमा बढ़ाने की कोशिश न करें; लेकिन वे अपनी चालाकी और धूर्तता से यह नीति तोड़ डालते थे, और देश की अधिकाधिक सीमा अपने अधिकार में करते

जाते थे। पलासी के युद्ध में उनकी जीत ने भारतीय धरती पर उन्हें अधिकार बढ़ाने का सुगम मार्ग दे दिया।

सन् 1857 तक भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन चलता रहा, लेकिन सन् 1857 के सिपाही-विद्रोह की असफलता के साथ भारत का शासन-सूत्र ब्रिटिश पार्लियामेंट के हाथ में चला गया। महारानी विक्टोरिया की नीति शांति और विश्वास की नीति थी, लेकिन यह विश्वास जन-मानस में जम नहीं सका। संपूर्ण देश की जनता भीतर ही भीतर सुलग रही थी। नवजागरण की यह भावना मानव की प्राकृतिक भावना है। हर देश की जनता यही चाहती है कि वह स्वतंत्र रहे और उसे जीवन-विकास में समान अधिकार एवं समान सुविधाएँ मिलें। सन् 57 का विद्रोह अंग्रेजी तोपों ने दवा दिया। समाज वैसे तो ऊपर से शांत हो गया, लेकिन संपूर्ण भारतीय समाज में वही अशांति बनी रही। विद्रोह के पश्चात्, अंग्रेज असहाय निर्दोष जनता से प्रतिशोध लेने में इस प्रकार कठोर और निर्मम हुए कि संपूर्ण देश में भीषण असंतोष की भावना फैल गई।

अंग्रेजों के अत्याचार, जुल्म, कठोरता, स्वार्थपूर्णनीति एवं आर्थिक शोषण ने देश में नवजागरण की भावना को उद्वेलित किया। अंग्रेजों के आर्थिक शोषण से देश की खुशहाली समाप्त हो गई। मध्यम वर्ग के लोग बेकार हो गए। विदेशी मालों की अधिकता के कारण देशी गृह-उद्योग-धंधे समाप्त हो गए। भारत में रहनेवाले अंग्रेजों की सुख-सुविधा और आराम में भारतीय अर्थ पानी की तरह बहाया जाता था। भारत के सुपुत्रों की अवस्था दयनीय थी।

शिक्षा संबंधी नवजागरण

भारतीय समाज अंग्रेजों की निर्ममता और बर्बरता से ऊब कर विद्रोह चाहता था। विद्रोह की यही भावना नवजागरण में प्रकट हुई। नवजागरण लाने में नई शिक्षा ने बड़ी सहायता की। अंग्रेजों ने एक ओर जहां राज्य-विस्तार किया और संपूर्ण शासन-व्यवस्था अपने अधिकार में कर ली, वहीं उन्होंने नवीन शिक्षा-पद्धत्ति को बढ़ावा दिया। कुछ पाश्चात्य विद्वानों और मिशनरियों की सहायता से शिक्षा समाज में बढ़ने लगी।

सन् 1801 में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हुई। इसका मुख्य उद्देश्य कंपनी में काम करनेवाले कर्मचारियों को शिक्षित करना था। कॉलेज से निकले पढ़े-लिखे लोगों को कंपनी में क्लर्कों की नौकरी मिलती थी। सन् 1817 में राजा राममोहन राय के प्रयास से हिंदू कॉलेज की स्थापना कलकत्ता में हुई। राजा राममोहन राय ने अंग्रेजी शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार करते हुए माना था कि अंग्रेजी का अपूर्व ज्ञान-भंडार, जीवन के प्रति नवीन दृष्टिकोण, उसके उज्ज्वल, उन्नत, नूतन

विचार भारतीय जनता की प्रगति के लिए आवश्यक, अनिवार्य और अपेक्षित हैं। इसीलिए राजा साहब ने अंग्रेजी की पढ़ाई का समर्थन किया था। सन् 1834 में बंबई में एलिफस्टन कॉलेज एलिफस्टन साहब के प्रयास से खोला गया। सन् 1820 में ईसाई धर्मप्रचारकों ने कलकत्ता में बिशप कॉलेज खोला, जिसका काम अंग्रेजी पर अधिक ध्यान देना था। इन्हीं धर्मप्रचारकों के प्रयास से काशी में भी एक स्कूल खुला, जिसमें अंग्रेजी को अधिक महत्त्व दिया गया। इस युग में अंग्रेजी शिक्षा और ईसाई धर्म को प्रमुखता देकर अंग्रेज यह सपना देख रहे थे कि भारतीय लोग अंग्रेजी के माध्यम से ईसा के उत्तम गुणों और विचारों से प्रभावित होकर ईसाई बन जाएँगे और हिंदुस्तान में अंग्रेजी भाषा और ईसाई धर्म का पूर्ण प्रचार हो जाएगा। लेकिन, उनके धर्मप्रचार और शिक्षा-प्रचार का उद्देश्य चाहे जो भी रहा हो, अप्रत्यक्ष रूप से इस प्रचार ने भारतीय जनमानस को ज्ञान की ज्योति दी। इस शिक्षा ने भारत में एक महान जागरूकता को जन्म दिया। इस शिक्षा के द्वारा भारतीय जनता पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति को जानने लगी और वह उस साहित्य से परिचित होने लगी जिसमें देश के प्रति, मानवता के प्रति, अपने आप के प्रति, प्रतिष्ठा, कर्त्तव्य और स्वाभिमान की भावना थी। सदियों से परतंत्र रहते हुए भारतीयों के मन में जो हीनता की भावना उनकी आत्मा में बैठ गई थी, वह हटने लगी। शिक्षा के प्रचार के कारण भारतीय जनता को पुन: अपनी अवस्था समझने का, अपनी अवस्था को देखने का और अपनी आत्मा की आवाज को पहचानने का मौका मिला। इस शिक्षा ने भारतीय मानव समाज को एक नई चेतना, सक्रिय उन्मुक्त विचार, अपनी जाति की विपन्नता समझने की शक्ति दी। अंग्रेजी के अध्ययन से भारतीयों का एक ऐसे साहित्य से परिचय हुआ जिसमें राष्ट्रीयता, स्वदेश-प्रेम, देश के लिए मर मिटने की अपूर्व आकांक्षा छिपी थी।

इतना ही नहीं, हमें अपने देश के इतिहास और प्राचीन संस्कृति का ज्ञान भी इसी साहित्य के द्वारा हुआ। अंग्रेजी शिक्षा ने लोगों को स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता, प्रजातंत्र आदि उदार भावनाओं से अवगत कराया। अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में जो क्रांतिकारी जागर्ति हुई उसकी लहर—स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व की भावना—अंग्रेजी भाषा के द्वारा भारतीय जनता तक पहुंची। इस नई भावना ने भारतीय जनता को अपनी सामाजिक, राजनीतिक स्थिति को समझने की शक्ति दी। अंधकार में पड़े हुए भारतीयों को नया रास्ता दिखाई पड़ने लगा और वे देश के प्रति अपने कर्तव्य को समझने लगे। पाश्चात्य देशों से उनके संबंध बढ़ने लगे। सारे यूरोपीय देशों में उस समय क्रांति हो रही थी आर यूरोप के कई देश स्वतंत्र हो रहे थे। जर्मनी, इटली, रूस, अमेरिका सभी इस दिशा में संघर्षरत थे। वहाँ के साहित्य में भी देश-प्रेम की स्रोतस्विनी प्रवाहित थी और वहां की जनता मुक्ति, स्वतंत्रता और मानवीय अधिकारों के लिए परेशान थी। ऐसे साहित्य को, भारतीय शिक्षित युवकों को पढ़ने का मौका मिला। उनके मन में भी स्वतंत्रता, समानाधिकार और स्वशासन की प्रेरणा हुई

और इस प्रकार, अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन ने देश को एक नवचेतना, एक नई स्फूर्ति दी ।

उस युग में कुछ उच्च विचारक उदार अंग्रेज भी थे, जो भारतवासियों के शुभचिंतक थे । ऐसे महान व्यक्तियों में एल्फ़िस्टन, कैप्टन कैण्डी एवं ऐडम के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं । ये भारतीय जीवन-विकास के लिए भारतीय भाषा के महत्त्व को स्वीकार करते थे और स्पष्ट करना चाहते थे कि भारतीय भाषा अपने आप में एक समृद्ध भाषा है, उसकी उन्नति की जानी चाहिए । लेकिन अधिकतर अंग्रेज अंग्रेजी के पक्षपाती थे और वे विविध ज्ञान-विज्ञान के प्रकाशन के लिए भारतीय भाषाओं को समर्थ नहीं मानते थे ।

इस युग में कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत के ग्रंथों के अनुवाद का कार्य किया । उपनिषदों, वेदों आदि के अनुवाद और अध्ययन से ये पाश्चात्य विद्वान भारतीय ज्ञान की गंभीरता देख चमत्कृत हो उठे । अभी तक की मान्यता थी कि हिब्रू भाषा विश्व की प्राचीनतम भाषा है और सबसे पुरानी संस्कृति फ़िलस्तीन और यूनान की है । लेकिन भाषाविज्ञान के अनुसंधान तथा मोहन्जदारो एवं हड़प्पा की खुदाई ने विश्व को आश्चर्य में डाल दिया कि भारतीय सभ्यता-संस्कृति सबसे पुरानी है और भारतीय भाषा (वैदिक संस्कृत) सबसे प्राचीन भाषा है । पाश्चात्य विद्वानों के इस अध्ययन-अनुसंधान से भारतीय जनमन में अपनी भाषा, अपने धर्म एवं अपनी संस्कृति के प्रति गौरव के भाव जगने लगे । उसमें हीन भावना के स्थान पर आत्मविश्वास और आत्मगौरव की भावना जगने लगी । भारतीयों को यह अनुभव होने लगा कि वे एक महान देश के वासी हैं, उनकी सभ्यता-संस्कृति बहुत पुरानी है, उनका साहित्य अतुलनीय समृद्ध और अपने आप में एक महान संदेश लिए हुए है । मैक्समूलर, ऐनीबेसेन्ट आदि ने भारतीय यशोगान कर देश में राष्ट्रीय जागरण को उद्वेलित करने में सहायता दी । इसी समय प्रेस और समाचार-पत्र का प्रकाशन होने लगा । अनेकानेक समाचार-पत्र प्रकाशित होने लगे, जिनमें सामाजिक, धार्मिक सुधार का प्रचार किया जाने लगा ।

अंग्रेजी के समृद्ध और समुन्नत साहित्य से प्रभावित होकर तत्कालीन लेखकों ने भी देश की स्थिति से अवगत होकर भारतीय भाषाओं में साहित्य लिखना प्रारंभ किया । अपने आदर्श, उच्च विचार, महान संदेश, स्वतंत्रता की अपूर्व भावना, राष्ट्रीय एकता और जनक्रांति के साथ-साथ समाज-सुधार की भावनाओं को ये जन-जन तक पहुँचाने लगे । देश मातृ-रूप में पूजा जाने लगा और उसके सम्मान की रक्षा के लिए संपूर्ण देश की जनता सजग होने लगी । देश की गरीवी, देश की विपन्नता को देखकर भारतीयों का हृदय अंग्रेजों की धूर्तता के विरुद्ध विद्रोह करने लगा ।

धार्मिक नवजागरण

आलोच्य युग के प्रथम महान नेता श्री राजा राममोहन राय ने भारत को एक नवीन जागर्ति दी। उन्होंने प्राचीन धार्मिक रूढ़ियों एवं परंपरागत अंधविश्वासों के प्रति लोगों का ध्यान आकर्षित किया और उन्हें प्रगतिशील जीवन के लिए अभिशाप माना तथा प्राचीन मान्यताओं को नवीनता के साथ स्वीकार करने की प्रेरणा दी। राजा राममोहन राय इस युग के महान समाज-सुधारक और धार्मिक नवजागरण के प्रवर्तक थे। इन्होंने सन् 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना की। उसमें ईश्वर की उपासना, आराधना को स्वीकार किया गया। इन्होंने समाज को वेद के उच्च विचारों से अवगत कराया तथा अनेक देवी-देवताओं एवं मूर्तिपूजा का खंडन किया। इन्होंने वेद-उपनिषदों की प्राचीन मान्यताओं को समाज के समक्ष रखा और विभिन्न धार्मिक संप्रदायों में भ्रातृत्व-भावना जागरित की। ईश्वर के प्रति नए विश्वास और सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता और समानता की भावना को बढ़ावा दिया। इन्होंने देश को एक नया रास्ता दिखलाया, वह रास्ता था प्रगति और विकास का। स्त्रियों की उन्नति, उनका सम्मान, उनके अधिकारों के प्रति सजगता की भावना को इन्होंने समाज के लिए आवश्यक, अनिवार्य एवं अपेक्षित माना। बालविवाह, बहुविवाह, विधवा-प्रथा, सती-प्रथा इत्यादि का इन्होंने विरोध किया और सरकार से इन अमानवीय कृत्यों के अंत के लिए अपील की। अथक संघर्ष एवं अपूर्व परिश्रम से इन्होंने समाज को सुधार की ओर प्रेरित किया। सामाजिक अंधविश्वासों और रूढ़ियों से संघर्ष करने की शक्ति एवं आत्मविश्वास सर्वप्रथम इन्होंने ही भारतीयों में पैदा किया। राजा साहब ने भारतीय जनता में शिक्षा और विशेष कर अंग्रेजी की शिक्षा का चाव जगाया। राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक प्रगति के लिए इन्होंने समाज को नई चेतना दी एवं नया मार्गदर्शन किया। इन्होंने समाचारपत्र-प्रकाशन का कार्य भी किया और उसकी स्वतंत्रता के लिए सतत संघर्षशील रहे। इन्होंने एक पत्र "संवाद कौमुदी" निकाला और उसका संपादन किया। अपने लेखों और भाषणों के द्वारा इन्होंने सामाजिक सुधार के लिए, समाज में नवीन धार्मिक विश्वास पैदा करने के लिए अभूतपूर्व प्रयास किया।

राजा राममोहन राय ने विभिन्न धर्मों के मौलिक सत्य-सिद्धांतों को स्वीकार किया और सबको एक ही सत्य के रूप में माना। "मुसलमान इन्हें मुसलमान समझते थे, ईसाई इन्हें ईसाई समझते थे, अद्वैतवादी इन्हें अद्वैतवादी मानते थे तथा हिंदू इन्हें वेदांती स्वीकार करते थे। वास्तव में परंपरा के अनुसार ये इनमें से कोई भी नहीं थे। ये सब धर्मों की मौलिक सत्यता में विश्वास करते थे। इन्हें यह स्वीकार नहीं था कि

किसी प्रकार की पूजा की आलोचना की जाए ।"[1] राजा राममोहन राय "भारतीय राष्ट्रवाद के पिता"[2] कहे जाते हैं । उस युग में भारत के भविष्य और राजनीतिक प्रगति की नींव इन्होंने ही डाली थी, इसीलिए इन्हें "नए युग का अग्रदूत"[3] कहा गया है । मिस कोलेट के अनुसार "इतिहास में राजा राममोहन राय ऐसे जीवित पुल के समान हैं जिस पर भारत अपने अपरिमित भूतकाल से अपने अपरिमित भविष्य की ओर चलता है ।" इतिहासकार श्री आर० सी० मजुमदार के अनुसार, राजा राममोहन राय प्रथम भारतीय थे जिन्होंने अपने देश की व्यथा-कथा ब्रिटिश अधिकारियों के समक्ष रखी । इन्होंने देश के हजारों जन-मन की आवाज को अपनी आवाज बनाकर सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक क्रांति की उद्घोषणा की तथा लोगों के मन में दृढ़ता, आत्मविश्वास एवं आगे बढ़ने की आकांक्षा जगाई ।

भारतीय नवजागरण को राजा राममोहन राय के बाद उस युग के अन्य देशभक्त नेताओं ने आगे बढ़ाया । दक्षिण में "प्रार्थनासभा" की स्थापना की गई, जिस सभा के द्वारा समाज में धार्मिक-सामाजिक सुधार का कार्य शुरू हुआ । डॉ० आत्मारंग पांडुरंग के प्रयास से यह सभा स्थापित हुई । सर आर० जी० भंडारकर तथा जस्टिस रानाडे इस सभा के प्रमुख सदस्य थे जिन्होंने समाज-सुधार के कार्य को आगे बढ़ाया । फिर गोखले, एन० एम० जोशी आदि ने भी सामाजिक-धार्मिक क्रांति को प्रज्वलित किया । संपूर्ण देश में क्रांति की भावना सुषुप्तावस्था में थी; विभिन्न समाजसुधारकों ने इस नवजागरण की भावना को उद्वेलित किया और लोगों का पथ-प्रदर्शन किया । स्वामी दयानंद सरस्वती ने यूँ तो 1875 में "आर्य समाज" की स्थापना बंबई में की, लेकिन बहुत शीघ्र ही यह धार्मिक-सामाजिक आंदोलन संपूर्ण देश में फैल गया । इसके तत्वावधान में बहुत सारे स्कूल खोले गए । यह संस्था राष्ट्रवाद के प्रचार का केंद्र बन गया । लाला लाजपतराय एवं स्वामी श्रद्धानंद ने इस संस्था से प्रेरणा लेकर समाज और राष्ट्र के लिए क्रांतिकारी कार्य किया । स्वामी दयानंद सरस्वती ने भारतीय अंधविश्वास, रूढ़ियों, सामाजिक कुरीतियों और पुरानी भोंडी मान्यताओं से समाज को निकालने का प्रयास किया और हिंदू जाति को जीवन-पथ पर आगे बढ़ने के लिए नया संदेश दिया तथा धर्म को आत्मा की आवाज के रूप में मानने की प्रेरणा दी । इनका शुद्धि-आंदोलन अपने युग के लिए एक महान क्रांतिकारी कदम था । इन्होंने बाल-विवाह, विधवा-प्रथा, छुआछूत एवं जातिप्रथा की बुराइयों को समाज की प्रगति का अवरोधक माना । ये स्वदेश-प्रेमी थे और भारत को भारतीयों के लिए मानते थे । इन्होंने धार्मिक-सामाजिक सुधार के साथ-साथ राजनीतिक जागृति की प्रेरणा भी दी ।

1. डॉ० विद्याधर महाजन, श्रीमती सावित्री महाजन : भारत 1526 से आगे, पृ० 539 ।
2. 3. वही, पृ० 539-40 ।

आर्यसमाज प्रत्यक्ष रूप से कोई राजनीतिक दल नहीं था, लेकिन इसने क्रांतिकारी देशभक्तों को समाज-सुधार के साथ-साथ राष्ट्रीय क्रांति की ओर भी प्रेरित किया। इसके अतिरिक्त, स्वामी विवेकानंद द्वारा संस्थापित "रामकृष्ण मिशन" द्वारा भी समाज-सुधार एवं शिक्षा-प्रचार का काम देश के विभिन्न स्थानों में होने लगा। विवेकानंद ने भारतीयों के मन में बैठी हुई हीनता की भावना को हटाने का क्रांतिकारी कार्य किया और भारतीयों के मन में आत्मविश्वास की भावना प्रस्फुटित की। उन्होंने हिंदू धर्म को, जो सदियों से उपेक्षित और व्यर्थ समझा जाने लगा था, विश्व के समक्ष उजागर और पुन: प्रतिष्ठित किया। डॉ० मजुमदार के अनुसार, स्वामी विवेकानंद ने आनुनिक विश्व के संस्कृति-मानचित्र पर हिंदुत्व के लिए जगह बना दी।[1] विवेकानंद ने भारतीय जनक्रांति की भावना को उद्वेलित करने के लिए अकथ परिश्रम किया। वैसे, इनका मुख्य ध्येय धार्मिक क्रांति था, लेकिन धर्म के साथ-साथ वे भारत की उन्नति, उसकी स्वतंत्रता के भी आकांक्षी थे। उन्होंने भारतीय जनता को स्वतंत्रता, देशप्रेम, स्वाभिमान और शक्ति की प्रबल भावना दी। उनके शब्दों में उनकी आत्मा की पुकार थी, जिसमें देश के प्रति अपार प्रेम एवं ममत्व की भावना पाई जाती है।

स्वामी विवेकानंद की राष्ट्रीय भावना को श्री गोपाल कृष्ण गोखले ने आगे बढ़ाया। श्री गोखले दक्षिण अफ्रिका भी गए थे और वहां गांधी जी के साथ वर्णभेद-आंदोलन में भाग लिया था। उन्होंने गांधी जी को स्वदेश की जनक्रांति के लिए आमंत्रित किया। इस युग में भारत के नवजागरण के अन्य महान नेताओं में श्री विष्णुकृष्ण चिलंकर, दादाभाई नौरोजी, श्री बालगंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, श्री अरविन्द घोष, श्री केशवचंद्र, श्री विपिन चंद्र पाल, श्री सुरेंद्र बनर्जी एवं श्रीमती ऐनी बेसेंट का नाम विशेष उल्लेखनीय है। श्रीमती बेसेंट एक आयरिश महिला थीं, लेकिन थियोसोफिकल सोसाइटी की सदस्या होकर 16 नवम्बर, 1893 में भारत में आकर, उन्होंने अपने आपको भारतीय संस्कृति, समाज-सुधार और राजनीतिक कार्यों में एक भारतीय की तरह समर्पित कर दिया। बनारस में उन्होंने "सेंट्रल हिंदू कॉलेज" की स्थापना की, जो बाद में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय बन गया। उन्होंने अपने भाषणों में बार-बार भारतीयता, भारतीय संस्कृति की महिमा को उद्घोषित किया। श्रीमती बेसेंट भारतीय कांग्रेस की सभापति भी हुईं। उन्होंने भारत में जागर्ति, देश के प्रति गौरव की भावना, अतमविश्वास, कर्तव्य की शक्ति एवं जीवन के प्रति महत्त्वाकांक्षा की भावना को उद्वेलित किया।

नवजागरण के समय सिक्खों का क्रांतिकारी सहयोग भी भारतीय शिक्षा और राष्ट्रीयता की प्रगति में सहायक हुआ। अमृतसर में "खालसा कॉलिज तथा अन्य स्थानों में भी गुरुद्वारा के प्रबन्धों के द्वारा स्कूल-कॉलिज खोले गए। भारतीय पारसी और

---

1. हिस्ट्री ऑफ दि फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया, वोल्यूम 1, पृ० 358।

मुसलमानों ने भी इस नवज़ागरण की भावना को विकसित करने में सहयोग किया। प्रारंभ में मुसलमान नई शिक्षा और नए सुधारों की ओर अग्रसर नहीं हुए, लेकिन बाद में वे भी नई क्रांति से प्रभावित हुए। सर सैयद अहमद ने अपने प्रयत्न से मुसलमानों में आगे बढ़ने की प्रेरणा एवं शिक्षा की जागर्ति पैदा की। मुस्लिम नारियों में प्रचलित पर्दाप्रथा का उन्होंने विरोध किया एवं महिला जागर्ति के लिए स्त्री-शिक्षा को आवश्यक माना। सर सैयद अहमद ने मुसलमानों में धार्मिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय भावना को उद्वेलित किया। इंग्लैंड से वापस आकर इन्होंने 1875 में अलीगढ़ में एम० ए० ओ० कॉलेज स्थापित किया। इनके प्रयत्नों से मुसलमानों में भी सामाजिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीय चेतना जागरित हुई। फिर, इनके प्रयास से उर्दू में समाचारपत्र प्रकाशित होने लगे एवं कई स्कूल खोले गए।

नवजागरण के इन नेताओं ने अपने भाषणों, लेखों, कार्यों आदि से देश में नया आत्मविश्वास, दृढ़ता, साहस, सुधार आदि की भावना विकसित की और देश को आनेवाली जनक्रांति एवं स्वतंत्रता-आंदोलन के लिए तैयार किया। इन महान नेताओं ने स्पष्ट किया कि यह देश हमारा देश है, बाहर से आए हुए विदेशी हम पर शासन और अत्याचार नहीं कर सकते। तिलक ने ही सर्वप्रथम कहा था स्वतंत्रता हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है और हम उसे प्राप्त करके रहेंगे। लाला लाजपत राय ने भी स्वतंत्रता और सम्मान को संसार की धन-दौलत से ऊपर माना था।

इस युग के महान नेताओं के साथ युग के साहित्यकारों ने भी भारतीय सामाजिक, राजनीतिक एवं सांप्रदायिक समन्वय पर साहित्य के माध्यम से लोगों में नए विचार, नयी मान्यताएं प्रस्तुत कीं। देश को माता के रूप में पूजा जाने लगा और शृंखलाबद्ध माँ के हाथों की जंजीर तोड़ने के लिए हजारों नवयुवक कटिबद्ध होने लगे। श्री बंकिमचंद्र के "आनंद मठ" का "वंदेमातरम्" जन-जन में गूँजने लगा। इकबाल के "सारे जहां से अच्छा हिंदोस्ताँ हमारा" की भावना प्रबलतर होती गई। सारा देश नए विचारों, नई चिंतनधारा, नई जागर्ति एवं देशप्रेम से आप्लावित हो उठा। मातृभूमि की रक्षा के लिए शहीद होने की आकांक्षा युवकों में बढ़ने लगी।

हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में यह युग भारतेंदु और महावीर प्रसाद द्विवेदी का युग था। उन्होंने अपने साहित्य में तत्कालीन भावनाओं कों भाषाबद्ध किया। भारतेंदु जी ने अंग्रेजी राज्य के कारण देश की शोचनीय आर्थिक स्थिति का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है—"अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी, पर धन विदेस चलि जात, यहै अति ख्वारी।"[1] भारतेंदु तथा उस युग के अन्य साहित्यकारों ने भी देश की राष्ट्रीय भावना एवं समाजसुधार की भावनाओं को साहित्य में स्थान दिया। श्रीधर पाठक ने "भारत

1. श्री श्यामविहारी विरागी, श्री अविनाशचंद्र : हिंदी मूल और शाखा, पृ० 323।

गीत" कविता में मातृभूमि की उपासना की, और उसे विश्व में सर्वोत्तम भूमि के रूप में स्वीकार किया।

देश में स्वराज्य के लिए मर मिटने की अभिलाषा इतनी बढ़ गई कि कवि कहने लगे--

"मुझे तोड़ लेना वनमाली,
उस पथ पर देना तू फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पथ जावें वीर अनेक।"[1] (माखनलाल चतुर्वेदी)

साहित्यकार मातृभूमि की रक्षा के लिए युगचेतना को विकसित करने लगे। देश के प्रति अगाध प्रेम, श्रद्धा एवं उपासना की भावना उस युग की मुख्य भावना बनी। नाटकों, निबन्धों के रूप-रंग भी परिवर्तित होने लगे और उनमें राष्ट्रप्रेम एवं सामाजिक सुधार वर्णित होने लगे। राष्ट्रीय भावना का प्रभाव बंगला साहित्य पर पहले दिखाई पड़ा। श्री वंकिमचंद्र, श्री द्विजेंद्र लाल राय, श्री रमेश चंद्र दत्त, श्री शरत चंद्र, श्री चंडीचरण सेन, श्री चारुचंद्र आदि की रचनाओं में नवजागरण के क्रांतिकारी भाव प्रस्फुटित हुए। फिर देश की अन्य भाषाओं के साहित्य में भी इसी भाव का आधिपत्य हो गया। प्रेमचंद ने भी अपने साहित्य का विषय युगीन जीवन से लिया। युग-जीवन की विषमता, युग-चेतना की अनुभूति, समाज की रूढ़ि आदि को उन्होंने अपने साहित्य में वाणी दी। उनकी आवाज जन-जन की अवाज बन गई। युगीन सामाजिक अवस्था, वह चाहे स्त्रियों के दयनीय जीवन से सम्बन्धित हो, किसानों की करुणा से आर्द्र हो, चाहे हिंदू-मुस्लिम-विषमता बढ़ाने वाली अंग्रेजी नीति हो, चाहे जनक्रांति की आवाज हो, लेखक ने सभी को यथार्थ रूप में हमारे समक्ष उपस्थित किया और उसमें आमूल परिवर्तन की आकांक्षा व्यक्त की। 19वीं शताब्दी के महान् सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक नेताओं ने जो महत् संदेश सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक धरातल पर देना चाहा, उसे ही प्रेमचंद ने कथासाहित्य के माध्यम से युग-युग की चेतना को झंकृत करने का आधार माना।

सांप्रदायिक स्थिति

19वीं शताब्दी के नवजागरण के संदर्भ में सांप्रदायिक एकता की जब हम मीमांसा करते हैं तो पाते हैं कि इस युग के सुधारक, देशप्रेमी, नेताओं एवं महान विचारकों ने सांप्रदायिक समन्वय का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया। अंग्रेजों ने आते ही देश

1. डॉ० रामसागर त्रिपाठी एवं डॉ० शांतिस्वरूप गुप्ता : बृहत् साहित्य निबंध पृ० 702।

में द्वेष की भावना बढ़ाई । इसी द्वेष, सांप्रदायिक वैमनस्य को जगाकर वे भारत में राज्य स्थापित करने में सफल हुए थे । अंग्रेजों को, भारत में राज्य स्थापना के समय, मुसलमानों के साथ संघर्ष करना पड़ा था । इसलिए प्रारंभ में वे मुस्लिम-विरोधी रहे। नौकरी आदि में हिंदुओं को मुसलमानों की अपेक्षा अधिक स्थान दिए गए । उस युग में देश में अनेकानेक हिंदू प्रगतिशील विचारक, महात्मा और नेता होने लगे थे । उन्होंने देश के सामाजिक, राजनीतिक, एवं शैक्षणिक सुधार का काम प्रारंभ कर दिया था, लेकिन मुस्लिम जनता नवजागरण के इस नए संदेश से प्रभावित नहीं हुई । 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब वहाबी आंदोलन शुरू हुआ था, तब भारत के मुसलमान उस आंदोलन से बहुत प्रभावित हुए थे । अंग्रेजों ने इस आंदोलन को निर्ममता से कुचल दिया । बहुत दिनों तक अंग्रेज मुसलमानों के प्रति असहिष्णु और निर्दय रहे । लेकिन जब सन् 1857 की क्रांति हुई तो अंग्रेजों ने अनुभव किया कि संपूर्ण देश के हिंदू-मुस्लिम एक होकर उनके विरुद्ध बगावत कर रहे हैं । देश में उस समय सांप्रदायिक वैमनस्य की भावना नहीं थी । तब अंग्रेजों ने "फूट डालो और राज्य करो" की नीति को अपनाया और तब वे हिंदुओं की अपेक्षा मुसलमानों के प्रति प्रेम, सहिष्णुता, मित्रता का भाव प्रदर्शित करने लगे ।

इस प्रकार अंग्रेजों ने भारतीय सांप्रदायिक एकता को समाप्त करने का कार्य प्रारंभ किया । अंग्रेजों ने भारतीय सांप्रदायिक एकता को कभी प्रोत्साहित नहीं किया । प्रारंभ से अंत तक अंग्रेजों की नीति यही रही कि भारत में सांप्रदायिक वैमनस्य बढ़ता रहे, जिससे देशवासी आपसी वैमनस्य और समस्याओं में उलझे रहें, ताकि उन्हें भारत में राज्य करने में बाधा न हो । अतः जब-जब हिंदुओं और मुसलमानों में आपसी एकता बढ़ती थी, वे चौंक उठते थे और उसे समाप्त करने का प्रयास करने लगते थे । सन् 1871 में सर विलियम हंटर ने "भारतीय मुसलमान" नामक एक पुस्तक लिखी, जिसमें उन्होंने मुसलमानों की उन्नति को महत्व दिया और और ऐसा करने-का उनका उद्देश्य सांप्रदायिक भावना को बढ़ाना था । अंग्रेज प्रारंभ से ही सांप्रदायिक भावना को प्रोत्साहित करते रहे, लेकिन नवजागरण के साथ-साथ अंग्रेजों की शासन-व्यवस्था से जो क्रांतिकारी प्रतिक्रिया सांप्रदायिक एकता की थी । वर्षों से इस युग भूखंड पर हिंदू-मुस्लिम साथ-साथ पड़ोसी की तरह रहते रहे थे, यद्यपि दोनों के धार्मिक विश्वास में काफी अंतर था । दोनों दो विरोधी धार्मिक विश्वास और मान्यता लेकर चल रहे थे । लेकिन तब भी, उनमें आपसी वैमनस्य एवं कट्टरता मध्ययुग से ही समाप्त होने लगी थी । सूफी संत कवियों की शीतल वाणियों ने जनमानस को ज्ञान की स्निग्ध ज्योति दी थी, जिसके अधार पर वे आपस के द्वेष को भूल कर एक होने का प्रयास कर रहे थे । अकबर की धार्मिक उदारता की नीति ने, दारा शिकोह के मानवतावादी ने, गुरुनानक के एकेश्वरवादी दर्शन ने, संपूर्ण युग-चेतना को प्रभावित किया था । जीवन की रूढ़ियों तथा धर्म के प्रति कट्टरता एवं बाह्य दिखावे का पालन करते हुए भी,

समाज भीतर से एक ईश्वर पर विश्वास करता था। साथ ही, दूसरे धर्मों के प्रति सम्मान की भावना भी उसमें आ ही गई थी। अपने-अपने धर्मों में आस्था रखते हुए हिंदू-मुसलिम एक साथ एक ही गांव में भाई-भाई की तरह रहने लगे थे। संतों की आत्मा की आवाज को अगर युग-जीवन ने गंभीरता से लिया होता तो भारत में सांप्रदायिक वैमनस्य का प्रश्न समाप्त हो गया होता, क्योंकि इन संतों ने दोनों धर्मों के मूल को पहचाना था और बाह्याडम्बरों को त्याग कर मूल धर्म की प्रेरणा समाज को दी थी। नगरों की अपेक्षा यह सांप्रदायिक एकता गांवों में अधिक पाई जाती है। गाँव में जाति, संप्रदाय, धर्म, सभी अपनी जगह हैं, लेकिन लोग खुले दिल से एक-दूसरे से मिलते रहे हैं। वे एक-दूसरे की भावनाओं, धार्मिक मान्यताओं का सम्मान करते रहे हैं।

सांस्कृतिक समन्वय में बहुत-सी बातें ऐसी हैं जिन्हें हम एक-दूसरे से लेते रहे हैं। मुसलमानों में पीर की पूजा का रिवाज बढ़ने लगा था। हिंदू और मुसलमान दोनों प्रेम, श्रद्धा और विश्वास से उस पीर की दरगाह पर सिर झुकाते थे, मनोतियाँ मानते थे। दशहरा, रथयात्रा, होली आदि में मुसलमान उमंग-उल्लास के साथ सम्मिलित होते थे और मुहर्रम, ताजिये, ईद, बकरीद में हिंदू अपनी खुशी से सम्मिलित होते थे। कहीं कोई वैमनस्य की, आंतरिक विद्वेष की, भावना नहीं थी। गाँवों में दोनों जातियाँ दोनों के धार्मिक सिद्धांतों को सम्मान से देखती थीं। औरंगजेब ने सांप्रदायिक एकता समाप्त करने का प्रयास किया था। मंदिर तोड़ कर मस्जिदें बनवाई थीं, लेकिन जन-जीवन पर इस अत्याचार की प्रतिक्रिया बहुत अधिक नहीं हुई, क्योंकि ये मंदिर कुछ विशेष स्थानों के तोड़े गए थे। ग्रामीण बहुसंख्यक जीवन में इस तोड़-फोड़ का प्रतिक्रियात्मक वैमनस्य उस रूप में नहीं पहुँच पाया, जिससे उनमें भाई-भाई के प्रति विद्रोह या द्वेष की भावना जागती। इसीलिए 18वीं शताब्दी के भारत में हिंदू और मुस्लिम भाषा, कला, उत्सव-त्योहार, रीति-रिवाज से एक-दूसरे से हिलमिल गए थे। डॉ० ताराचंद ने माना है कि हिंदुओं और मुसलमानों के साथ-साथ रहने से दोनों की संस्कृति भारतीय संस्कृति के रूप में हमारे सामने आई।

वहाबी आंदोलन धार्मिक आंदोलन से शुरू हुआ था, यह सच है, लेकिन इसके विरुद्ध हिंदुओं में कोई प्रतिक्रिया नहीं थी, क्योंकि उनमें अभी तक धार्मिक वैमनस्य नहीं था। वे मुसलमानों को अपने धर्म के प्रति जागरूक होने में कोई खराबी नहीं समझते थे। यह उस युग की बात है जब देश में चारों ओर देश-प्रेम की भावना जाग रही थी और हिंदू-मुस्लिम जनता देश की आजादी के लिए कार्य कर रही थी। जब तक एक ओर बंकिमचंद्र "वंदेमातरम्" की आवाज लगा रहे थे और दूसरी ओर इकबाल "सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्तां हमारा" कहकर देश का गुणगान कर रहे थे। देश में सांप्रदायिक वैमनस्य की भीषण भावना आजतक नहीं थी; यह द्वेष की भावना अंग्रेजों ने दी। 19 वीं शताब्दी की धार्मिक जागर्ति के हिंदू नेताओं ने भी

जो धार्मिक और जातिगत विचार व्यक्त किए, उनमें सांप्रदायिक वैमनस्य के भाव नहीं थे, न इस्लाम धर्म के प्रति कोई घृणा और द्वेष था। राजा राममोहन राय ने देश में भाईचारे और प्रेम का प्रचार किया था; सभी धर्मों का सम्मान और ईश्वर के एक रूप की उपासना को समाज के लिए उपयोगी माना था; जाति-पांति, छूआ-छूत और भेद-भाव को समाज कें विकास का बाधक माना था; इसीलिए उनके धर्म-प्रचार से कितने ही मुसलमान भी प्रभावित हुए थे। वह हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रचारक थे।

19वीं शताब्दी के नेताओं में दादा भाई नौरोजी उन व्यक्तियों में थे जो भारत में एकता के समर्थक थे और सांप्रदायिक एकता को स्वशासन के लिए आवश्यक मानते थे। राजनीतिक नेताओं में श्री गोपाल कृष्ण गोखले, सर फिरोज शाह एवं तिलक आदि ने एकता का प्रयास किया और स्वतंत्रता को सबके लिए अपेक्षित माना। इसके अतिरिक्त, दयानंद सरस्वती के आर्य समाज ने भी समाज-सुधार के कार्य को आगे बढ़ाया। लेकिन इन्होंने भी धार्मिक, सांप्रदायिक एकता को खंडित नहीं किया। इनके शुद्धि-आंदोलन में कहीं कोई सांप्रदायिकता की भावना नहीं थी। सांप्रदायिक एकता के प्रयास में एनी बेसेंट के द्वारा किया गया काम सराहनीय है। थियोसोफिकल सोसाइटी ने भी सभी धर्मों को समान माना है। उसने भी हिंदू-मुस्लिम एकता का संदेश दिया। 'रामकृष्ण मिशन' तथा 'प्रार्थना समाज' ने भी सांप्रदायिकता की भावना को कभी प्रश्रय नहीं दिया। लेकिन अंग्रेज सांप्रदायिक वैमनस्य की भावना लाना चाहते थे और उन्होंने इसके लिए विशेष प्रयत्न किया। सांप्रदायिकता पक्षपात की नीति उनकी शुरु से थी। सन् 1885 में जब कांग्रेस की स्थापना हुई थी, तब उसमें हिंदू और मुस्लिम उत्साह और उमंग से सम्मिलित हुए थे और देश की स्वतन्त्रता के लिए दोनों दृढ़प्रतिज्ञ थे। राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापक श्री ए०ओ० ह्यूम वर्षों तक भारत में सरकारी सेवा में उच्च पद पर रहे और उन्हें देश के विभिन्न भागों में उत्पन्न जनमानस के असंतोष एवं ग्रामीण क्षेत्र में सजग होने वाले क्रांतिकारी संगठन का ज्ञान पुलिस की विभिन्न रिपोर्टों के आधार पर हो चुका था।

19वीं शताब्दी के मध्य, देश में भयंकर अकाल एवं बीमारियां फैली थीं, जिनसे जनता परेशान थी। इससे जन-जन के अंतर में नैराश्यजनित विद्रोह की तीव्र प्रतिक्रिया हुई थी। सन् 1877 में एक ओर महारानी विक्टोरिया के दरबार की भव्य तैयारियाँ हुईं, जिसमें उन्हें भारत की साम्राज्ञी स्वीकार किया। दूसरी ओर देश के अनेक भागों में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा, जिससे हजारों लोग बुरी तरह प्रभावित हुए थे, जिसने भारतीय जनमानस को क्रांति के लिए उत्तेजित किया था। "कांग्रेस की स्थापना के ठीक पहले देश की जैसी स्थिति थी, वैसी स्थिति 1857 के बाद कभी पैदा नहीं हुई थी। अंग्रेज अधिकारियों में श्री ह्यूम ही ऐसे थे जिन्होंने इस आसन्न खतरे को महसूस

किया और उसे टालने की कोशिश की। वह शिमला गए ताकि अधिकारियों को बता सकें कि कितनी खतरनाक स्थिति पैदा हो गई है। इस बात की संभावना है कि ह्यूम की बातचीत से नए वायसराय को, जो काफी कुशल प्रशासक थे, स्थिति की गंभीरता का अंदाजा हुआ और उन्होंने कांग्रेस की स्थापना के लिए ह्यूम को अनुमति दे दी। इस अखिल भारतीय आंदोलन के लिए स्थितियां पूरी तरह परिपक्व थीं। एक ऐसे किसान-विद्रोह के स्थान पर, जिसे शिक्षित वर्ग की सहानुभूति और समर्थन मिलता, इस संस्था के जरिए उभरते वर्गों को नए भारत का निर्माण करने के लिए एक राष्ट्रीय मंच मिल गया। कुल मिलाकर यह अच्छा ही हुआ कि हिंसा पर आधारित क्रांतिकारी परिस्थिति पैदा होने से एक बार फिर रोक दी गई।"[1]

कांग्रेस की स्थापना एवं राष्ट्रीय नेताओं के मिलने से देश में जो एक राष्ट्रीय एकता, प्रेम एवं सद्‌भाव की भावना जागरित हुई उससे सरकार भयभीत होने लगी। इस संस्था के माध्यम से हिंदू-मुस्लिम नेता एक स्थान पर मिलने लगे और देश की स्वतंत्रता के लिए साथ-साथ काम करने लगे। यह एक ऐसी संस्था बन गई जिसमें वर्ग, धर्म एवं संप्रदाय को महत्त्व नहीं दिया गया। सांप्रदायिकता को समाप्त कर संपूर्ण भारतवासियों को एक करने का इसका प्रयास हमेशा रहा। कांग्रेस के माध्यम से देश में एकता, आशा एवं आत्मविश्वास की जागर्ति हुई। यहां आकर हिंदू-मुस्लिम दोनों एक महत्त्वाकांक्षा की प्राप्ति में संलग्न हो गए। अंग्रेज सरकार इससे डर गई और उसने सांप्रदायिकता का एक ऐसा विषैला बीज मुस्लिम जनता में बोया कि देश को बुरे दिन देखने पड़े और कांग्रेस का एकता-सिद्धांत बालू की भीत की तरह ढह गया। इतिहासकार मानते हैं कि मिस्टर बेक ने, जो अलीगढ़ कॉलेज के प्रिंसिपल थे, सर सैयद अहमद खां को, जो उस समय के मुस्लिम नेता थे, सांप्रदायिक वैमनस्य के प्रचार का आधार बनाया। प्रारंभ में सर सैयद अहमद राष्ट्रीय एकता और हिंदू-मुस्लिम प्रेम एवं एकता के समर्थक थे और भारत की उन्नति और आजादी में दोनों के सहयोग के समर्थक थे। लेकिन बाद में मिस्टर बेक के विचारों से वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने कांग्रेस को मुस्लिम जनता का विरोधी और दुश्मन मानना शुरू किया। सर सैयद अहमद मुसलमानों को अंग्रेजी राज्य की छत्रछाया में रहने की सीख देने लगे और हिंदुओं के साथ उनके मिलकर काम करने का विरोध करने लगे। ये वही सैयद अहमद खां थे जिन्होंने भारत-माता की दो आँखों की तरह हिंदू-मुस्लिम को भाई-भाई माना था। मिस्टर बेक के प्रभाव में आकर उन्होंने मुसलमानों को हिंदुओं से मुकाबला करने के लिए अंग्रेजी राज्य का समर्थन करने की प्रेरणा दी

---

1. ऐड्रूज और मुखर्जी : राइज ऐंड ग्रोथ ऑफ द कांग्रेस पृ० 128-29 (उद्‌धृत; आज का भारत पृ० 326)

और एक नई संस्था को जन्म दिया—"मुहम्मडन ऐंग्लो-ओरिएंटल डिफेंस एसोसिएशन ऑफ अपर इंडिया"। इस प्रकार अंग्रेजों ने मुसलमानों को उनके नेता सर सैयद अहमद के द्वारा अपनी ओर आकर्षित किया और भारतवर्ष में दो राष्ट्र के विचार को जन्म दिया। भारत में सांप्रदायिक एकता को समाप्त करने का अंग्रेजों का प्रयास इस तरह सफल हो गया और, मिस्टर बेक और सैयद अहमद की मान्यता के आधार पर, भारत में द्वि-राष्ट्र का प्रचार होने लगा। 1889 में चार्ल्स ब्रैडलाग ने जब ब्रिटिश हाउस ऑफ कामंस में भारत में स्वायत्त शासन का बिल उपस्थित किया, तब बेक ने उसके विरुद्ध मुसलमानों से हस्ताक्षर कराके एक पत्र उपस्थापित कर दिया। सर सैयद अहमद ने मुसलमानों को गलत बातों में लाकर उन्हें हिंदुओं के विरोध में खड़ा कर दिया और उन्हें कांग्रेस से हट जाने की प्रेरणा दी जिसे उन्होंने हिंदुओं का संगठन माना और इस तरह देश की एकता को समाप्त कर दिया।

इस प्रकार, अंग्रेजों के बहकावे में आकर कुछ मुसलमान नेताओं ने अपने आपको कांग्रेस से अलग रखा और अंग्रेजों से अपनी मित्रता बढ़ाई और कांग्रेस की मांगों का विरोध करना इनका मुख्य कार्य हो गया। साधारण हिंदू-मुसलमानों ने तो नहीं, परंतु राष्ट्रीय स्तर पर बड़े-बड़े मुस्लिम नेताओं ने सांप्रदायिक भावना को प्रश्रय दिया और राष्ट्रीय आंदोलन को सांप्रदायिक बतलाकर अपने लिए अलग राष्ट्र की कल्पना करने लगे। अंग्रेजों ने हिंदू-मुसलमानों में सांप्रदायिक भावना को बढ़ाने का सफल प्रयास तो किया ही, साथ ही, "मुस्लिम लीग" के जन्म की प्रेरणा भी दी। कहते हैं, "वायसराय की प्रेरणा से ही यह संस्था कायम हुई थी।"[1] श्री रजनी पामदत्त ने अपनी पुस्तक 'आज का भारत' (पृष्ट 470) में लिखा है कि "मुस्लिम लीग की स्थापना दिसंबर 1906 में हुई थी। जैसा कि शुरू में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के मामले में हुआ था, 'मुस्लिम लीग' की स्थापना में भी अंग्रेजों की, सरकारी नीति की, उल्लेखनीय भूमिका रही। ब्रिटेन के सरकारी क्षेत्रों ने यह आशा की कि सांप्रदायिक आधार पर मतदाताओं का विभाजन करने के साथ-साथ मुसलमानों का यदि अलग से राजनीतिक संगठन बना दिया जाए तो राष्ट्रीय आंदोलन को छिन्न-भिन्न किया जा सकता है और कांग्रेस की बढ़ती हुई शक्ति को कमजोर बनाया जा सकता है। अपनी राज्यसत्ता को सुदृढ़ करने के लिए अंग्रेजों ने धर्म के आधार पर भारत में दो राष्ट्र की भावना को जन्म दिया जो जनतांत्रिक स्वतंत्रता के विपरीत था, क्योंकि उस युग में भारतीय हिंदू और मुसलमानों के दो अलग लक्ष्य नहीं थे। दोनों ही अशिक्षा के अंधकार में पड़े थे और अंग्रेजों द्वारा सताए हुए अत्यंत गरीबी की अवस्था में जीवन व्यतीत कर रहे थे। भारत में धर्म

1. मॉडर्न इस्लाम इन इंडिया (उद्धृत संस्कृति के चार अध्याय पृ० 728)।

के नाम पर चुनाव हुआ और, जो संस्था अंग्रेजों की प्रेरणा से बनी, वह एक महान शर्मनाक घटना थी। किसी भी देश में आज तक धर्म के आधार पर चुनाव नहीं कराए जाते, उन्हें दो राष्ट्र नहीं माना जाता। आयरलैंड के प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक दो राष्ट्र की कल्पना नहीं करते और न धर्म के आधार पर प्रतिनिधित्व की मांग ही करते हैं। अंग्रेज भारत में राष्ट्रीयता को कमजोर करने के लिए सांप्रदायिकता का पोषण किस प्रकार करते थे, इस विषय की व्याख्या करते हुए स्मिथ ने लिखा है कि "सांप्रदायिकता को बढ़ावा देने का सरकारी ढंग यह है कि सरकार सभी अथवा अधिक-से-अधिक प्रश्नों पर सांप्रदायिक दृष्टि से विचार करती है तथा आग्रहपूर्वक यह संकेत देती है कि और लोग भी प्रश्नों पर ठीक इसी प्रकार से विचार करें। सांप्रदायिकता फैलाने का मुख्य राजनीतिक साधन अलग-अलग निर्वाचन क्षेत्रों की रचना है, जिससे एक जनता अपने को अन्य से भिन्न समझती है तथा सांप्रदायिक भाषण सुनकर एवं सांप्रदायिक दृष्टि से प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते-करते वह पूर्ण रूप से सांप्रदायिक बन जाती है। फिर तो वह अधिकारों और सुधारों की मांग भी सांप्रदायिक दृष्टि से करने लगती है।"[1] दिनकर जी लिखते है, "सांप्रदायिकता को उभाड़ने के कुछ और भी तरीके थे। उदाहरण के लिए जो लोग तअस्सुब (धार्मिक पक्षपात) के प्रेमी और प्रचारक थे, उन्हें सरकार प्यार करती थी, ओहदे और खिताब देती थी, तरक्की और ऊँची तनख्वाहें देती थी। किंतु जो लोग हिंदू-मुस्लिम-एकता के हामी थे, वे सरकार के शत्रु समझे जाते थे और उनकी जगह जेल हुआ करती थी। राउंड टेबुल कांफ्रेंस में सरकार ने चुन-चुनकर उन्हीं मुसलमानों को बुलाया जो सांप्रदायिकता से भरे हुए थे। उन दिनों राष्ट्रीय मुसलमानों में बड़े-बड़े लोग मौजूद थे। लेकिन सरकार ने उन्हें तृणवत् नगण्य समझा।"[2]

इस्लाम और हिंदू धर्म को एक दूसरे का विद्वेषी बनाने के साथ अंग्रेजों ने हिंदुओं और सिक्खों के विरुद्ध भी विद्वेष की भावना बढ़ाने का प्रयत्न किया और कोशिश की कि सिक्ख धर्म (खालसा धर्म) और हिंदू धर्म को दो धर्म समझा जाए। प्रारंभ में जब अंग्रेजों ने सिक्खों को हटाकर पंजाब पर अधिकार किया तो सिक्खों को भी मुसलमानों की तरह, शक्तिहीन करने की कोशिश की। शासन-व्यवस्था में उनकी उपेक्षा की गई। उनके धर्म को व्यर्थ समझा गया। इसी समय ट्रप नामक एक विद्वान से सिक्ख धर्मग्रंथ का अंग्रेजी में अनुवाद कराया गया, जिसमें सिक्ख धर्म की खिल्ली उड़ाई गई। कुछ लोगों को सिक्ख धर्म के विषय में यह स्पष्ट किया गया कि यह धर्म इस्लाम धर्म का ही एक रूप है, क्योंकि इसमें भी ईश्वर के एक रूप को स्वीकार किया गया है; अत: सिक्ख धर्म इस्लाम धर्म का हिंदूकरण है।

1. संस्कृति के चार अध्याय (उद्धृत मॉडर्न इस्लाम इन इंडिया) पृ० 730।
2. संस्कृति के चार अध्याय पृ० 730।

भारतवर्ष में परिस्थिति, वातावरण एवं सामाजिक संघर्ष के कारण धर्म के अनेकानेक रूपों की अभिव्यक्ति समय-समय पर हुई है। हिंदू धर्म के कर्मकाण्ड, जाति-पांति, बाह्याडंबर के कारण जिस प्रकार जैन और बौद्ध धर्म का अभ्युदय हुआ था, ठीक उसी प्रकार युग, समाज और परिस्थिति की गंभीरता ने संत नानक देव को पंजाब के लिए एक नये धर्म-दर्शन की स्थापना की प्रेरणा हुई। यह धर्म और इसका दर्शन कोई नवीन धर्म-दर्शन नहीं था। संतों ने पहले ही ऐसे दर्शन को मानव-कल्याण के लिए अनिवार्य माना था। संत नानक देव ने उसी धर्म-दर्शन को मानवता के लिए अपेक्षित माना और यह स्पष्ट किया कि हमें एक प्रभु में विश्वास करना चाहिए, क्योंकि वह अनादि, अनंत, शाश्वत, सनातन, चिरंतन, परम ब्रह्म है। वह सर्वव्यापी और दयालु है और वह ज्योतिर्मय है, दिव्य है, कण-कण में विराजमान है। इसलिए मूर्तिपूजा की आवश्यकता नहीं है।

सिक्ख धर्म में दस गुरु हुए हैं।[1] पहले गुरु नानक थे। दसवें और अंतिम गुरु गोविंद सिंह ने अपनी मृत्यु के समय किसी व्यक्ति-विशेष को गुरु की प्रतिष्ठा नहीं की। उन्होंने "ग्रंथ" को ही पंथ के गुरु के रूप में मान लेने की आज्ञा दी। तब से सिक्ख धर्म में ग्रंथ ही को गुरु मानने की प्रथा चल पड़ी है।

अंग्रेजों का उद्देश्य देश में सांप्रदायिक झगड़े को बढ़ाना था। अतः वे भिन्न-भिन्न रूप में देश में विभिन्न सांप्रदायिक द्वेष उभारते रहते थे और कोशिश करते थे कि देश में किसी भी दशा में शांति न हो तथा देश के विभिन्न संप्रदाय आपस में मारकाट करते रहें। "सिक्ख धर्म और हिंदुत्व, ये दो नहीं, एक ही धर्म हैं। हिंदुत्व का स्वभाव है कि उस पर जब जैसी विपत्ति आती है तब वह वैसा ही रूप अपने भीतर से प्रगट करता है। इस्लामी हमलों से बचने के लिए अथवा उनका उत्तर देने के लिए हिंदुत्व ने इस्लाम के अखाड़े में अपना जो रूप प्रगट किया, वही सिक्ख या खालसा धर्म है। सिक्ख गुरुओं ने हिंदू धर्म की रक्षा और सेवा के लिए अपनी गरदनें कटाईं, अपने जीवन का बलिदान दिया। उन्होंने अपना जो सैनिक संगठन खड़ा किया, उसका लक्ष्य भी हिंदू धर्म को जीवित एवं जागरूक रखना था इसी कारण सिक्ख सारे भारतवर्ष में हिंदुओं के प्रिय रहे हैं।"[2] ऐसे एक धर्म के बीच में वैमनस्य और द्वेष की भावना बढ़ाने में अंग्रेज सफल हुए और थोड़े समय तक इनमें भी विद्वेष की भावना बढ़ाई गई। लेकिन अंग्रेजों की यह चाल उस रूप में सफल नहीं हो सकी जिस रूप में इस्लाम धर्म के साथ हो गई। इस्लाम धर्म को मानने वाले भी सदियों से भारतवर्ष में रहते आए, उनकी भी जन्मभूमि भारतवर्ष

1. संस्कृति के चार अध्याय पृ० 430।
2. संस्कृति के चार अध्याय पृ० 404-05।

है। इसी धरती पर साथ-साथ रह कर वे विकसित हुए। सदियों साथ रहने पर भी दोनों में कहीं एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता और मिलन की भावना नहीं जग सकी। अकबर ने इस मिलन की भावना को उद्वेलित करने की चेष्टा की थी। उसने अपने जीवन में अन्य धर्मों की महत्ता स्थापित कर लोगों की धर्म के प्रति उदारता की भावना को बढ़ाना चाहा था। उसे सभी धर्मों से प्रेम था। वह सभी धर्मों की उच्चता और आदर्श को अपनाता था। उसने हिंदू-मुस्लिम खान-पान और शादी-विवाह का भी प्रचार करना चाहा था। वह चाहता था कि शाही घराने की राजकुमारियाँ अच्छे वीर राजपूतों से ब्याही जा सकें। उसने स्वयं भी एक हिंदू राजकुमारी से विवाह किया था और वह उसके धर्म का सम्मान करता था। अगर उस समय लोगों ने इस खान-पान, शादी-विवाह को मान लिया होता तो आज भारत की सांप्रदायिकता का इतिहास कुछ और ही होता। लेकिन, युग-विशेष के पंडितों ने, मुल्लाओं ने, अकबर का घोर विरोध किया। मुल्लाओं ने हिंदुओं को काफिर, इस्लाम धर्म का दुश्मन, धर्म-विद्रोही एवं नास्तिक कहा। पंडितों ने भी मुसलमानों को समझने की कोशिश नहीं की। अपनी लड़की तो मुसलमानों को डर कर दी, लेकिन उनकी लड़कियों को अपने घर लाने की उनकी हिम्मत नहीं हुई, क्योंकि उनका धर्म उनके हाथ का छुआ पानी पीने से खाना खाने से चला जाता। हिंदुओं में इन मुसलमानों को अपने धर्म में मिलाने की शक्ति नहीं थी। उन्हें रात-दिन अपने धर्म की चिंता रहती थी। मध्य युग में अगर भारतीय जनता ने अकबर और संतों के दार्शनिक समन्वय के प्रभाव को मान लिया होता तो संभवतः गांधी जी का समन्वयात्मक एकता का सिद्धांत सफल हो जाता और 19 वीं शताब्दी में भारत में जो सांप्रदायिक वैमनस्य का वीभत्स नाटक खेला गया, वह भयानक दृश्य हमारे समक्ष न आता और न 1906 में हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य के नाम पर 'मुस्लिम लीग' की स्थापना होती। धर्म के नाम पर घृणा-द्वेष इतना नहीं बढ़ता कि भारत के दो टुकड़े हो जाते। अंग्रेजों ने सांप्रदायिकता के द्वेष को इतना बढ़ाया कि देश के दो टुकड़े हो गए। वे अपने उद्देश्य में इसलिए भी सफल हुए कि देश के मुसलमानों में शिक्षा की जागर्ति नहीं थी। लोग किसी भी वहकावे की बात पर निष्पक्षता से विचार नहीं करते थे। फलतः संपूर्ण देश में सांप्रदायिकता की विषाक्त भावना प्रज्वलित हुई और जहां-तहां सांप्रदायिक दंगे होने लगे। 1885 से 1893 तक लगातार लाहौर, करनाल, दिल्ली, लुधियाना, अंबाला, मद्रास, आजमगढ़ आदि जगहों में दशहरे और मुहर्रम के अवसर पर हिंदू-मुस्लिम झगड़े और दंगे हुए। 1893-94 में बिहार और कलकत्ता में भीषण रक्तपात हुआ और भाई-भाई एक दूसरे के खून के प्यासे इसलिए हो गए कि एक ने गाय को कत्ल किया था और दूसरे ने मस्जिद के सामने बाजा बजाया था। सदियों से मुसलमान गाय खाते आ रहे थे; हिंदुओं

को आज तक इसके लिए परेशानी नहीं थी; वे महसूस करते थे कि गाय का मांस किसी दूसरे के खाने से उनका कुछ बनता बिगड़ता नहीं है। उसी तरह, मुसलमानों को पता है कि हिंदुओं के बाजे से उनके खुदा की अंखड शांति में बाधा नहीं आनेवाली है; अगर आएगी तो कयामत के दिन वह उससे स्वयं जवाब तलब कर सकता है। लेकिन, यह बात मुख्य नहीं थी। मुख्य बात तो यह थी कि उनके मन में वैमनस्य इस प्रकार डाला गया था कि वे विवेक से काम लेना नहीं चाहते थे; उनके मन में बदले की आग जल रही थी।

इस विद्वेष की भावना को बाद में जिन्ना साहब ने भी उत्तेजित किया और इसी भावना के कारण 1905 में बंग-विभाजन हुआ। 1906 में इसी भावना की प्रतिक्रिया के रूप में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई और इसी वैमनस्य की भावना को बढ़ाने के लिए पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था की गई। सांप्रदायिक वैमनस्य की भावना को शांत करने के लिए दादा भाई नैरोजी, फिरोज शाह मेहता, तिलक, गोखले, श्रीमती ऐनी बेसेंट, अरविंद घोष, सुरेंद्र नाथ बनर्जी, लाजपत राय आदि ने बहुत प्रयास किए। फल हुआ कि देश की बहुत-सारी मुस्लिम जनता कांग्रेस के साथ रही और भारत के लिए, भारत की स्वतंत्रता के लिए, कार्य करती रही। जो अपने आपको भारत-पुत्र मानते रहे, उनके मन में पाकिस्तान की कल्पना कभी नहीं आई। बार-बार उन्होंने हिंदू-मुस्लिम जनता को प्रेम, भाई-चारे, एकता, मित्रता आदि का संदेश दिया, लेकिन यह एकता बार-बार तोड़ी गई। देश में यह भावना बीच में शांत हो जाती थी, लेकिन पुनः विषमता की भावना बढ़ने लगती थी। यहाँ तक कि इकबाल-जैसे राष्ट्रवादी कवि भी सामाजिक विषमता और सर सैयद अहमद तथा उनके अनुयायियों के गलत प्रचार के प्रभाव में आकर भारत में मुस्लिम राष्ट्रीयता का अलग से प्रचार करने लगे। उन्नीसवीं शताब्दी में जो धर्म का प्रचार हुआ, उसमें हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई सभी धर्मों को मिलाकर एक धर्म बनाने का प्रयास राजा राम मोहन राय ने किया। इसकी एकता को स्वामी दयानंद सरस्वती ने आगे बढ़ाया। इसी एकता का प्रचार उस युग में विवेकानंद ने किया। राजनीतिक क्षेत्र में इस एकता का प्रचार कांग्रेस के तत्वावधान में शुरू से किया गया। कांग्रेस के नेताओं ने प्रारंभ से यही प्रयास किया कि देश में सांप्रदायिक एकता बनी रहे और देश की प्रगति हो। महात्मा गांधी ने उसी एकता के नाम पर अपना बलिदान दिया।

19 वीं शताब्दी के भारत की विभिन्न समस्याओं के समाधान के रूप में हिंदी के अनेक जागरूक कवियों और लेखकों ने भी राष्ट्रीय एकता, प्रेम और भाई-चारे का संदेश दिया। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में राष्ट्रीय एकता, सांप्रदायिक समन्वय को युग-जीवन के विकास के लिए अनिवार्य माना। वह उदार समन्वयवादी एवं

एकता के महान पुजारी थे। "मनुष्यता का अकाल" नामक निबंध में उन्होंने हिंदू-मुस्लिम एकता की निष्पक्ष आलोचना की है। उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि हिंदुओं को भी मुसलमानों की भावनाओं, उनके प्रेम, उनकी उदारता का सम्मान करना चाहिए। प्रेम का, ममत्व का हाथ दोनों ओर से बढ़ाना होगा। जीवन में मनुष्यता का अकाल नहीं होना चाहिए। यही मनुष्यता की प्रगति का मूल है। इसी मनुष्यता का बीजमंत्र 18 वीं तथा 19 वीं शताब्दी में अनेकानेक देशभक्तों, समाज-सेवकों एवं राजनीतिक नेताओं ने हमें दिया। जीवन के इसी सत्य का प्रतिफलन प्रेमचंद के साहित्य में हुआ है।

चतुर्थ अध्याय

प्रेमचंद का युग—राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवेश में

राजनीतिक अवस्था

प्रेमचंद-युग में भारतीय जीवन और समाज में क्रांति की भीषण ज्वाला सुलग रही थी। समाज की विविध समस्याएं थीं। वैसे, सन् 1857 की जनक्रांति अंग्रेजी तोपों से दवा दी गई थी। भारत पर अंग्रेजों का आधिपत्य सन् 1858 में हो चुका था। सारा देश आतंक और निराशा से पूर्ण था। भारतीय जनता विवश, मूक और शक्तिहीन दर्शक की तरह जी रही थी।

राजनीतिक क्षेत्र में उस युग का इतिहास भारतीय जीवन का एक करुण प्रसंग था। देश विदेशी दासता में जकड़ा हुआ था। भारतीय जनता अशिक्षा, अंधविश्वास और हीन भावना में डूबी थी। अंग्रेजी राज्य की स्थापना एवं शिक्षा के प्रचार से जो प्रतिक्रियात्मक भावना जगी, उसने समाज को फिर से सचेत करना शुरू किया। जीवन की विषमता से तंग आकर साहित्यकारों और समाजसेवी नेताओं में विद्रोहात्मक भावना प्रस्फुटित होने लगी।

ब्रिटिश शासन-व्यवस्था की स्थापना के 22-23 वर्ष बाद, 1880 में, प्रेमचंद का जन्म हुआ। उस समय तक देश में जागर्ति होने लगी थी। विवेकानंद के आह्वान पर लोगों में जो नई चेतना, स्फूर्ति एवं आत्मविश्वास जमने लगा था उससे संपूर्ण देश प्रभावित हो रहा था। 1885 में भारतीय कांग्रेस की स्थापना हुई। अंग्रेज सरकार एवं महारानी विक्टोरिया ने बार-बार वादे किए कि धर्म, जाति एवं वर्ण के भेदभाव के विना सभी के साथ न्याय किया जाएगा और उनकी योग्यता के अनुरूप पद दिए जाएंगे। लेकिन यह नीति कागज के पन्नों पर ही अंकित होकर रह गई। वास्तव में अंग्रेज लोग भारतीयों को सदा असभ्य, गरीब और तुच्छ समझते रहे और उनके साथ गुलामों का-सा व्यवहार करते रहे। यहां तक कि भारतीयों को अपनी योग्यता से आई० सी० एस० की कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर भी, किसी-न-किसी बहाने उस पद से वंचित कर दिया जाता था। श्री सुरेंद्रनाथ बनर्जी, श्री अरविंद घोष आदि की इसी प्रकार उपेक्षा की गई।

धीरे-धीरे लोग समझने लगे कि अंग्रेजी राज्य में भारतीय जीवन का विकास अंधकारमय है। शिक्षा-प्रचार एवं प्रेस की सहायता से जनक्रांति की भावना देश के कोने-कोने में पहुँचने लगी। लोग सजग एवं सतर्क होने लगे। प्रेमचंद के युग तक आते-आते कांग्रेस अपने अधिवेशनों एवं भाषणों के माध्यम से जनता में जागर्ति भरने लगी थी। अतएव प्रेमचंद का युग राजनीतिक जागर्ति और जनक्रांति का युग था। यह युग तिलक, गोखले और गांधी का युग था। नवयुवकों में गंभीर अशांति और विद्रोह की हलचल थी। तिलक के आह्वान पर संपूर्ण देश "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है" की घोषणा करने लगा। गोखले और लाला लाजपतराय कांग्रेस की ओर से इंगलैंड गए और वहाँ से निराश होकर लौटे। उन्होंने भारतीय जनता के समक्ष इस सत्य को स्वीकार किया कि न्याय और स्वतंत्रता मांगने से नहीं मिलेगी। उन्हें इसके लिए संघर्ष करने पड़ेंगे।

1905 में बंगाल को जनता की इच्छा के विपरीत दो भागों में बाँट दिया गया। कांग्रेस ने बंगभंग के प्रश्न को लेकर संपूर्ण देश में आंदोलन शुरू किया। अंग्रेजों की न्यायशीलता पर से उनका विश्वास उठ गया और वे समझने लगे कि ब्रिटिश शासक उन्हें भुलावे में रखने के लिए सुधारों के नाम पर राजनीतिक प्रपंच बढ़ा रहे हैं। इस युग के दो महान राजनीतिक नेता थे, विपिन, चन्द्रपाल एवं श्री अरविंद। इनके भाषणों से संपूर्ण देश में राष्ट्रप्रेम की भावना वढ़ने लगी। नवयुवक प्रतिशोध की भावना से जल रहे थे। अपनी जान हथेली पर रख कर वे शृंखलाबद्ध भारत माता को स्वतंत्र करने के लिए परेशान थे। इसी आकांक्षा को लेकर खुदीराम बोस एवं प्रफुल्ल चाकी ने मुजफ्फरपुर में जॉर्ज किंग्स फोर्ड को मारने का प्रयास किया। गलती से जॉर्ज किंग्स फोर्ड की जगह श्रीमती केनेडी एवं कुमारी केनेडी की जान चली गई। इस अपराध के लिए 18-वर्षीय खुदीराम वोस को फाँसी दे दी गई। प्रफुल्ल चाकी ने आत्महत्या कर ली। उस 18 वर्ष के बालक की फाँसी से सारा देश सिहर उठा। उसकी वीरता, उसके अपूर्व देश-प्रेम से प्रेमचंद अत्यधिक प्रभावित हुए। "कांग्रेस के भीतर तिलक का आंदोलन और कांग्रेस के बाहर क्रांतिकारियों की सरगर्मियों, और उन दोनों पर चलने वाला सरकार का नृशंस दमन-चक्र—ये सब रोज-ब-रोज मुंशीजी (प्रेमचंद) के मन को विद्रोही बनाते जा रहे थे। फिर, जब 11 अगस्त 1908 को खुदीराम को फांसी हो गई, तब उनके दिल से समझौते की वात हमेशा के लिए रुखसत हो गई। उस दिन के बाद से उनके और सरकार के बीच खुदीराम की लाश थी। इस बहादुर लड़के की शहीदाना मौत हमेशा के लिए मुंशीजी के दिल में घर कर गई और वह कभी सरकार को इस बच्चे के खून के लिए माफ नहीं कर सके। बड़ी गहरी चोट लगी दिल को, लेकिन गर्व भी कम न हुआ, और मुंशीजी, जो कभी किसी की तस्वीर-

वस्वीर घर में नहीं टाँगा करते थे, जाकर खुदीराम की एक तस्वीर ले आए और बड़े प्रेम से उसे अपने कमरे में टाँग दिया ।[1]

1907 की जुलाई में "जमाना" में प्रेमचंद ने इटली के एक महान नेता गैरिबाल्डी का जीवनचरित्र लिखा। इसमें एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि "सच है, स्वदेश-सेवा सहज काम नहीं है। उसके लिए ऊँचा हौसला, फौलाद की दृढ़ता, दिन-रात मरने-पिसने का अभ्यास और हर समय जान हथेली पर लिए रहने की जरूरत है। जब तक ये गुण अपने स्वभाव में न समा जाएँ, स्वदेश-सेवा का व्रत जबानी ढकोसला है।"[2]

"इश्के-दुनिया और हुब्बे-वतन" नामक प्रेमचंद की कहानी "जमाना" में 1908 के अप्रैल में प्रकाशित हुई थी। इसमें मैजिनी के देश-प्रेम के बहाने अपने देश की अवस्था पर लेखक के अशांत, दुखी हृदय का हाहाकार निःसृत हुआ है।

प्रेमचंद अपने देश की दुरवस्था पर चिंतित थे। प्रेमचंद का विश्वास था कि मांगने से राजसत्ता नहीं मिल सकती। "आजादी हमेशा लड़कर ली जाती है, भीख मांगने से आजादी नहीं मिला करती।"[3] उसी समय, 1907 में, प्रेमचंद ने एक छोटी कहानी लिखी थी, जिसका नाम था "दुनिया का सबसे अनमोल रतन", जिसमें उन्होंने लिखा—"खून की वह आखरी बूंद जो देश की आजादी के लिए गिरे वही दुनिया का सबसे अनमोल रतन है।" युग की पुकार पर युवकों में दंड का, मृत्यु का, भय नहीं था; वे मातृभूमि के लिए हँसते-हँसते प्राण त्यागने के लिए हमेशा तैयार रहते थे। "वंदे मातरम्" नामक पत्र में विद्रोहात्मक लेखों के लिए श्री अरविंद पर मुकदमा चलाया गया। महाराष्ट्र में 1903 की 13 जुलाई को लोकमान्य तिलक गिरफ्तार कर लिए गए और उन्हें छह साल के लिए देश से बाहर भेज दिया गया। "राजद्रोह के लिए पांच साल सजा देना तो उन दिनों मामूली बात थी।"[4] सरकारी आतंक एवं दमन-नीति के कारण, राजद्रोह का कार्य कुछ दिनों के लिए बाहर से शांत हो गया, लेकिन भीतर-ही-भीतर गुप्त रूप से क्रांति का कार्य चलता रहा। "कभी-कभी इक्के-दुक्के राजनीतिक खून भी होने लगे, जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण खून 1907 में लंदन की एक सभा में सर कर्जन वाइली का हुआ था। यह खून मदनलाल धींगड़ा ने किया था, जिसे बाद में फाँसी दी गई।"[5] इस प्रकार युवकों का प्रतिशोध बढ़ता गया। 1911 में इसी

1. कलम का सिपाही, पृ० 98।
2. वही, पृ० 99।
3. वही, पृ० 101।
4. डॉ० पट्टाभि सीतारामय्या : हिंदी संपादक—श्री हरिभाऊ उपाध्याय : कांग्रेस का इतिहास भाग-1, पृ० 66।
5. वही, पृ० 66।

प्रकार की एक और महत्त्वपूर्ण घटना घटी : जब लार्ड हार्डिंग जुलूस के साथ हाथी पर नई राजधानी दिल्ली में प्रवेश कर रहे थे तो उन पर बम फेंका गया। लार्ड हार्डिंग बच गए, लेकिन सरकार की नीति और भी कठोर हो गई। सन् 1912 में राजनीतिक विप्लव कुछ शांत हो गया था और उग्रदल वालों का कार्य सरकारी दमन-नीति के कारण कुछ कम हो गया। इसी समय 1914 में महासमर प्रारंभ हो गया। भारतीय फौज ने इस युद्ध में अंग्रेजों का साथ दिया। लेकिन उनके इस सहयोग से देश को कोई फायदा नहीं हुआ। युद्ध के समय दिए गए आश्वासनों पर बाद में कोई ध्यान नहीं दिया गया। "लोकमान्य तिलक जून 1914 में मांडले से लगभग अपनी पूरी सजा काट लेने के बाद रिहा हुए थे।"[1] आते ही उन्होंने "होम रूल" आंदोलन प्रारंभ किया। उन्होंने और श्रीमती बेसेंट ने मिलकर संपूर्ण देश में होमरूल आंदोलन प्रारंभ किया। संपूर्ण देश में पुनः नई जार्गात आने लगी। हिंदू, मुस्लिम दोनों एक होकर देश की स्वतंत्रता की प्राप्ति के प्रति पुनः सजग होने लगे। सन् 1917 में रूस में जो जन-क्रांति हुई उसने दूसरे देशों को भी क्रांति एवं स्वतंत्रता की भावना दी।

प्रेमचंद इस क्रांति की आवाज को भारतीय मजदूर-किसानों की आवाज बनाने का सपना देखने लगे थे। उन्होंने युग की आवाज को अपने साहित्य में स्थान दिया। सरकारी नौकरी करते हुए भी वे "सोजेवतन"-जैसी देशप्रेम संबंधी पुस्तक लिखने के लिए विकल रहे। उसके लिए उन्होंने अपना धनपत राय नाम बदल कर प्रेमचंद रखा। महायुद्ध के समय ब्रिटिश सरकार ने एक पत्र "वार जरनल" निकाला था। श्री मुंशी दयाराम ने, जो इसके एक सदस्य थे, प्रेमचंद को इस पत्र के उर्दू संस्करण का भार देना चाहा था। लेकिन प्रेमचंद ने यह ऑफर अस्वीकार कर दिया। वह तो जनता के महान् साहित्यकार थे। वह करोड़ों लोगों को सजग करना चाहते थे, जो गाँवों में रहते थे। वे कहते हैं, "केवल डालियों को सींचने से पेड़ पुष्ट नहीं हो सकता; इसे हरा-भरा बनाना है तो जड़ को सींचना होगा। तभी जन-क्रांति होगी और हमें पूर्ण स्वतंत्रता मिलेगी।"[2] युग की आवाज को प्रेमचंद एक प्रगतिशील सजग साहित्यकार की भांति सुनते थे। सन् 1915 में महात्मा गांधी भारतीय राजनीति में आए। इसके साथ ही राजनीतिक जीवन में जार्गात आई। गांधी जी का अहिंसा में अटल विश्वास था। आत्मशक्ति एवं देशप्रेम ने भारतवर्ष की जनता में नई स्फूर्ति, नई चेतना एवं नया विश्वास पैदा किया। जून 1918 में मौंटेग-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट प्रकाश में आई। अपने आप में यह मौंटेग-चेस्सफोर्ड-सुधार-योजना एक अच्छी चीज थी, लेकिन इस सुधार-योजना को कार्यान्वित करने का प्रयास जनता को मात्र भुलावे में डालना था।

---

1. वही, पृ० 66।
2. कलम का सिपाही, पृ० 101।

फिर, 1919 में जस्टिस रॉलेट की अध्यक्षता में एक बिल पास हुआ, जिसके आधार पर सरकार को यह अधिकार मिला कि वह जब भी चाहे किसी व्यक्ति को कानूनी कार्यवाही के बिना भी मनमानी अवधि के लिए गिरफ्तार कर ले। सर्वोच्च धारा सभा के सभी भारतीय सदस्यों ने इस विधेयक का विरोध किया, लेकिन विरोध के बाद भी यह बिल पास हो गया। महात्मा गांधी ने भी इस बिल के विरोध में जन-आंदोलन, हड़ताल, सत्याग्रह आदि के द्वारा बिल पास होने के दिन को "शोक दिवस" के रूप में मनाने का निश्चय किया।

संपूर्ण देश में गांधी जी की आवाज गूँजने लगी। इसी आंदोलन को प्रोत्साहन देने के लिए गांधी जी जब दिल्ली जा रहे थे, उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। गांधी जी की गिरफ्तारी के समाचार ने संपूर्ण देश में विद्रोह को और भी प्रज्वलित कर दिया। सरकार का दमनचक्र पुनः बड़ी तेजी से चलने लगा। इसी की प्रतिक्रिया के रूप में पंजाब के जिला अमृतसर में जलियाँवाला बाग का वीभत्स हत्याकांड हुआ। जरनल डायर ने बड़ी निर्दयता से 20 हजार लोगो पर गोली चलाई लोगों को निकलने और भागने का न तो मौका दिया, न रास्ता ही। जनरल डायर अपने भयानक आतंक से लोगों को इतना अधिक डराना चाहता था कि लोग पुनः स्वतंत्रता का नाम ही न लें। उसने कहा था कि "मैंने और भी गोली चलाई होती अगर मेरे पास कारतूस होते। सोलह सौ बार ही गोली चलाई, क्योंकि मेरे पास कारतूस खत्म हो गए थे।"[1]

जनरल डायर की उक्ति से प्रेमचंद के युग की राजनीतिक परिस्थिति की भीरता समझी जा सकती है। एक ओर लोगों में स्वतंत्रता-प्राप्ति का जोश था, दूसरी ओर सरकारी दमन-नीति अपनी पराकाष्ठा पर थी। उनकी आत्मा की आकुलता, राजनैतिक जागरूकता, उनके उस समय के साहित्य में साकार हो उठी हैं।

प्रेमचंद ने अन्याय का साथ कभी नहीं दिया। उनका विश्वास किसी विशेष दल या वाद की राजनीति में भी नहीं था। लेकिन उनकी आत्मा की विद्रोहाग्नि, सत्य की विजय का संघर्ष उनकी रचनाओं में सप्राण हो उठा। 1919-20 में "प्रेमाश्रम" में उनकी यह भावना स्पष्ट व्यक्त हुई है। विलासिया का अपमान भारतमाता के अपमान का प्रतीक बन जाता है। 1920-21 में हुए खिलाफत के महान आंदोलन से सारे देश में संघर्ष प्रारंभ हुआ। इसके साथ ही देश में असहयोग आंदोलन प्रारंभ हो गया। लोग स्कूल, कॉलेज, कौंसिल, न्यायालय, ऑफिस छोड़ने लगे। विदेशी वस्तु, विदेशी व्यक्तियों के अधीन नौकरी त्यागने के लिए लोग कटिबद्ध हुए।

गांधीजी ने कलकत्ता में राष्ट्रीय कॉलेज का उद्घाटन किया। फिर बिहार विद्यापीठ, राष्ट्रीय मुस्लिम विद्यापीठ (अलीगढ़), गुजरात विद्यापीठ आदि शिक्षण-

1. कांग्रेस का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० 133।

संस्थानों की स्थापना हुई। असहयोग आंदोलन को दबाने के लिए दमनचक्र बड़े भयावह और विस्तृत रूप में जारी था। खासकर युक्तप्रांत (आधुनिक उत्तर प्रदेश) में उसका बहुत जोर था। कई जगह तो गोलीकांड भी हुए। बहुत-से लोग बिना मुकदमे के जेलों में पड़े थे। गांधी जी की आवाज पर लोगों में राष्ट्रीय गौरव और विद्रोह की भावना इतनी बढ़ी कि भविष्य की चिंता किए बिना लोग नौकरी त्यागने लगे। प्रेमचंद ने भी 15 फरवरी 1921 को अपनी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और 16 फरवरी को वे कार्यमुक्त कर दिए गए।[1]

17 नवंबर 1921 को ब्रिटिश युवराज भारत आए। बंबई में उनका बहिष्कार किया गया। जगह-जगह विदेशी वस्त्रों की होली जलाई गई। बहिष्कारकों एवं सहयोगियों के मध्य चार दिनों तक संघर्ष होता रहा। सरकारी दमनचक्र चलता रहा। संपूर्ण भारत में करीब पच्चीस हजार व्यक्ति जेल गए। देश में गांधी जी के असहयोग-आंदोलन की शक्ति से अंग्रेज सरकार डरने लगी। लेकिन इसी समय 1922 की 5 फरवरी को उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले में चौराचौरी नामक स्थान पर कुछ क्षुब्ध लोगों ने गुस्से में आकर एक सब-इंसपेक्टर और 21 सिपाहियों को थाने में जिंदा जला दिया। गांधी जी ने इस हिंसात्मक व्यवहार से दुखी होकर तत्काल असहयोग आंदोलन को स्थगित करने का आदेश दिया। इस आंदोलन के समाप्त होने से देश में गहरा असंतोष एवं निराशा फैल गई। गांधी जी की लोकप्रियता और कम हो गई। सरकार इसी समय की प्रतीक्षा में थी। गांधी जी गिरफ्तार कर लिए गए। उन पर मुकदमा चलाया गया। देश की राजनीतिक संघर्षात्मक परिस्थिति में पविवर्तन हो गया। लेकिन राष्ट्रीयता की ज्वाला जलती रही। 1927 में साइमन कमीशन की नियुक्ति हुई, जिसका ध्येय था भारतीय प्रशासन में सुधार। लेकिन इसमें एक भी भारतीय नहीं था। जनता तब तक इन सुधारात्मक भुलावों से परेशान हो चुकी थी। इसीलिए "साइमन कमीशन" जहाँ भी गया, उसका विरोध हुआ। "साइमन, वापस जाओ!" के नारे लगाए गए। अधिकतर लोग भगतसिंह की भावना में जी रहे थे। उनके लिए भारतमाता की स्वतंत्रता ही बड़ी चीज थी। देश में जहाँ-तहाँ हिंसात्मक कार्य भी हो रहे थे।

सन् 1927 में कांग्रेस ने "पूर्ण स्वाधीनता" का प्रस्ताव पास किया। सन् 1929 में यतींद्रनाथ दास एवं फूंजी विजया की अनशन करते हुए मृत्यु हो गई। लोग अंग्रेजी सरकार के और भी खिलाफ हो गए। प्रतिक्रियात्मक घृणा एवं विद्रोह के कारण कुछ युवक बीच-बीच में अंग्रेजों पर बम फेंकते रहते थे। गांधी जी लोगों की इस हिंसात्मक प्रवृत्ति का विरोध करते थे। स्वाधीनता के उपासक प्रेमचंद का विश्वास भी हिंसा एवं इस प्रकार की उच्छृंखलता में नहीं था। उन्होंने लिखा है—"दो-चार कर्मचारियों

---

1. श्री अमृतराय : प्रेमचंद : कलम का सिपाही, पृ० 248।

की हत्या करके वे चाहे अपने को विजयी समझ लें, लेकिन यथार्थ में उनके हाथों राष्ट्र का जो अहित हो रहा है, उसका अनुमान करना कठिन है।"[1]

12 मार्च, 1930 को गांधी जी अपने 79 साथियों के साथ 'दंडी कूच' पर निकले। 5 अप्रैल को "नमक कानून विधिवत् भंग हो गया।"[2] गांधीजो को फिर गिरफ्तार कर लिया गया। लेकिन, जो अदम्य उत्साह गांधी जी ने सारे देशवासियों को दिया था, वह इतिहास के लिए नई चीज थी। उन्होंने कहा था—"अंग्रेजी राज ने भारत का नैतिक, भौतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक सभी तरह नाश कर दिया है। मैं इस राज्य को अभिशाप समझता हूं और इसे नष्ट करने का प्रण कर चुका हूं।"[3] देश-भर में विरोध की सभाएं एवं हड़तालें होने लगीं। "सविनय अवज्ञा आंदोलन" संपूर्ण देश में फैलने लगा। प्रेमचन्द को इस आंदोलन से बहुत आशा थी। उन्होंने लिखा "हमें चारों ओर अपनी विजय के लक्षण दिखाई देते हैं और हम इसी तरह क्षेत्र में डटे रहेंगे तो निस्संदेह हमारी मनोकामना पूरी होगी।"[4] ब्रिटिश सरकार ने गोलियों, लाठियों से इसे समाप्त करना चाहा, लेकिन जनता का अखंड आत्मविश्वास, शक्ति एवं उत्साह देखकर सरकार के समक्ष समझौते के सिवा कोई दूसरा रास्ता नहीं था। भारतीय महियाओं ने भी इस आंदोलन में चिरस्मरणीय एवं प्रशंसनीय कार्य किए। महिलाएं पर्दा छोड़कर बाहर आईं और देश की स्वाधीनता के लिए पुरुषों के साथ कदम-से-कदम मिलाकर कार्य करने लगीं, जेल जाने लगीं। लखनऊ की महिला स्वयं-सेविकाओं में शिवरानी देवी (प्रेमचंद जी की पत्नी) भी भाग लेने लगीं। "आखिर, नवंबर की 9 तारीख को वह पिकेटिंग करते हुए पकड़ ली गईं।"[5] सरकार ने क्रूर दमन-नीति का सहारा लिया। पाशविक निर्दयता एवं भीषण बर्बरता का क्रम चलने लगा। अंधाधुंध गोलियाँ चलाई जाने लगीं। अंत में 5 मार्च 1931 को गांधी-इरविन समझौते के कारण सविनय अवज्ञा आंदोलन स्थगित कर दिया गया। कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में गांधीजी द्वितीय गोलमेज परिषद् में सम्मिलित होने के लिए इंगलैंड गए। इस परिषद् में उठाए गए अछूतों के पृथक् प्रतिनिधित्व का उन्होंने विरोध किया। लेकिन, परिषद् से गांधी जी को निराश लौटना पड़ा। इसी समय भारत के विभिन्न प्रदेशों में सरकारी दमन-नीति का घोर चक्र चल रहा था। बंगाल में उग्र-वादियों के दमन के बहाने राजनीतिक कार्यकर्ताओं को जेल भेजा जा रहा था। बंगाल

---

1. डॉ० सुभद्रा : प्रेमचंद साहित्य में ग्राम्य जीवन, पृ० 5 (प्रथम संस्करण 1972) हंस दिसम्बर 1921, पृ० 66।
2. कांग्रेस का इतिहास प्रथम खंड, पृ० 308।
3. वही, पृ० 306।
4. श्री अमृतराय : कलम का सिपाही, पृ० 464।
5. वही, पृ० 463।

उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रांत, यू० पी० आदि प्रदेशों में सैनिक शासन का वातावरण था। उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रांत में खान अब्दुल गफ्फार खां और उनके भाई गिरफ्तार कर लिए गए। कृषि संबंधी झगड़ों के कारण जवाहरलाल नेहरू जेल भेज दिए गए। आर्थिक शोषण के कारण संयुक्त प्रांत के किसानों की अवस्था दयनीय थी। प्रेमचंद ने अपने उपन्यास "कर्मभूमि" में किसानों की इसी दयनीय अवस्था एवं जनक्रांति के युगीन सत्य का प्रतिनिधित्व किया है।

देश की इस निराशाजनक स्थिति को देखकर कांग्रेस ने पुन: सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारंभ किया। सरकारी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप गांधीजी तथा कांग्रेस की कार्यकारिणी के सदस्य तत्काल जेल भेज दिए गए। सभी मान्य कांग्रेस-कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार किया जाने लगा। कांग्रेस को गैरकानूनी संस्था घोषित किया गया। कांग्रेस के दफ्तरों पर छापे मारे गए, उन्हें नष्ट किया गया। यहाँ तक कि कहीं-कहीं उनमें आग भी लगा दी गई और समाचारपत्र जब्त किए गए।"[1] संदिग्ध व्यक्तियों को गिरफ्तार करने का अधिकार जिला-अधिकारियों को दिया गया। प्रेस की स्वतंत्रता छीन ली गई। "सरकार ने लाठी-वर्षा, शारीरिक मारपीट, गोली बौछार, सम्पत्ति जब्त व सामूहिक दंड का पूरे तौर से प्रयोग किया।"[2] चारों ओर अशांति, हाहाकार एवं आतंक फैल गया। लेकिन लोगों के उत्साह और उमंग में कमी नहीं आई। "लगभग 6 मास तक यह आंदोलन उसी उग्र रूप में चलता रहा। 1 लाख 20 हजार आदमियों को कारावास में डाला गया।[3] 4 जनवरी 1928 को गांधी जी और सरदार पटेल भी गिरफ्तार कर लिए गए। देश को अनेकानेक नए तथा कड़े आर्डिनेंस का सामना करना पड़ा। बावजूद इसके, यह आंदोलन देशव्यापी था। प्रेमचंद ने लिखा है—"इस समय तो सबसे बड़ी आकांक्षा यही है कि हम स्वराज-संग्राम में विजयी हों।"[4]

1932 के दिल्ली अधिवेशन के बाद कलकत्ता में जो कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, उस अधिवेशन में पहुँचने के पहले कांग्रेस के अनेकानेक नेता गिरफ्तार कर लिए गए।[5] कलकत्ता अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए जाते हुए पं० मदन मोहन मालवीय जी को आसनसोल में ही गिरफ्तार कर लिया गया गया। अधिवेशन-स्थल पर जब लोग इकट्ठे हुए तो पुलिस की लाठियां कार्यकर्ताओं के ऊपर पड़ने लगीं। पुलिस के अमानुषिक व्यवहार की कोई सीमा नहीं थी। इसी समय प्रधान मंत्री मेक-

---

1. कांग्रेस का इतिहास, पहला खंड, पृ० 431।
2. रामानंद अग्रवाल : हमारा राष्ट्रीय आंदोलन तथा संवैधानिक विकास, पृ० 181।
3. वही, पृ० 181।
4. संकलनकर्ता श्री अमृतराय : चिट्ठी-पत्री, भाग दो, पृ० 77।
5. कांग्रेस का इतिहास, पृ० 432 एवं 439।

डोनल्ड ने अछूतों के पृथक् निर्वाचन की घोषणा की। गांधी जी प्रारंभ से ही इस नीति का विरोध करते आ रहे थे। उनकी जीवन-रक्षा के लिए विभिन्न दलों के भारतीय नेताओं ने, जिसमें पं० मदन मोहन मालवीय तथा डॉ० अंबेदकर मुख्य थे, पूना में समझौता किया, जिसके आधार पर हरिजनों को यथेष्ट संरक्षित स्थान दिए गए। 1935 में भारत के लिए एक नया संविधान प्रस्तुत किया गया। कांग्रेस इस संविधान से प्रसन्न नहीं थी, लेकिन तब भी उसने इस चुनाव में सम्मिलित होने का निश्चय किया। 1935 में कांग्रेस के 50 वर्ष पूरे होने पर जो प्रस्ताव पास हुए उनमें मुख्य था—

स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। हम इसे जब तक न लेंगे, चैन से न बैठेंगे। सत्य-अहिंसा के रास्ते हम जाति, वर्ग एवं संप्रदाय में बिना भेद किए सभी के साथ बराबरी का व्यवहार करेंगे। मादक द्रव्यों का सेवन न करेंगे। दूसरों को भी इससे बचाएंगे। ग्राम्य उद्योगों को प्रोत्साहन देंगे, अपने लिए खद्दर स्वयं बना कर पहनेंगे। अस्पृश्यता का निवारण करेंगे और देश के लाखों भूखे मरते हुए भारतवासियों की सेवा करेंगे। राष्ट्रीय एवं रचनात्मक कार्यों में भाग लेंगे। प्रेमचंद कांग्रेस के इस मूल सिद्धांत से बहुत प्रभावित थे। देश के राजनीतिक जीवन से वे पूर्णतः प्रभावित थे। 1936 में 8 अक्टूबर को उस महान् स्वतंत्रता-प्रेमी देशभक्त साहित्यकार का निधन हो गया।

प्रेमचंद-युग की आर्थिक स्थिति

प्रेमचंद युग का भारत गरीब भारत था। अंग्रेजों की आर्थिक नीति के कारण भारतीय दिन-पर-दिन गरीब होते जाते थे। "अंग्रेजों की व्यापारिक नीति के कारण भारत का आर्थिक जीवन अस्त-व्यस्त और असंतुलित था। दरिद्रता और भुखमरी का तांडव नृत्य हो रहा था। उद्योग-धंधे छिन्न-भिन्न हो रहे थे। फलतः आर्थिक विकास अवरुद्ध हो गया और समृद्धि का प्रवाह रुक गया था। इस आर्थिक दुर्दशा ने भारत के सामाजिक जीवन को भी प्रभावित किया।"[1]

किसानों की स्थिति लगान आदि के कारण इस प्रकार दीन-हीन हो गई थी कि धरती के इन पुत्रों के घर में दोनों शाम चूल्हे नहीं जलते थे। दिन रात अथक परिश्रम करने वाले इन किसानों को भरपेट खाना नसीब नहीं था। उनका जीवन कर्ज के बोझ से दबा था। कर्ज में उनका जन्म होता था और कर्ज में ही मृत्यु।

वस्तुतः भारत में अंग्रेजी राज्य का इतिहास प्रारंभ से अंत तक आर्थिक शोषण, धूर्तता, क्रूरता एवं अत्याचार की पराकाष्ठा का इतिहास है। अंग्रेजी राज्य का प्रारंभ

1. श्री बी० एन० लूनिया : भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, पृ० 453।

व्यापार के माध्यम से हुआ था, लेकिन उनका "व्यापार के नाम पर व्यापार कम और लूट ज्यादा थी।"[1] ये अंग्रेज अपनी सुख-सुविधा के लिए भारतीय अर्थ को पानी की तरह बहाते थे। इसके अलावा, भारतीय वित्त-मंत्री इंग्लैंड ही के हितों की बात रात-दिन सोचते थे। भारत के विकास और भारतीयों की सुख-सुविधा का ध्यान उन्हें नहीं था। "अंग्रेज अपने समय के सर्वश्रेष्ठ कुटिल व्यापारी राजनीतिज्ञ थे। यह सर्वमान्य तथ्य है कि भारत की लूट पर आधुनिक इंग्लैंड का निर्माण हुआ है।"[2] अंग्रेजों की इस लूट ने भारतीय जनता को एक ओर जहां गरीब बनाया, वहाँ दूसरी ओर इंग्लैंड में बने सामान भारत में वेचे जाते थे, जिससे भारतीय हथकरघों, घरेलू उद्योग धंधों का धीरे-धीरे नाश होने लगा और इन उद्योगों में लगे सभी व्यक्ति आलसी एवं निकम्मे होने लगे।

ब्रिटिश सरकार ने किसानों के साथ मनुष्यता का व्यवहार कभी नहीं किया। उनकी जमीन की सिंचाई, खाद एवं उन्नत औजारों की वृद्धि के प्रति वह सदा उदासीन रही, जिसके कारण जमीन की फसल दिन-पर-दिन कम होती गई और किसान गरीब होते गए। देश को भीषण अकाल का सामना करना पड़ा। इसके साथ उद्योग धंधों की समाप्ति के कारण उसमें लगे लोग भी कृषि पर ही निर्भर रहने लगे। अंग्रेजों की इस कूटनीति को लक्ष्य कर लेनिन ने कहा था, "उस हिंसा एवं लूट की कोई सीमा नहीं, जिसे भारत में ब्रिटिश शासन के नाम से जाना जाता है।"[3]

प्रारंभ से ही ब्रिटिश सरकार अपनी विलक्षण अर्थिक नीति और अत्याचार के लिए प्रसिद्ध रही। भारतीय जन-जीवन को उसने किस प्रकार परेशान किया यह सर लीविस के कथन से स्पष्ट होता है। 13 फरवरी 1958 में उन्होंने हाउंस ऑफ कामंस में कहा था, "मैं पूरे विश्वास के साथ कहता हूँ कि इस धरती पर आजतक कोई भी सभ्य सरकार इतनी भ्रष्ट, इतनी विश्वासघाती और इतनी लुटेरी नहीं पाई गई जितनी ईस्ट इंडिया कंपनी की सरकार थी।"[4] एम० एल० डार्लिंग ने इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए लिखा, "भारत के बारे में सर्वाधिक दिलचस्प तथ्य यह है कि उसकी धरती समृद्ध है और लोग गरीब हैं।"[5] लेकिन यह गरीबी उन पर लादी गई थी। उन्हें जान-बूझकर गरीब बनाया गया था। उनकी भलाई के लिए, उनके उत्थान के लिए, अंग्रेज सरकार कुछ नहीं करती थी।

---

1. श्री रजनी पाम दत्त : आज का भारत, पृ० 127।
2. प्रेमचंद और गांधीवाद, पृ० 124।
3. आज का भारत, पृष्ठ 122।
4. वही, पृष्ठ 127।
5. दी पीजेंट इन प्रास्पेरिटी ऐण्ड डेट (1925), पृ० 73।

वर्षों से भारत गुलाम था। मुसलमानों ने भी प्रारंभ में इसे लूटा था। लेकिन, जब मुसलमान इसी धरती पर रहने लगे तब भारतीय स्वर्ण एवं रत्न विदेश जाने से बच गए। फिर मुसलमानों ने भी इसे अपनी जन्मभूमि मान लिया और इसकी प्रगति एवं विकास में लग गए। लेकिन अंग्रेजों ने कभी इसे अपना देश नहीं माना। वे इसे सोने के अंडे देने वाली चिड़िया के रूप में मानते रहे और भारतीय धन-दौलत को विदेश ले जाते रहे तथा भारतीय वैभव से अपने देश को उन्नत, समृद्ध करते रहे। भारत धीरे-धीरे गरीब बनता गया। ब्रिटिश की लूट, प्रताड़ना, अत्याचार ने भारत को एक दीन-हीन राष्ट्र के रूप में परिवर्तित कर दिया। अंग्रेज शासकों ने न तो उद्योग-धंधों के विकास की कोशिश की न खेती की व्यवस्था। लगान वसूल करने के लिए अंग्रेज सरकार ने जमींदारी-प्रथा चलाई। इन जमींदारों और उनके एजेंटों से गाँव के किसान परेशान थे। उपज हो या न हो, उन्हें नियत लगान की राशि जमींदारों को देनी ही पड़ती थी। लगान नहीं दे पाने पर किसानों को जमीन रेहन रखनी पड़ती थी या बेचनी पड़ती थी, जिसके कारण वे किसान से मजदूर बनने के लिए विवश होते थे।

प्रेमचंद किसानों के प्रवक्ता माने जाते हैं। उनके कष्टों, उनकी आर्थिक विपन्नता, विवशता को उन्होंने बहुत निकट से देखा था। उनके संपूर्ण कथा-साहित्य में प्रताड़ित किसानों की अकथ विवशता की कहानी वर्णित है। उनकी आर्थिक विपन्नता, उनकी दयनीय अवस्था, उनके विभिन्न कष्टों का इतिहास उनके कथा-साहित्य के पृष्ठों में अंकित है। उनका "गोदान" ग्राम्य जीवन का महाकाव्य है। उसमें सरकार की अर्थ-व्यवस्था की धूर्तता का पूरा विवरण मिलता है। प्रेमचंद का विश्वास था कि जबतक गाँवों की स्थिति में सुधार नहीं होगा, जबतक उनकी आर्थिक स्थिति नहीं सुधरेगी, उनमें शिक्षा एवं जागृति नहीं आएगी; देश की प्रगति मुट्ठी भर नागरिकों की प्रगति से संभव नहीं होगी। जब तक "टूटे फूटे फूस के झोंपड़े, मिट्टी की दीवारें, घरों के सामने कूड़े-करकट के बड़े-बड़े ढेर, कीचड़ से लिपटी हुई भैंसें, दुर्बल गायें, मनुष्यों की शोचनीय दशा, हड्डियां निकली हुई, विपत्ति की मूर्तियां और दरिद्रता के जीवित चित्र, किसी के शरीर पर बेफटा वस्त्र नहीं और भाग्यहीन ऐसे कि रात-दिन पसीना बहाने पर भी कभी भरपेट रोटियां नहीं मिलतीं"[1] ऐसे किसान होंगे, जो भारत की बहुसंख्यक जनता है, तब तक भारत की आर्थिक उन्नति कैसे हो सकती हैं?

अपने अधिकांश उपन्यासों और कहानियों में प्रेमचंद ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था और किसानों पर उसके प्रभाव का वर्णन किया है। "कर्मभूमि" "प्रेमाश्रम" "गोदान" एवं "कायाकल्प" में ग्रामीणों की शोचनीय अर्थ-व्यवस्था और उनकी दयनीय अवस्था

1. वरदान, पृ० 68।

चित्रण हुआ है। जमींदार और कारिंदों के शोषण-चक्र में ये किसान कोल्हू के बैल की तरह बँधे हैं। लगान न देने पर इनके साथ पशुवत् व्यवहार होता है। "सेवासदन" का चेतू ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के विरोध में विद्रोह करता है, पर भारतीय अर्थ-व्यवस्था के ठेकेदारों के अत्याचार तथा नृशंसता के कारण उसकी मृत्यु हो जाती है। "प्रेमाश्रम" उपन्यास के लखनपुर गाँव के प्रत्येक किसान का जीवन दीनता, विवशता, परतंत्रता एवं दरिद्रता का जीवन था। डपटसिंह के पास अपने मृत पुत्र के कफन के पैसे तक न थे। चारों ओर दरिद्रता थी। किसी के घर में धातु के बर्तन, खाट, ओढ़ना और बिछौना नहीं था।[1] उन्हें दोनों शाम खाना भी नहीं मिलता था। "कर्मभूमि" में प्रेमचंद ने दिखाया है कि जब अमरकांत "झोपड़ी में गया तो उसका हृदय कांप उठा, मानों दरिद्रता छाती पीट-पीट कर रो रही है और हमारा उन्नत समाज विलास में मग्न है।"[2]

"गोदान" में प्रेमचंद ने उस भयावह आर्थिक जीवन की आलोचना की है, जिसके कारण रात-दिन परिश्रम करने वाले किसानों का जीवन अभावों का जीवन बना हुआ है। चाहने पर भी वे पूरा लगान नहीं दे पाते हैं और कर्ज लेते हैं। और उनके कर्ज वढ़ते जाते हैं। उन्हें कर्ज से कभी छुटकारा नहीं मिलता। धनिया सोचती है, अगर दवा की जाती तो उसके बच्चे बच जाते, लेकिन वह एक धेले की दवा भी नहीं करा सकी। खेत में कटे अनाज खेत ही में तुल कर जमींदार और महाजनों के घर चले जले जाते हैं; ऐसी स्थिति में व्याज भी पूरा नहीं चुकता। "सब तरफ किफायत करके देख लिया, फायदा कुछ नहीं होता। हमारा जन्म इसलिए हुआ है कि अपना रक्त बहाएँ और बड़ों का घर भरें। मूल का दुगना सूद भर चुका पर मूल ज्यों-का-त्यों सिर पर सवार हैं।"[3] किसानों को उन्हीं महाजनों से उधार लेना पड़ता है, और तब मुश्किल से उन्हें एक जून खाना नसीब होता है। आर्थिक विपन्नता एवं विवशता की दर्दनाक अनुभूति गोदान की विशेषता है। प्रेमचंद ने युग की दुरवस्था तथा जमींदारों और महाजनों के अन्याय के यथार्थ चित्र अपने उपन्यासों में खींचे हैं। इस दिशा में उन्हें विलक्षण सफलता मिली है। शोषण, यंत्रणा तथा अत्याचार में आवद्ध जीवन के प्रति प्रेमचंद का मन सदा विद्रोह करता रहा। इसलिए उनके संपूर्ण साहित्य में गरीबों, किसानों के प्रति स्नेह, सहानुभूति और सद्भावना मिलती है। कफन के घीसू और माधव अपनी आर्थिक विपन्नता और सामाजिक अन्याय के कारण मनुष्य से जानवर बन जाते हैं। उनके अंतर की सारी कोमल भावनाएं मर जाती हैं।

प्रेमचंद ने अपने युग की असंतुलित आर्थिक अवस्था का अपने साहित्य में बड़ा

---

1. प्रेमाश्रम, पृ० 433।
2. कर्मभूमि, पृ० 142।
3. गोदान, पृ० 27-28।

ही यथार्थ चित्रण किया है। उनके जीवन का अधिकाँश समय गाँवों में बीता था। इसीलिए उन्हें ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का बड़ा गहरा अनुभव था।

सांप्रदायिक स्थिति

प्रेमचंद युग में सांप्रदायिक भावना, जो मुख्यत: हिंदू और मुस्लिम संप्रदायों के बीच थी, विद्वेषात्मक घृणा में परिवर्तित हो गई थी।

सन् 1888 में जब सर ऑकलैंड कॉलबिन संयुक्त प्रांत के लेफ्टिनेंट गवर्नर थे, तब से यह दिखाने की कोशिश मुख्य रूप से की जाने लगी कि हिंदू-मुस्लिम दोनों दो संप्रदाय हैं और मुसलमान कांग्रेस के विरोधी हैं। यहाँ तक कि ह्यूम साहब ने भी इसे महत्त्वपूर्ण समझा और इसके विषय में एक लम्बा जवाब सर ऑकलैंड को भेजा। इसमें कोई शक नहीं कि कांग्रेस के पहले दो-तीन अधिवेशनों की सफलता ने नौकरशाही के मन में हलचल मचा दी थी। मुसलमानों पर भी इसका असर हुआ। लॉर्ड कर्जन ने जान-बूझ कर बंग-भंग के द्वारा और पूर्वी बंगाल और असम को अलग प्रांत बनाकर, जिसमें मुसलमानों का बहुमत हो, यह कलुषित सांप्रदायिक भावना जगरित की। फिर, सर सैयद अहमद के द्वारा अंग्रेजों ने हिंदू-मुस्लिम प्रेम में, उनकी बढ़ती हुई मित्रता, एकता एवं सद्भावना में, फूट डालना शुरू किया। सर सैयद अहमद कंपनी के नौकर थे। उन्होंने अलीगढ़ में मुस्लिम ऐंग्लो ओरिएंटल कॉलेज की स्थापना की।

सर सैयद अहमद मुस्लिम संप्रदाय को बार-बार कांग्रेस से पृथक् रहने की शिक्षा देने लगे। उनके विचार से मुसलमानों का अंग्रेजों के साथ समझौता कर आगे बढ़ना अधिक महत्त्वपूर्ण था। सन् 1878 में उन्होंने मुस्लिम शिक्षा सम्मेलन प्रारंभ किया। यह सम्मेलन कांग्रेस की भांति ही प्रतिवर्ष किया जाने लगा। सर सैयद अहमद अलीगढ़ के प्रिंसिपल मिस्टर बेक से बहुत प्रभावित थे। प्रारंभ में सर सैयद अहमद राष्ट्रवादी थे, हिंदू-मुस्लिम एकता के पक्षपाती थे। वे मानते थे कि "हिंदू और मुसलमान हिंदुस्तान की दो आँखें हैं और दो में से एक भी न हो तो मां का चेहरा बदसूरत हो जाएगा।"[1] लेकिन बाद में वे काँग्रेस के कट्टर दुश्मन हो गए। वे कांग्रेस को हिंदुओं की संस्था मानने लगे। फिर, 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई, हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य को उत्तेजित करने के उद्देश्य से। लॉर्ड मिंटो ने इस सांप्रदायिक भावना को और भी बढ़ाया। लार्ड ने 1906 में सांविधानिक सुधार हेतु विचार-विमर्श करने के उद्देश्य से एक कमेटी निर्मित की। आगा खां की अध्यक्षता में मुसलमानों का एक दल लॉर्ड मिंटो से 1906 में 1 अक्टूबर को शिमला में मिला। उन्होंने नौकरी तथा जिला परिषद् से लेकर विधान सभा तक में सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व की मांग की। मिंटो ने

1. कांग्रेस का इतिहास प्रथम खंड, पृ० 43।

इसका स्वागत किया। इस प्रकार लॉर्ड मिंटो ने मुस्लिम सांप्रदायिकता को प्रोत्साहन दिया और मुसलमानों को एक अलग राष्ट्र के रूप में स्वीकार किया। कुछ लोगों के विचार में पाकिस्तान का जन्मदाता जिन्ना अथवा रहमतुल्ला नहीं, लॉर्ड मिंटो था। यह कहना भी अनुचित न होगा कि 1906 में सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व को मानकर लॉर्ड मिंटो ने पाकिस्तान की नींव रखी। "ब्रिटिश सरकार के प्रति हिन्दुस्तानी मुसलमानों की राजभक्ति में वृद्धि और उन सभी भ्रमात्मक विचारों का निराकरण जो सरकार के निश्चयों अथवा कानूनों से पैदा हुए हों।"[1] मुस्लिम लीग का मुख्य उद्देश्य स्वीकार किया गया।

इस प्रकार लीग ने हिंदू-मुस्लिम के भेदभाव को, उनके वैमनस्य को, भारत में क्रमश: बढ़ाना शुरू किया। परिणामत: कांग्रेस को हिंदुओं की संस्था के रूप में माना जाने लगा। बड़े-बड़े राष्ट्रवादी मुस्लिम नेता मुस्लिम लीग में शामिल होने लगे। अत: देश में हिंदू-मुस्लिम भेदभाव की भावना बढ़ने लगी। देश में जगह-जगह सदियों से साथ रहने वाले दो संप्रदायों में झगड़े, मार-पीट और लड़ाइयां होने लगीं। मुस्लिम मुल्लाओं ने भी इस वैमनस्य एवं भेदभाव को बढ़ाने में सहायता की। उन्होंने अशिक्षित मुसलमानों को हिंदुओं के खिलाफ भड़काया। भीषण वैमनस्य को बढ़ाने वाली पुस्तिकाएँ बेरोकटोक प्रकाशित होती रहीं। न इस पर ध्यान ही दिया। इन पुस्तिकाओं में मुसलमानों को शिक्षा दी जाती थी कि वे उस स्कूल में नहीं पढें जहां हिंदू बच्चे पढ़ते हैं; हिंदुओं की दुकानों से सामान नहीं लें न हिंदू को नौकरी दें, न उनकी अधीनता में नौकरी करें; हिंदुओं की बनाई वस्तुओं को स्वीकार न करें। सरकार ने जानबूझ कर इन हरकतों पर ध्यान नहीं दिया।

फिर क्या था ? दंगों का सिलसिला शुरू हुआ। 1907 में मैमन सिंह एवं कामिला जिलों में हिंदू-मुस्लिम दंगे हुए; 1910 में पेशावर में और इसके दो वर्ष बाद अयोध्या और फैजाबाद में बकरीद-त्योहार के दिन दंगे हुए। आगरा में अगले वर्ष मुहर्रम के दिन हिंदू-मुस्लिम झगड़े हुए। 1917 में बिहार के शाहाबाद जिले में जोरों के हिंदू-मुस्लिम दंगे हुए। बिहार के गया जिले में इस प्रकार के दंगे उसी वर्ष हुए। धीरे-धीरे इस प्रकार के झगड़े सारे देश में फैलने लगे। हिंदू और मुस्लिस, धर्म के आधार पर एक-दूसरे की जान के दुश्मन बन गए। लेकिन, टर्की के सुलतान को जब यूरोप ने सहायता नहीं दी, तब भारतीय मुसलमान अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध हो गए। वे कांग्रेस के निकट आने लगे। 1913 में मुस्लिम लीग के विधान में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए जिनमें यह उद्देश्य स्वीकार किया गया "वैधानिक उपयोग द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत भारत के लिए उपयुक्त स्वशासन प्रणाली प्राप्त करना तथा इस उद्देश्य की पूर्ति

1. डॉ० रामानंद अग्रवाल : हमारा राष्ट्रीय आंदोलन तथा संवैधानिक विकास पृ० 71।

के लिए राष्ट्रीय एकता तथा भारत की अन्य जातियों के साथ सहयोग व सद्भाव का विकास करना।"[1] आगा खान को मुस्लिम लीग की अध्यक्षता से त्याग-पत्र देने के लिए बाध्य किय गया। लीग में कुछ राष्ट्रवादी मुसलमान आए। 1916 में शौकतअली तथा जिन्ना साहब के प्रयत्न से लीग कांग्रेस का समझौता हो गया। कांग्रेस ने लीग की तीन सांप्रदायिक धाराओं को स्वीकार कर लिया, जिनका विरोध कांग्रेस प्रारंभ से कर रही थी।

कांग्रेस यह समझती थी कि हिंदू-मुस्लिम एकता एव सहयोग के बिना न तो भारत की प्रगति हो सकती है, न स्वराज-आंदोलन ही सफल हो सकता है। दोनों संप्रदायों के आपस में मिलने-जुलने से दोनों में प्रेम, सद्भावना, एकता एवं भाईचारे की भावना बढ़ेगी। मुसलमान लोग सांप्रदायिक वैमनस्य को धीरे-धीरे भूल जाएँगे। लेकिन, बाद में, दोनों जातियों के वैमनस्य को और भी वढ़ावा मिला। मुसलमान अल्पसंख्यक होने के कारण बार-बार अपने लिए नई-नई सांप्रदायिक मांग बढ़ाते गए। कांग्रेस का यह समझना गलत था कि मुस्लिम लीग की मांगों को मान लेने से सांप्रदायिकता की भावना समाप्त होकर एकता एवं मित्रता में परिर्वातित हो जाएगी।

पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था से, जिसे 1919 एवं 1935 में ब्रिटिश सरकार ने स्वीकार किया, दोनों संप्रदायों में मतभेद और भी गंभीर बनता गया। महात्मा गांधी एवं मदनमोहन मालवीय ने लीग एवं कांग्रेस में सद्भावना लाने का प्रयास किया, जिसके फलस्वरूप असहयोग आंदोलन में दोनों ने भाग लिया। लेकिन, जब 1922 में महात्मा गांधी ने असहयोग आंदोलन समाप्त किया तब देश के विभिन्न भागों में हिंदू-मुसलमान के दंगे होने लगे और हिंदू-मुसलमानों के मतभेद बढ़ने लगे। हिंदुओं के शुद्धि-आंदोलन के कार्यक्रम से मुसलमानों में भ्रम फैला; वे हिंदू-विरोधी होने लगे। इसी समय तुर्की में खिलाफत का उन्मूलन हो गया, जिससे भारतीय मुसलमानों के हिंदुओं के साथ मिलकर संघर्ष करने के आधार ही समाप्त हो गए। ब्रिटिश सरकार ने इन दंगों को रोकने का प्रयास नहीं किया। दोनों संप्रदायों के समझदार व्यक्तियों ने दोनों संप्रदायों में शांति के लिए बार-बार प्रयास किया, लेकिन इस प्रयास का कोई फल नहीं निकला।

जब साइमन कमीशन भारत में आया तो संपूर्ण देश में सांप्रदायिक तनाव बहुत ही गंभीर था। 1929 में मुस्लिम लीग के प्रति अंग्रेजों की सहायता एवं सहयोग ने उसे और भी अधिक सांप्रदायिक बना दिया। दूसरे गोलमेज सम्मेलन के बाद रैम्जे मैकडोनाल्ड ने सांप्रदायिक निर्णय की घोषणा की, जिसके आधार पर मुसलमानों की मांग को पूरा किया गया। फलत: देश में सांप्रदायिक विद्वेष की भावना भीषण

1. डॉ० रामानंद अग्रवाल : हमारा राष्ट्रीय आंदोलन तथा संवैधानिक विकास, पृ० 83।

रूप से बढ़ने लगी। 'पूना समझौता' से ऐसा आभास लगा कि सांप्रदायिक समस्याओं को सुलझाया जा सकता है और पुन: देश में शांति, समन्वय एवं प्रेम की भावना जागरित की जा सकती है।

गांधीजी दोनों संप्रदायों के मेल की वात पर ध्यान ही दे रहे थे कि अंग्रेजों ने उन्हें वंदी वना लिया। राष्ट्रवादी नेताओं में डॉ० सैयद महमूद, मौलाना शौकत अली तथा पं० मदन मोहन मालवीय ने 1932 के नवंबर महीने में इलाहाबाद में हिंदू-मुस्लिम एकता सम्मेलन किया। जिसमें हिंदू-मुस्लिम, सिक्ख एवं अन्य जातियों के नेता सम्मिलित हुए। इन बैठकों में यह विचार पेश आया कि मुसलमानों के लिए केंद्रीय विधानमंडल में 32 प्रतिशत प्रतिनिधित्व प्राप्त हो एवं सिंध को वंवई से अलग कर दिया जाए। सांप्रदायिक समन्वय का यह प्रयास सफल ही होने वाला था कि ब्रिटिश सरकार ने मुसलमानों को 33 प्रतिशत प्रतिनिधित्व एवं सिंध को वंवई से पृथक करने की मांग को लंदन में सर सैमुयल होर के द्वारा घोषित करा दिया, जिससे सांप्रदायिक समन्वय का प्रयास छिन्न-भिन्न हो गया। सांप्रदायिकता को प्रश्रय देने वाले मुस्लिम नेता सरकार का रुख देखकर अपनी मांग बढ़ाते गए। उनकी चौदह शर्तों वाली मांग को भी ब्रिटिश सरकार ने करीव-करीब मान लिया। ब्रिटिश सरकार की मनोकांक्षा ने धीरे-धीरे मुस्लिम लीग में पाकिस्तान की आकांक्षा को मुसलमानों में जन्म दिया। इस मांग ने भारतीय जीवन में सांप्रदायिकता के संघर्ष को सजीव कर दिया। हिंदू-मुस्लिम की मन:स्थिति परिवर्तित होने लगी। हिंदुओं के लिए भारत के विभाजन की वात एक महान विचित्र एवं दुखद आवाज थी, क्योंकि हजारों वर्षों से यह धरती उनकी अपनी धरती थी। अरव से आए इन विदेशियों के लिए इसे खंडित करना उनके लिए एक वड़ी ग्लानि की वात थी। कुछ मुस्लिम लोग भारत में हिंदुओं के साथ रहने के लिए तैयार नहीं थे। उनके विचार से पाकिस्तान एक पवित्र देश होगा जहाँ अल्लाह के आदर्शों पर मानव-मानव की समानता का राज्य होगा; वह ऐसी धरती होगी जहाँ मुस्लिम जनता की सारी आशाएँ, आकांक्षाएँ साकार होंगी।

भारत के मुसलमानों के लिए एक पृथक् राज्य का विचार संभवतः सवसे पहले डॉ० मुहम्मद इकवाल के दिमाग में आया। 1930 में इलाहावाद में मुस्लिम लीग के एक विशेष अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण देते हुए उन्होंने उत्तर-पश्चिमी भारतीय मुस्लिम राज्य की स्थापना की योजना प्रतिपादित की। प्रेमचंद ने भी लिखा था—डॉ० सर मुहम्मद इकबाल पश्चिम में मुस्लिम राज्य का स्वप्न देख रहे थे। अव उनके भी एक उस्ताद निकल आए हैं; वह पाकिस्तान के नाम से एक मुस्लिम साम्राज्य का स्वप्न देख रहे हैं।[1] 1940 तक जिन्ना ने भी इसे कुछ युवकों का स्वप्न-मात्र ही

1. श्री अमृतराय, विविध प्रसंग, खंड 2 (पाकिस्तान की खोज), पृ० 409, 14 मई 1933।

समझा था और इसे विशेष महत्त्व नहीं दिया था। लंदन से प्रकाशित पत्रिका "टाइम एंड टाइड" में 19 जनवरी 1940 को जिन्ना ने लिखा था – भारत में दो राष्ट्र हैं, जिन्हें एक ही मातृभूमि के प्रशासन में भागीदार होना चाहिए। लेकिन तीन महीने बाद वह पूरी तरह पाकिस्तान की मांग के नेता बन गए।"[1]

हिंदुओं के मन में भी पाकिस्तान बनने की प्रतिक्रिया विभिन्न रूपों में हुई। हिंदू महासभा का जन्म हुआ और उसका तीव्रगति से प्रचार होने लगा। हिंदू महासभा के नेताओं ने हिंदू राज्य की स्थापना की इच्छा प्रकट की, जिसमें मात्र हिंदू रहें। हिंदू राष्ट्र का श्री सावरकर तथा श्री भाई परमानंद ने प्रचार किया। दोनों ओर से सांप्रदायिक समन्वय के विरुद्ध भीषण प्रचार हुआ। जिस सांप्रदायिक विद्वेष को अकबर तथा उदार सूफी-संतों ने समाप्त करना चाहा था, उसे राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा ने फिर से उभार दिया और घृणात्मक वैमनस्य तथा दुश्मनी जगा दी। कांग्रेस ने जब सांप्रदायिक, जातिगत एवं धर्म पर आधारित चुनाव को स्वीकार नहीं किया तव मिस्टर जिन्ना को पाकिस्तान की मांग पर जोर देना इसलिए आवश्यक हो गया कि वे सांप्रदायिक, भावना को प्रज्वलित करना चाहते थे और उस आधार पर कोई नई बात मुस्लिम जनता के समक्ष रखना चाहते थे, जिससे मुस्लिम जनता उत्तेजित हो सके; इसीलिए उन्होंने एक ऐसे आदर्श प्रदेश की कल्पना की जिससे अधिकांश मुसलमान प्रभावित हो गए। वैसे, उन्होंने 1936-37 के चुनाव में यह देख लिया था कि मुस्लिम बहुमत वाले प्रदेशों में—जैसे, पंजाब, सिंध, उत्तरी पश्चिम सीमा-प्रांत तथा बंगाल में जो चुनाव हुए उनमें मुस्लिम प्रतिनिधि बहुसंख्या में नहीं आ सके। इस चुनाव के परिणाम को देखकर देश की वास्तविक स्थिति का अनुमान किया जा सकता था। देश में तब तक सांम्प्रदायिक उत्तेजना उस रूप में नहीं थी जैसी मुस्लिम लीग और हिंदू महासभा के नेताओं ने वाद में बढ़ा दी। इससे भारतीय संप्रदायों में संघर्ष जागरित होने लगा था।

हिंदू और मुस्लिम को दो राष्ट्र, दो जाति एवं दो धर्म मानने वाले, दोनों ओर से इतना प्रचार कर रहे थे कि गांधीजी-जैसे अखिल भारतीय नेता का समन्वय का प्रयास सांप्रदायिक घृणा और द्वेष की आंधी में समाप्त हो रहा था। मुस्लिम लीग और हिंदू महासभा के प्रचार से जनता अधिक प्रभावित होने लगी थी। इसके साथ ही अंग्रेजों की "फूट डालो, राज करो" की नीति के कारण सांप्रदायिकता की आग अत्यधिक प्रज्वलित होने लगी थी।

अंग्रेज बार-बार यह कह रहे थे कि भारत की परिस्थिति इंगलैंड की तरह नहीं है। अतः यहाँ किसी एक दल, संप्रदाय या धर्म के लोगों को राज्य की सत्ता

---

1. डॉ० रामानंद अग्रवाल : हमारा राष्ट्रीय आंदोलन तथा संवैधानिक विकास, पृ० 275।

देना उचित नहीं। जिन्ना साहब की सांप्रदायिक माँग पर कई राष्ट्रवादी नेताओं ने लीग छोड़ दी। पाकिस्तान की मांग का विरोध सभी राष्ट्रवादी मुसलमानों ने किया था।

प्रेमचंद को सांप्रदायिक वैमनस्य उभारने वालों से बहुत घृणा थी। वे कहते थे कि हिंदू-मुस्लिम दंगों के समय सरकार चुप क्यों बैठ जाती है। "बुद्धि यह मानने को तैयार नहीं होती कि जो सरकार राजनीतिक आंदोलन का दमन करने में इतनी तत्परता से काम ले सकती है, इतनी आसानी से गोलियां चलवा सकती है, वह इस अवसर पर इतनी अशक्त हो गई कि उसकी उपस्थिति में रक्त की नदी बह गई और वह कुछ न कर सकी।"[1] सांप्रदायिक बँटवारे और सांप्रदायिक आधार पर नौकरी के बँटवारे को वे सरकार की "फूट डालो, राज्य करो" की नीति मानते हैं। वे लिखते हैं, "इस प्रकार सांप्रदायिकता का पोषण करके वह हमारी राष्ट्रीयता को हवा में उड़ा देना चाहती है। सरकार का यह रुख बड़ा भयावह है। राष्ट्र के लिए यह कितना खतरनाक सिद्ध होगा। इसकी कल्पना करते ही महान खेद होता है। लेकिन सरकार को इसकी क्या परवाह? उसे तो राष्ट्रीयता छिन्न-भिन्न करनी है। नौकरियों के इस प्रकार विभाजन से क्या होगा? यही होगा कि सांप्रदायिक द्वेष की मनोवृत्ति पनपेगी, धर्मांधता बढ़ेगी, हृदय ईर्ष्यालु होंगे, योग्यता का मूल्य गिर जाएगा। मूल्य रहेगा सांप्रदायिकता का। उसका भयावह तांडव दृष्टिगोचर होगा और यह राष्ट्र के लिए कितना घातक हो सकता है, यह किसी भी समझदार व्यक्ति की समझ से बाहर की बात नहीं है। हिंदुओं और मुसलमानों का एक होना वह पसंद नहीं करती और इसी कामना से उसने राष्ट्रीय जीवन में इस सांप्रदायिक विष का इंजेक्शन किया है।"[2]

प्रेमचंद सांप्रदायिकता को समाज का कोढ़ समझते थे। उन्होंने लिखा है— "हम तो सांप्रदायिकता को समाज का कोढ़ समझते हैं, जो हर एक संस्था में दलबंदी करती है और अपना छोटा-सा दायरा बना सभी को उससे बाहर निकाल देती है।"[3] गांधीजी के आदर्शों को वे संपूर्ण देश के लिए अनिवार्य मानते थे। उन्होंने हिंदुओं और मुसलमानों को बार-बार समझाने की कोशिश की कि हमें स्वार्थ-सिद्धि के लिए जगह-जगह आपसी मारकाट नहीं करनी चाहिए। प्रेमचंद का युग सांप्रदायिक दंगों का युग था। सारे देश में जहाँ-तहां सांप्रदायिकता का ताण्डवनृत्य हो रहा था। देश के राष्ट्र-वादी नेता दोनों दलों में एकता का प्रयास करते रहते थे, लेकिन कुछ सांप्रदायिक

1. विविध प्रसंग (खंड 2), पृ० 363, मार्च 1931।
2. वही (खंड 2), पृ० 433-जुलाई 1934।
3. वही, खड़ 3, पृ० 152-153-फरवरी 1934।

तत्त्व उस एकता को सफल होने देना नहीं चाहते थे। प्रेमचंद कहते हैं, "हमारी ईश्वर से यही प्रार्थना है कि वह हमें सन्मार्ग दिखाए और हम सांप्रदायिकता से ऊपर उठ कर राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर हो सकें।"[1] लेकिन कुछ सांप्रदायिक मुसलमान, जो मुस्लिम राज्य का स्वप्न देख रहे थे, इस एकता को मानने के लिए कभी तैयार नहीं होते थे। गांधीजी जैसे आदर्शवादी नेता सांप्रदायिक एकता के लिए पाकिस्तान की मांग पर देश को दंगों एवं मारकाट में उलझाए रखने वाले लोगों से बार-बार यही कह रहे थे कि "पाकिस्तान के सवाल से मेरे मन में कोई भ्रम नहीं है। चाहे कुछ भी हो, पाकिस्तान हिंदुस्तान के बाहर नहीं बन सकता। हम सभी को एक दूसरे के साथ कंधे से कंधा मिलाकर देश की आजादी की कोशिश करनी चाहिए।"

गांधीजी की तरह प्रेमचंद भी संपूर्ण देश की भलाई की बात सोचते थे। मानव-मात्र को वे बराबर और समान मानते थे। वे मानवता के पोषक थे। वे विश्व-व्यापी भ्रातृत्व, स्नेह और शांति के आकांक्षी थे। धर्म के नाम पर जाति एवं रंग के नाम पर मनुष्य-मनुष्य के भेद-भाव को वे संकुचित भावना मानते थे। उनका उदार-वादी दृष्टिकोण संपूर्ण संसार के सांप्रदायिक समन्वय की भावना है। वे संपूर्ण विश्व में शाश्वत शांति, न्याय, प्रेम और सहृदयता चाहते थे। वे सांप्रदायिकता को संपूर्ण देश के लिए प्रगति का अवरोधक एवं मानवता के लिए विनाश का मार्ग मानते थे। वे बार-बार एकता, समन्वय एवं प्रेम की बात बताते थे। अपने उपन्यासों में भी उनका यही ध्येय था कि व्यक्ति आपसी संकुचित भावनाओं से ऊपर उठकर मानव-कल्याण की ओर उन्मुख हो। ऐसे ही युग की पृष्ठभूमि में उन्होंने अपने उपन्यासों की रचना की थी। इसीलिए उनके उपन्यासों में जीवन का सत्य प्रेम एवं एकता में समाहित मिलता है।

सांस्कृतिक अवस्था

प्रेमचंद-युग सांस्कृतिक दृष्टि से प्रगति की ओर बढ़ रहा था। प्राचीन मान्य-ताओं के प्रति लोगों का विश्वास खंडित हो रहा था। जीवन-प्रगति के लिए कौन-सी संस्कृति को ग्रहण करना चाहिए, इसे समाज अनुभव करने लगा था। यह दूसरी बात है कि सामाजिक आलोचना से लोग घबराते थे और कोई भी क्रांतिकारी कदम उठाने से पहले वे सामाजिक मान्यता के प्रति संदिग्ध दृष्टि से देखते थे।

भारतीय इतिहास का यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि सदियों तक सभ्यता संस्कृति के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति करने वाला यह देश कालांतर में अपने सांस्कृतिक जीवनक्षेत्र में पतनोन्मुख हो गया और सदियों तक सुषुप्तावस्था में पड़ा रहा। उसकी

1 वही, पृ० 395-नवंबर 1932।

चिंतन-प्रतिभा कुंठित हो गई। उसका धर्म मात्र बाह्य आडंबरों तक सीमित हो गया; समाज शिक्षा के अभाव में अंधविश्वासों, धर्मांधता, अस्पृश्यना एवं सामाजिक रूढ़ियों में उलझ गया। इस्लाम धर्म एवं संस्कृति के आगमन से भी भारतीय संस्कृति का कोई विशेष संघर्ष उस युग में परिलक्षित नहीं होता। इस्लाम से संघर्ष करने की शक्ति या उसको समन्वित करने की क्षमता उसमें नहीं रह गई थी।

नव-सांस्कृतिक चेतना का अभ्युत्थान हमारे देश में 19 वीं शताब्दी की देन है, कारण चाहे जो भी रहा हो। यह युग आधुनिक जीवन में चतुर्दिक् उत्थान का युग है। इसका प्रारंभ पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता, साहित्य एवं संस्कृति के आगमन के साथ-साथ होता है।

पाश्चात्य सभ्यता-संस्कृति के आगमन ने भारतीय जीवन को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से प्रभावित करना शुरू किया। ईसाई धर्म के प्रचार के कारण जो प्रतिक्रिया हुई, उसी प्रतिक्रिया का फल "ब्रह्म समाज" था, जिसमें एक ईश्वर की उपासना की महत्ता को स्वीकार किया गया था, मूर्तिपूजा को व्यर्थ माना गया था। राजा राममोहन राय का विचार था कि जाति, धर्म, वर्ग, संप्रदाय आदि का भेद-भाव किए बिना सभी लोग ब्रह्म समाज में सम्मिलित होकर उस परम ब्रह्म की उपासना कर सकते हैं; इस उपासना में किसी मूर्ति या कर्मकांड का प्रयोग नहीं किया जाएगा। राजा साहब का विचार था कि देश की प्रगति के लिए हिंदू धर्म को बाह्याडंबर और अंधविश्वास से बाहर निकालना होगा। इसके लिए भारतीयों को शिक्षित होना आवश्यक है। भारतीय जीवन-विकास के लिए उन्होंने पाश्चात्य शिक्षा-विज्ञान आदि को आवश्यक माना। राजा साहब की पाश्चात्य धर्म एवं शिक्षा के प्रति आस्था देखकर लोग उन्हें ईसाई धर्मावलंबी मानने लगे थे। लेकिन सत्य यह था कि राजा साहब लोगों को ईसाई बनने से बचाने के लिए प्रयत्नशील थे और वेदांत के एकेश्वरवाद को प्रचारित कर रहे थे। ब्रह्म समाज के माध्यम से राजा राममोहन राय ने नवयुग को प्रगति का नया संदेश दिया, जिस पर चलकर देश का सांस्कृतिक-राजनीतिक जीवन विकसित हुआ। ब्रह्म समाज के तत्त्वावधान में राजा साहब ने प्राचीन हिंदू जाति के मन में बैठे हुए संकीर्ण अंधविश्वास को हटाने का प्रयास किया; बाल-विवाह एवं बालिका-हत्या की प्रथा को समाज के लिए कलंक माना; समाज में स्त्रियों के समानाधिकार का समर्थन किया। संपूर्ण देश की आधी निर्जीव आबादी स्त्रियों की थी; उनके व्यक्तित्व में क्रांतिकारी परिवर्तन की आवश्यकता पर उन्होंने प्रकाश डाला। स्त्री-शिक्षा एवं विधवा-विवाह को सामाजिक प्रगति के लिए अपेक्षित माना। इसके साथ ही, परंपरा से आती हुई सती-प्रथा का विरोध किया। अपने अथक प्रयास से उन्होंने सरकारी सहायता से सती-प्रथा को अवैध घोषित करवाया। इस प्रकार, कानूनी बंधन के द्वारा स्त्रियों पर पुरुषों के बर्बर अत्याचार के अंत के लिए उन्होंने अकथनीय परिश्रम किया। समाज-सुधार की दिशा में राजा साहब का कार्य क्रांतिकारी था। अपने इन्हीं क्रांतिकारी कार्यों से राजा साहब

भारत में नवयुग के संदेशवाहक और नवजागरण के पिता के रूप में माने जाते हैं। भारतीय राष्ट्रीयता का बीज उन्होंने ही बोया। सामाजिक-धार्मिक सुधार के द्वारा उन्होंने युग-विशेष को एक अमूल्य मंत्र दिया था। वह मंत्र था जातिप्रथा की व्यर्थता का, धार्मिक आडम्बरों के बहिष्कार का।

प्रेम की भावना को लेकर महाराष्ट्र में "प्रार्थना समाज" की स्थापना हुई। फलतः सामाजिक, धार्मिक, शिक्षा संबंधी कार्यों का प्रारंभ हुआ। इस संस्था के माध्यम से जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे ने समाज की जागर्ति का प्रयास किया; महिलाओं के अधिकार एवं उनके जीवन-विकास के लिए अनेकानेक कार्य किए। अनाथालयों, विधवाश्रमों, कन्या पाठशालाओं की स्थापना के साथ-साथ अछूतोद्धार का कार्य किया गया। विधवा-विवाह एवं अंतर्जातीय विवाह को प्रोत्साहन दिया जाने लगा। तिलक, गोखले तथा आगरकर इसके सदस्य थे। इन्होंने सामाजिक जीवन की प्रगति के लिए अनेकानेक शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना में सहयोग दिया।

उस युग के जीवन में धार्मिक-सामाजिक जागर्ति लाने का महत्त्वपूर्ण श्रेय आर्यसमाज को है। जो कार्य बंगाल में राजा साहब ने किया उत्तरी भारत में वैसी ही सामाजिक-धार्मिक क्रांति का कार्य स्वामी दयानंद सरस्वती ने किया। इन्होंने भी "ईश्वर एक है" की वेदांत-मीमांसा को जीवन के लिए अपेक्षित माना। बाह्य पूजा, अवतार, श्राद्ध, पिंडदान आदि को पंडितों का आडंबर माना। "हिंदू-धर्म-विषयक दयानंद के विचार सचमुच क्रांतिकारी थे। वेदों की शिक्षा को सर्वसाधारण जनता तक पहुँचाने के लिए उन्होंने वैदिक संहिताओं का हिंदी भाषा में अनुवाद किया।"[1] आर्य समाज के माध्यम से स्वामी दयानंद सरस्वती ने भारतीय सामाजिक-राजनीतिक जीवन में विद्यमान हीनता की भावना को हटाने का प्रयास किया। प्राचीन भारत की गौरव-गरिमा के साथ भारतीय संस्कृति की उदारता को उन्होंने स्वीकार किया। इसी आदर्श को लेकर उन्होंने शुद्धि-आंदोलन का प्रयास किया। अनेकानेक स्कूल खोले, विधवा-विवाह तथा अछूतोद्धार आंदोलन चलाया, एवं जाति-भेद को समाप्त करने के लिए अनेकानेक संस्थाओं की स्थापना की। उनके प्रचार का कार्य आर्य समाज ने चलाया।

उस समय बंगाल में स्वामी रामकृष्ण परमहंस का कार्य महान् धार्मिक आंदोलन को नवसंदेश एवं प्रेरणा देनेवाला था। उन्होंने किसी संस्था के माध्यम से नहीं वरन् अपने प्रयास से धर्म की मूलभूत एकता को हमारे समक्ष उपस्थित किया। वे विश्वधर्म की एकता का संदेश देते थे। उन्हीं के शिष्य स्वामी विवेकानंद ने, जो उनके उच्च त्यागमय जीवन, पवित्र आदर्शों एवं गंभीर अध्यात्मचिंतन से प्रभावित थे, भारतीय जीवन में धार्मिक-सामाजिक क्रांति के लिए अभूतपूर्व कार्य किया। भारतीय धर्म को

---

1. डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० 602, संशोधित तृतीय संस्कार जनवरी 1960।

विश्वधर्म सम्मेलन के समक्ष उच्चतम एवं प्राचीनतम उद्घोषित कर उन्होंने निराश, विपन्न और अपने को हीन, जंगली समझने वाले भारतीयों को नवजीवन का संदेश दिया। उन्होंने आत्मविश्वास जगाया, आत्मगौरव की भावना भरी; 'रामकृष्ण मिशन' नामक संस्था स्थापित कर भारतीय जीवन में सांस्कृतिक नवचेतना को नवस्फूर्ति दी। भारतीयों के लिए उन्होंने "सत्यमेव जयते नानृतम" (सत्य की विजय होती है, असत्य, की नहीं) का अमर संदेश दिया। इसी सत्य की विजय को राजनीतिक पथ का मापदंड बनाकर गांधीजी ने देश को स्वतंत्रता का प्रभात दिया।

उस युग में धार्मिक-सांस्कृतिक जागृति के साथ थियोसोफिकल सोसाइटी के कार्य एवं भारतीय धर्म के प्रति सम्मान के भाव ने भी भारतीय सांस्कृतिक जीवन-विकास को प्रोत्साहित किया। देश में विभिन्न शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना होने लगी। विभिन्न धार्मिक-सामाजिक आडंबरों के प्रति प्रतिक्रियात्मक आंदोलन के कारण उसके सुधार के लिए कानून बनाए जाने लगे। ऐसे कानूनों में बालहत्या-उन्मूलन का कानून बना, विधवा-विवाह को अनुमति मिली, सती-प्रथा एवं बहुविवाह पर रोक लगाई गई, दास-प्रथा या दासों के क्रय-विक्रय को अपराध और गैरकानूनी घोषित किया गया।

अतः समाज-सुधार और धार्मिक शिक्षा संबंधी प्रचार से दलित जातियों में नवीन स्फूर्ति एवं चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। सांस्कृतिक अभ्युत्थान एवं जागृति के क्षेत्र में ईसाई-धर्म-प्रचारकों एवं ईसाई संस्थाओं के कार्य भी महत्त्वपूर्ण हैं। वैसे, इन ईसाई धर्मावलंबियों का मुख्य उद्देश्य लोगों को ईसा के अपूर्व गुणों की ओर आकर्षित करना और उन्हें ईसाई बनाना था। लेकिन, इनके प्रचार से भारतीय संस्कृति को प्रत्यक्ष लाभ पहुँचा। ईसाई-धर्म-प्रचार के कारण लोग शिक्षित होने लगे। लोग अपने धर्म को समझने का प्रयास करने लगे।

सामाजिक क्षेत्र में उपेक्षित दलित जातियों को ईसाई बनते देखकर उच्चवर्ग के हिंदुओं को उनके महत्त्व का आभास हुआ और सामाजिक समानता की भावना हिंदुओं में भी बढ़ने लगी। अनेकानेक धार्मिक-सामाजिक संस्थाओं के द्वारा अछूतोद्धार का कार्य किया जाने लगा। "1906 में दलित जाति मिशन संस्था की स्थापना की गई।"[1] प्रेमचन्द के युग में इन अछूतों की प्रगति एवं विकास के लिए बहुत कार्य हुआ। महात्मा गांधी ने इन्हें हरिजन के रूप में स्वीकार किया। वे सदा इनकी प्रगति के लिए प्रयत्नशील रहे। देश से अस्पृश्यता को दूर भगाने के लिए उन्होंने महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किया। कांग्रेस के द्वारा इस जाति-वर्ग-धर्म-भेद को गांधी जी ने समाप्त करने के लिए अथक प्रयास किया। प्रेमचंद ने अपने साहित्य में इन्हीं दलित वर्गों के प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित किया है। समाज के द्वारा त्याज्य, विपन्न और अस्पृश्य समझे जाने वालों के लिए उन्होंने साहित्य के माध्यम से क्रान्ति की भावना

1. भारत, 1526 से आगे (तृतीय संस्करण), पृ० 553।

उत्पन्न की। प्रेमचंद उन लोगों के साहित्यिक नेता थे, जिनके लिए समाज में कोई स्थान नहीं था। प्रेमचंद उनके लिए समानता का अधिकार मांगते थे। अपने संपूर्ण कथा-साहित्य में प्रेमचंद इन्ही के अधिवक्ता बने रहे।

प्रेमचंद अपने युग की सांस्कृतिक भावनाओं से अत्यधिक प्रभावित थे। वे एक सजग साहित्यकार थे। समाज की अव्यवस्था, धार्मिक-सामाजिक विडंबना के प्रति विद्रोह उनके साहित्य में वर्णित है। धर्म के नाम पर युगों से चली आती हुई जातिप्रथा के कारण हिंदू समाज जर्जर हो गया था। लेकिन पंडित अपने स्वार्थ के लिए उसमें थोड़ा भी परिवर्तन करने के लिए तैयार नहीं थे। इस युग में अस्पृश्य जातियों का एक विराट् समूह समाज से उपेक्षित और त्याज्य था। मन्दिरों में उनका प्रवेश निषिद्ध था। वे उस कुएँ का पानी नहीं पी सकते थे जिस कुएँ का पानी दूसरी ऊंची जाति के लोग पीते थे। उनकी सामाजिक मान्यताएं भिन्न थीं। इस युग का समाज कर्मकांड एवं बाह्य आडंबरों को धर्म मानता था। धर्म पंडितों के हाथ का खिलौना बना हुआ था। ये पण्डे, पुरोहित धर्म के नाम पर, साधारण जनता को डरा-धमका कर उनका शोषण करते थे। वस्तुतः पंडों का यह वर्ग धूर्त, स्वार्थी एवं भोगविलास-निमग्न था। मंदिरों में धर्म के स्थान पर दुराचार और अधार्मिक कार्य होते थे। इन पंडों का धार्मिक सिद्धांत व्यक्ति की आर्थिक स्थिति के अनुसार बदलता रहता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों में भी अनेकानेक प्रजातियाँ विकसित हो गईं और अपनी ही जाति में वे एक-दूसरे से इतने छोटे-बड़े माने जाने लगे कि उनके साथ संबंध की बात सोचना अनुचित माना जाने लगा। शूद्रों के प्रति अस्पृश्यता का अन्याय इतना अधिक बढ़ा कि उनकी छाया-मात्र से जाति जाने का डर लोगों में होने लगा।

प्रेमचंद के युग में इन मान्यताओं के विरुद्ध विद्रोह होने लगा। विशेषकर पढ़े-लिखे लोग सामाजिक अन्याय को मिटाने में संलग्न होने लगे। प्रेमचंद ने अपने साहित्य में धर्म एवं जाति को कभी मान्यता नहीं दी। वे मानते थे कि देश की स्वतंत्रता के लिए छुआछूत जैसे भयंकर अंधविश्वास को दूर करना आवश्यक है।

प्रेमचंद के युग में नारी-जागर्ति का कार्य तीव्र गति से होने लगा था। शिक्षा का प्रचार हो रहा था। नारियों को अपनी अवस्था का ज्ञान होने लगा था। पर्दे की प्रथा इस युग में समाप्त होने लगी थी। 1926 में "अखिल भारतीय महिला परिषद्" की स्थापना हुई। उसके माध्यम से नारी-जागर्ति का कार्य संपूर्ण देश में फैलने लगा। नारी-जागर्ति में गांधीजी का कार्य जीवन-विकास के लिए महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने महिलाओं में आत्मविश्वास पैदा किया, राष्ट्रीय आंदोलन में उनके सहयोग को महत्त्वपूर्ण माना। समानाधिकार का व्यावहारिक रूप गांधीजी की प्रेरणा से नारियों को मिला। प्रेमचंद के साहित्य की नारी सजग और सचेत है। वह युग

तथा समाज की स्थिति को समझती है, समाज और देश की जागर्ति में सहायिका के रूप में कार्य करती है।

प्रेमचंद-युग में धार्मिक-सामाजिक जागरण के साथ ही साहित्यिक जागर्ति भी खूब हुई। साहित्य समाज से प्रभावित होने लगा। समाज-सुधार की भावना से प्रेरित होकर नया-नया साहित्य लिखा जाने लगा। राष्ट्रीय जागरण, देश-प्रेम एवं स्वतंत्रता-प्राप्ति की भावना साहित्य में विशेष रूप से आने लगी। अंग्रेजी एवं प्राचीन संस्कृत साहित्य अनूदित होकर हमारे सामने आने लगे; मुद्रणालयों की सहायता से पुस्तकों की संख्या बढ़ने लगी। साहित्य में विविध भावों एवं युग-जीवन की अवस्था का अनुशीलन होने लगा।

प्रेमचंद अपने युग-जीवन के पर्यावरण से प्रभावित थे। युग-जीवन के संघर्ष एवं परिस्थितियों की विविधता में लेखक का व्यक्तित्व निर्मित हुआ था। उन्होंने अपने कथा-साहित्य के माध्यम से संपूर्ण समाज को जागरित करने का प्रयास किया। उन्होंने युग की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक स्थिति को अपने साहित्य में साकार किया। वे साहित्य को युग का प्रतिबिंब मानने थे, साथ ही, उसे युग-युग को प्रेरणा देने वाला, पथ-प्रदर्शक मानते थे। उसे राजनीति के पीछे चलने वाली चीज नहीं वरन् उसके आगे मशाल लेकर चलनेवाला आलोक-स्तंभ मानते थे। उन्होंने अपने साहित्य में मानवीय दिव्य गुणों को महत्त्व दिया। वे मानव एकता के समर्थक थे, अतः अपने संपूर्ण साहित्य में वे इसी एकता के महत्त्व को प्रतिपादित करते रहे।

पंचम अध्याय

प्रेमचंद का जीवन और सांप्रदायिक एकता संबंधी विचार

प्रेमचंद का जीवन प्रारंभ से अंत तक एक निष्पक्ष विचारक का जीवन था। एक साधारण कायस्थ परिवार में जन्म लेकर वह निरंतर संघर्ष करते रहे। उनका जन्म लहमी नामक एक साधारण गांव में हुआ था। यह गांव बनारस से पाँच मील की दूरी पर है, जो भारत के दूसरे गांवों की तरह रूढ़ियों, अंधविश्वासों एवं पुरानी मान्यताओं से जकड़ा हुआ था। प्रेमचंद का जन्म शनिवार, 31 जुलाई 1880 को हुआ था। वे घर में तेतर संतान थे। तेतर संतान के लिए एक अंधविश्वास हमारे समाज में चला आ रहा है कि ऐसी संतान माता-पिता में से किसी एक की मृत्यु का कारण बनती है। लेकिन घरवाले पुत्र-जन्म से बहुत खुश थे। पिता श्री अजायब राय ने नवजात पुत्र का नाम धनपतराय रखा; चाचा ने उस शिशु को नवाब के नाम से संबोधित किया। प्रेमचंद की मां आनंदी देवी नवाब-जैसे चंचल, सुंदर पुत्र को पाकर अत्यन्त मुदित हुईं। नवाब से बड़ी लड़की सुग्गी उस समय छह-सात वर्ष की थी। एक पुत्री की मृत्यु पहले ही हो चुकी थी। मां अपने सुकुमार बेटे को दुनिया की नजर से बचाकर आँचल में समेट कर रखना चाहती थी। प्रेमचंद के बचपन के कुछ दिन माँ के प्रेम की शीतल छाया में व्यतीत हुए। लेकिन भाग्य की विडंबना ने असमय में प्रेमचंद के जीवन से माँ का प्यार और उसकी शीतल छाया हटा ली। प्रेमचंद आठ वर्ष की अवस्था में ही मातृहीन हो गए। पहली बार बालक नवाब ने जीवन के कठोर रूप का अनुभव किया। लेकिन इस आघात की कठोर अनुभूति उन्हें तब हुई जब कुछ ही वर्ष बाद पिता ने दूसरी शादी कर ली और घर में सौतेली माँ का पदार्पण हुआ। संभवतः इस शादी ने मुंशी अजायब राय के जीवन में उमंग एवं हरियाली ला दी, लेकिन नवाब दूसरी माँ (जिसे वे चाची कहते थे) को पाकर अपनी माँ का प्यार नहीं पा सके। मातृ-स्नेह की उनकी तृष्णा एवं भूख जीवन के अंत तक बनी रही। यह भूख उनकी आत्मा की भूख थी, इसीलिए उनके कथा-साहित्य में अक्सर ऐसे पात्रों का वर्णन हुआ है जिनकी माँ की मृत्यु बचपन में हो जाती है। "प्रेरणा" कहानी में प्रेमचंद ने लिखा है..." बच्चों में प्यार की जो एक भूख होती है—दूध, मिठाई और खिलौनों से भी मादक, जो मां की गोद के सामने

संसार की निधि की भी परवाह नहीं करती —मोहन की वह भूख कभी संतुष्ट नहीं होती थी। पहाड़ों से टकराने वाली सारस की आवाज की तरह वह सदैव उसकी नसों में गूंजा करती थी।"[1] 'कर्मभूमि' उपन्यास का नायक अमरकांत भी अपने हृदय में मां के अभाव की करुण व्यथा को समेट कर चलने वाला एक पात्र है जिसे मातृ-प्रेम का अभाव सदा खला। वह कहता है—"मेरी माता का उसी जमाने में देहांत हुआ और तब से मेरी रूह को खुराक नहीं मिली। वही भूख मेरी जिंदगी है। दुनिया में सबसे बदनसीब वह है जिसकी माँ मर गई है।"[2] "घरजमाई" कहानी में लेखक ने अपने मातृ-स्नेह को इस प्रकार व्यक्त किया है—"बच्चों के लिए बाप एक फालतू-सी चीज है, एक विलास की वस्तु है। लेकिन माँ तो बच्चे की सर्वस्व है। बालक एक मिनिट के लिए भी उसका वियोग नहीं सह सकता। पिता कोई हो, उसे परवाह नहीं। लेकिन माता तो अपनी ही होनी चहिए, सोलहो आने अपनी। वही रूप, वही रंग, वही प्यार; वही सब कुछ अगर वह नहीं है, तो बालक के जीवन का स्रोत जैसे सूख जाता है।"[3]

चाची से प्रेमचंद को कभी प्यार नहीं मिला। चाची का व्यवहार उनके प्रति सदा कठोर रहता था। वे बालक प्रेमचंद के लिए कभी सदय नहीं हुईं। यहाँ तक कि स्कूल की फीस मांगने पर भी वे झल्ला उठती थीं। "जब मैं फीस के पैसे चाची से माँगता तो वे बुरी तरह झल्लाती। पिता से कहने की हिम्मत न थी; इसलिए अपनी माता की याद मुझे बार-बार सताती थी।" बाल्य-जीवन के लिए जो सबसे आवश्यक एवं अपेक्षित वस्तु माँ होती है, उसके न रहने के कारण प्रेमचंद का जीवन अभाव का जीवन हो गया था। "सौतेली माँ" कहानी में लेखक ने बाल्यमन की मार्मिक व्यथा, उसकी करुण स्थिति का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। प्रेमचंद का जीवन वैसे भी अभावों का जीवन था। जब तक मां का स्नेहिल आँचल था, जीवन में आर्थिक अभाव का आभास उन्हें नहीं हुआ। लेकिन दूसरी माँ के आते ही जीवन में प्यार और अर्थ दोनों का अभाव खलता रहा।

प्रेमचंद के पिता श्री अजायब राय लाल डाकखाने में मुंशी की नौकरी करते थे। नौकरी के सिलसिले में उन्हें विभिन्न स्थानों में जाना पड़ता था। विशेषकर उनको छोटे-2 गाँवों, कस्बों में रहना पड़ता था। अधिकांशतः वे आजमगढ़, बांदा, बस्ती, कानपुर, इलाहाबाद, लखनऊ एवं गोरखपुर के आसपास काम करते रहे। उनकी आर्थिक स्थिति बहुत साधारण थी। पन्द्रह-बीस रुपए से उन्होंने नौकरी शुरू की थी। चालीस रुपए तक पहुँचते-पहुँचते उनकी मृत्यु हो गई। प्रेमचंद को बचपन में

---

1. प्रेमचंद : जीवन कला और कृतित्व, पृ० 5।
2. कर्मभूमि, पृ० 134।
3. प्रेमचंद : जीवन कला और कृतित्व, पृ० 5।

बारह आने का चमरौधा जूता और चार आने गज के नए कपड़े से अधिक का जूता और कपड़ा कभी नहीं मिला।[1] कहीं-कहीं उनके रहने का मकान बेहद छोटा और गन्दा होता था।

बचपन में प्रेमचंद ने अपने गाँव लहमी में मौलवी साहब से उर्दू पढ़ना शुरू किया था। बाद में जब उनके पिताजी गोरखपुर गए तब वे एक मिशन स्कूल में छठे दर्जे में दाखिल हुए।[2] गाँव का खुला जीवन, माँ का प्यार एवं मौलवी साहब की उदारता ने प्रेमचंद के मन में मुस्लिम संस्कृति एवं उर्दू के प्रति जो ममत्व पैदा किया वह उनके जीवन में अंत तक रहा। अपनी कहानी "चोरी" में प्रेमचंद ने मौलवी साहब के भोलेपन, उनकी उदारता और प्रेम का वर्णन किया है। लेखक को जो स्नेह, जो प्यार, जो अपनत्व एवं घनिष्ठता मौलवी साहब से मिली वह बाद में किसी भी स्कूलमास्टर से नहीं मिली। सुकुमार बाल्यमन में मौलवी साहब ने जो एकत्व की भावना उत्पन्न की, वह प्रेमचंद की निधि हुई। मौलवी साहब के पास हिंदू, मुस्लिम सभी छात्र पढ़ने आते होंगे और उन्हें सांप्रदायिक एकता की मूल भावना मौलवी साहब से ही मिली होगी।

हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य उस युग में वैसा नहीं था। विशेषकर गाँवों में यह द्वेष-भाव बहुत कम था। गांवों में बच्चे, हिंदू-मुस्लिम एकसाथ, विशेषकर मौलवी साहब की छत्रछाया में, विद्याध्ययन करते थे। ये छात्र मुख्यत: उर्दू पढ़ते थे। उर्दू के अध्ययन के कारण एवं बचपन से मौलवी साहब के साथ-साथ विद्याध्ययन करने के कारण प्रेमचंद उस संस्कृति से पूर्णतः प्रभावित थे। उर्दू साहित्य पढ़ने एवं मुस्लिम संस्कृति से प्रभावित होने के कारण प्रेमचंद के विचार प्रारंभ से ही संतुलित तथा उदार थे।

पढ़ने की लगन प्रेमचंद को बचपन से ही थी। जब उनके पिता गोरखपुर में रहते थे, उनकी दोस्ती एक तंबाकू-फरोश के लड़के से हो गई थी। "नित्य वे अपने अल्पवयस्क मित्र के साथ स्कूल के बाद उसके मकान पर जाते थे और वहाँ तंबाकू के बड़े-बड़े काले पिंडों के पीछे वह और उनके मित्र बैठकर बराबर हुक्का पीते थे और "तिलिस्म होशरुबा" पढ़ते थे।[3] प्रेमचंद ने "मेरी पहली रचना" में लिखा है—"इस वक्त मेरी उम्र कोई तेरह साल की रही होगी। हिंदी बिलकुल न जानता था। मौलाना शरर, पं० रतननाथ सरशार, मिरजा रुसवा, मौलवी मुहम्मदअली, हरदोई निवासी उस वक्त के सर्वप्रिय उपन्यासकार थे। इनकी रचनाएं जहां मिल जाती थीं, स्कूल की याद भूल जाती थी और पुस्तक समाप्त करके ही दम लेता था। उस जमाने में रेनाल्ड के उपन्यासों की धूम थी। उर्दू में उनके अनुवाद धड़ाधड़ निकल रहे थे

1. प्रेमचंद : घर में, पृ० 2-3।
2. प्रेमचंद : कलम का मजदूर, पृ० 14।
3. श्री रघुपति सहाय फिराक : प्रेमचंद स्मृति, पृ० 177।

और हाथोंहाथ बिकते थे। मैं भी उनका आशिक था। उन दिनों मेरे पिता गोरखपुर में रहते थे और मैं भी वहीं के मिशन स्कूल में आठवी में पढ़ता था, जो तीसरा दर्जा कहलाता था। रेती पर एक बुकसेलर बुद्धिलाल नाम का रहता था। मैं उसकी दुकान पर जा बैठता था और उसके स्टाक से उपन्यास ले लेकर पढ़ता था। मगर दुकान पर सारे दिन तो बैठ न सकता था, इसलिए मैं उसकी दुकान से अंग्रेजी पुस्तकों की कुंजियां और नोट्स लेकर अपने स्कूल के लड़कों के हाथ बेचा करता था और इसके एवज में उपान्यास दुकान से लाकर पढ़ता था। दो-तीन वर्ष में सैकड़ों उपन्यास पढ़ डाले होंगे। जब उपन्यास का स्टाक समाप्त हो गया तो मैंने नवलकिशोर प्रेस से निकले हुए पुराणों के उर्दू अनुवाद भी पढ़े और तिलस्मे-होशरुबा के कई भाग भी पढ़े। इस बृहत् तिलस्मी ग्रंथ के सत्रह भाग उस वक्त निकल चुके थे और एक-एक भाग बड़े सुपर रायल आकार के दो-दो हजार पृष्ठों से कम न होगा। और इन सत्रह भागों के उपरांत उसी पुस्तक के अलग-अलग प्रसंगों पर पचास भाग छप चुके थे। इनमें से मैंने कई पढ़े। जिसने इस बड़े ग्रंथ की रचना की उसकी कल्पना-शक्ति कितनी प्रबल होगी, इसका केवल अनुमान किया जा सकता है।[1]

प्रेमचंद जब स्कूल में नवीं कक्षा में पढ़ते थे, उनके पिता ने उनका विवाह अपने नए श्वसुर की बातों में आकर एक बड़ी उम्र की बदसूरत युवती से कर दिया। प्रेमचंद की पत्नी देखने में तो कुरूप थी ही, उसका स्वभाव भी झगड़ालू और कठोर था। उस समय प्रेमचंद के पिता की बदली लहमी में हो गई थी। प्रेमचंद को नित्य पैदल चलकर बनारस पढ़ने जाना पड़ता था। विवाह के वर्ष भर बाद पिता की मृत्यु हो गई। प्रेमचंद पर पूरे परिवार का भार असमय में आ गया। लेकिन प्रेमचंद ने हिम्मत नहीं हारी। विषम पारिवारिक संघर्ष, आर्थिक विपन्नता, प्रतिकूल परिस्थिति एवं अनेकानेक कठिनाइयों के बाद भी वे अपनी पढ़ाई जारी किए हुए थे। लहमी से पांच-छह मील चलकर स्कूल जाते थे, पढ़ने और आगे बढ़ने की लगन में वे जीवन की विविध परेशानियों को झेलते। परिस्थिति एवं आर्थिक संघर्षों से जूझते हुए वे अपनी शिक्षा कायम रखे हुए थे। कष्टों, आर्थिक कठिनाइयों एवं पारिवारिक विषम परिस्थितियों के बावजूद प्रेमचंद ने द्वितीय श्रेणी में मैट्रिक पास किया। घर की अवस्था दयनीय थी। चार-चार आदमियों की देखभाल की जिम्मेवारी थी। घर में शांति नहीं थी। एक तो विमाता का वहाँ राज्य था, दूसरे, पत्नी का स्वभाव कठोर था; घर में आए दिन लड़ाइयाँ एवं आपसी संघर्ष होता रहता था। लेकिन पढ़ने की प्रबल आकांक्षा के कारण प्रेमचंद अपने प्रयास में लगे रहे। क्वींस कॉलेज में प्रथम श्रेणी के छात्र ही

1. प्रेमचंद की पहली रचना (उद्धृत—प्रेमचंद : जीवन, कला और कृतित्व—ले० हंसराज रहबर, पृ० 12-13)।

निःशुल्क शिक्षा पा सकते थे। वहाँ प्रेमचंद का प्रवेश संभव नहीं था। नया-नया हिंदू कॉलेज खुला था। उन्हें उम्मीद थी कि वहाँ उन्हें प्रवेश मिल जाएगा और वे अपनी पढ़ाई जारी रख सकेंगे। लेकिन वहां भी योग्यता के आधार पर उनका प्रवेश संभव नहीं हो सका। गणित उनके लिए एक असाध्य विषय था। "किसी तरह गणित को सुधारूँ और कॉलेज में भरती हो जाऊँ, यही धुन थी। इसके लिए शहर में रहना जरूरी था। संयोग से एक वकील के लड़के को पढ़ाने का काम मिल गया। पांच रुपये वेतन ठहरा। मैंने दो रुपये में अपना गुजर करके तीन रुपये घर पर देने का निश्चय किया। वकील साहब के अस्तबल के ऊपर एक छोटी-सी कच्ची कोठरी थी, उसी में रहने की आज्ञा ले ली। एक टाट का टुकड़ा बिछा दिया। बाजार से एक छोटा-सा लैम्प लाया और रहने लगा। घर से कुछ बरतन भी ले आया। एक वक्त खिचड़ी पका लेता और बरतन धो-मांजकर लाइब्रेरी चला जाता था। गणित तो बहाना था, उपन्यास आदि पढ़ा करता। पं० रतननाथ सरशार का "फसाना आजाद" उन्हीं दिनों पढ़ा। "चंद्रकांता संतति" भी पढ़ी। बंकिम बाबू के उर्दू अनुवाद जितने पुस्तकालय में मिले, सब पढ़ डाले।"[1] लेकिन शहर के इस जीवन में अनेकानेक कष्ट हुए थे। कर्ज और उधार उनके जीवन का आधार बन गए थे। "लेकिन कभी-कभी उधार मांगने में भी संकोच होता और दिन का दिन निराहार व्रत रखना पड़ जाता।"[2] चिंता, गरीबी एवं परिस्थिति की इस कारुणिक अवस्था के बाद भी प्रेमचंद अध्ययन में प्रयत्नशील रहे। यही उनके जीवन की सफलता का रहस्य था। उन्होंने लिखा "मेरी अब भी पढ़ने की इच्छा थी, लेकिन दिन-दिन निराश होता जाता था। जी चाहता था कहीं नौकरी कर लूं। पर नौकरी कैसे मिलती है और कहाँ मिलती है, यह न जानता था।"[3] पैसे के अभाव के कारण एक बार जब वे अपनी 'गणित की कुंजी' बेच कर दुकान से वापस आनेवाले थे तब उनकी मुलाकात एक छोटे-से मिशन स्कूल के हेड-मास्टर साहब से हुई। उन्हें एक सहकारी अध्यापक की आवश्यकता थी। उन्होंने प्रेमचंद से बातें की और उन्हें अपने स्कूल में अठारह रुपए पर सहकारी अध्यापक की नौकरी देदी। अपनी इस नौकरी के सिलसिले में प्रेमचंद को चुनार जाना पड़ा, जो बनारस से चालीस मील दूर, मिर्जापुर के पास एक कस्बा है। चुनार एक छोटी-सी शांत जगह थी। प्रेमचंद अध्यापन-कार्य के अलावा पढ़ने में लगे रहते थे। लेकिन प्रेमचंद बाहर से शांत, शर्मीले एवं अपनी दुनिया में खोए रहनेवाले व्यक्ति थे, भीतर से विद्रोही एवं न्यायप्रिय। अन्याय उनसे बर्दाश्त नहीं होता था। अंग्रेजों की टीम से स्कूल छात्र टीम का फुटबॉल मैच हो रहा था। गोरे हार रहे थे, लड़के बार-बार जोर-जोर से अपनी

1. प्रेमचंद : जीवन सार (कफन पुस्तक से), पृ० 59-60।
2. वही, पृ० 59-60।
3. वही, पृ० 59-60।

विजय पर चिल्ला उठते थे । एक गोरे ने अपनी बूट से गुस्से में आकर एक खिलाड़ी को ठोकर मार दी । प्रेमचंद से यह अन्याय देखा नहीं गया, उन्होंने मैदान में गड़ी हुई झंडी उखाड़ कर उसे मारना शुरू कर दिया । लड़कों ने भी प्रेमचंद का साथ दिया ।

चुनार स्कूल की एक घटना है:--"एक कोई इब्ने अली नाम के मौलवी साहब थे । स्कूल के अधिकारी उनके साथ कोई बेइंसाफी कर रहे थे, जो मुंशीजी को बर्दाश्त नहीं हुई । उन्होंने बेधड़क मौलवी साहब का साथ दिया, खुलेआम, जमकर । बात बढ़ी । मुंशीजी भी मौलवी साहब के साथ निकाल दिए गए ।"[1] अन्याय चाहे जैसा भी हो, प्रेमचंद उसे कभी सहन नहीं करते थे ।

चुनार के बाद प्रेमचंद 1900 में 2 जुलाई को, क्वींस कॉलेज के प्रिंसिपल बेकन साहब की सिफारिश पर, बहराइच जिला स्कूल में पांचवें मास्टर के पद पर नियुक्त हुए । फिर ढाई महीने बाद उनकी बदली परतापगढ़ हो गई । वहाँ वे फर्स्ट एडिशनल मास्टर पद पर नियुक्त हुए । वेतन वहां भी बीस ही रुपए थे ।[2] प्रेमचंद का अधिक समय यहां भी अपने अध्ययन में बीतता था । यहाँ रहते हुए उन्होंने अनुभव किया कि उन्हें ट्रेनिंग पास कर लेना चाहिए । प्रेमचंद ने सन् 1902 में इलाहाबाद जाकर ट्रेनिंग की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की । लेकिन इस प्रमाण-पत्र में गणित न पढ़ा सकने की बात स्पष्ट लिख दी गई । उन्हीं दिनों प्रेमचंद ने उर्दू और हिंदी की स्पेशल वर्नाक्युलर परीक्षा भी पास की । परतापगढ़ में कुछ ही दिन रहने के बाद प्रेमचंद को ट्रेनिंग कॉलेज के प्रिंसिपल के मास्टर ने, जो इस शांत, परिश्रमी, मीठे और मिलनसार नौजवान से बहुत खुश था, मुंशीजी को ट्रेनिंग कॉलेज से लगे हुए मॉडल स्कूल का हेड-मास्टर बनाकर फिर इलाहाबाद बुला लिया ।[3] कुछ दिन इलाहाबाद में रहने के बाद उनकी बदली कानपुर हो गई । वहां वे जिला स्कूल के आठवें मास्टर के पद पर आए । यहीं उनका परिचय मुंशी दयानरायन निगम से हुआ, जो "जमाना" के सम्पादक थे । "जमाना" उस समय नया-नया निकला था । उसे नए लेखक की आवश्यकता थी । "जमाना" में प्रेमचंद की आलोचनाएं और कहानियाँ छपने लगीं । मुंशी दयानरायन निगम से उनकी घनिष्ठता बढ़ती गई और फिर यह घनिष्ठता मित्रता में परिवर्तित होकर जीवन के अंत तक चलती रही । इस समय तक लिखने का कार्य प्रेमचंद का काफी बढ़ गया था । वैसे, उन्होंने तेरह वर्ष की अवस्था में अपने रिश्ते के मामा के जीवन पर एक व्यंग्यात्मक प्रहसन लिखा था । ये मामा साहब प्रेमचंद के आलोचक थे एवं उनके विषय में उलटी-सीधी बातें उनके पिता से कहते रहते थे । इसी समय मामा साहब का इश्क एक चमारिन से हो गया । मामा साहब उसी गाँव में चमारों से मार

1. कलम का सिपाही, पृ० 41 ।
2. वही, पृ० 42 ।
3. कलम का सिपाही, पृ० 55 ।

खा गए। इसी तथ्य को प्रेमचंद ने अपने प्रहसन में इस प्रकार वर्णित किया कि मामा साहब प्रहसन लेकर घर से भाग गए। इस प्रकार प्रेमचंद की जान आलोचक मामा से बची। उनका आलोचक मन प्रारंभ से ही भारतीय सामाजिक व्यवस्था के प्रति सजग रहा। भारतीय समाज की रूढ़ियों, परंपरागत अंधविश्वासों के प्रति उनके मन में विद्रोह था। समाज में अछूतों के प्रति कठोरता, जातिप्रथा की कट्टरता, धार्मिक व्यवस्था और धर्म के नाम पर पंडितों का अत्याचार इस प्रकार हो रहा था कि मध्य-वर्गीय समाज उससे संत्रस्त था। नारी-जीवन की दयनीय दशा थी। महिलाओं में अशिक्षा थी। प्रेमचंद ऐसे समाज के कड़े आलोचक थे। राजा राममोहन राय, रामकृष्ण, परमहंस, दयानंद सरस्वती, गोखले एवं रानाडे के प्रगतिशील विचारों को प्रेमचंद जीवन के लिए अत्यावश्यक मानते थे। स्वामी दयानंद सरस्वती के प्रगतिशील विचारों से वे बड़े प्रभावित हुए। आर्य समाज के मेंबर भी थे। उन्होंने चौदह वर्ष की अवस्था में एक नाटक लिखा था—"होनहार बिरवान के चिकने-चिकने पात"। यह इस दृष्टि से दिलचस्प है कि यह नाम खुद उनके अपने ऊपर लागू होता था। चार साल बाद एक उपन्यास "इसरारे मुहब्बत अखबार" "आवाज-ए-खल्क" में छपा। यह अखबार बनारस से प्रकाशित होता था।"[1] श्री अमृतराय मानते हैं कि "असरारे मआपिद" (देवस्थान का रहस्य) नामक उनका छोटा उपन्यास बनारस के एक साप्ताहिक उर्दू पत्र "आवाज-ए-खल्क" में 8 अक्तूबर 1903 से धारावाहिक छपना शुरू हुआ। इसे एक अनोखा संयोग ही कहना चाहिए कि जिस 8 अक्तूबर को उनकी पहली रचना रोशनी में आई उसी 8 अक्तूबर को तेंतीस साल बाद उनकी आँख इस दुनिया की रोशनी पर बंद हुई।"[2] इस उपन्यास में लेखक ने धर्मस्थान के महंथ एवं उनके पंडे-पुरोहितों की आलोचना की है। कानपुर आने के बाद प्रेमचंद ने साहित्य-रचना के कार्य को जीवन की दिनचर्या बना लिया। अपने जीवन की अनेकानेक परेशानियों, संघर्षों एवं उलझनों के मध्य वे इस दिनचर्या को जीवन का एक अभिन्न अंग मानते थे, "क्योंकि परेशानियों से छुट्टी तो उसको एक दिन के लिए नहीं मिली।"[3] उन्होंने अपनी आत्मकथा "जीवनसार" में लिखा है कि "उपन्यास तो मैंने 1901 ही से लिखना शुरू किया। मेरा एक उपन्यास 1902 में निकला और दूसरा 1904 में, लेकिन गल्प 1907 के पहले मैंने एक भी न लिखी। मेरी पहली कहानी का नाम था, "संसार का सबसे अनमोल रत्न"। वह 1907 में "जमाना" में छपी। उसके बाद मैंने चार-पांच कहानियाँ और लिखीं। पाँच कहानियों का संग्रह "सोजे वतन" के नाम से 1909 में

1. हंसराज रहबर : प्रेमचंद : जीवन, कला और कृतित्व, पृ० 33।
2. श्री अमृतराय : कलम का सिपाही, पृ० 52।
3. वही, पृ० 56।

छपा। उस समय 'बंग भंग' का आंदोलन हो रहा था। कांग्रेस में गर्म दल की सृष्टि हो चुकी थी। इन पांचों कहानियों में स्वदेश-प्रेम की महिमा गाई गई थी।"[1]

प्रेमचंद का जीवन प्रारंभ से अंत तक समस्याओं, संघर्षों और उलझनों का जीवन था। सौतेली मां का घर में अखंड प्रभुत्व था। पत्नी का भी स्वभाव कठोर, कर्कश एवं झगड़ालू था। वह अपने अधिकार के लिए परेशान थी। दोनों में कभी सामंजस्य या समझौता नहीं हुआ। प्रेमचंद को अपनी प्रथम पत्नी के प्रति न तो प्रेम था, न कोई विशेष आकर्षण। लेकिन तब भी वे मानते थे कि अगर बीच में उनकी चाची न होती तो उनका जीवन पत्नी के साथ समझौते के साथ बीत जाता। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। पत्नी ने जिद्द ठान ली कि वे मायके जाएंगी और प्रेमचंद को उन्हें भेजना पड़ा। फिर दोनों में कभी सुलह नहीं हुई। प्रेमचंद अपनी सौतेली मां के प्रति अपना उत्तरादयित्व एक कर्तव्यनिष्ठ पुत्र की भांति निभाते रहे।

प्रथम पत्नी के त्याग के बाद प्रेमचंद ने दूसरी शादी किसी विधवा से करने का निश्चय किया। शिवरानी देवी अपनी शादी के तीन माह बाद ही ग्यारह वर्ष की बाल्यावस्था में विधवा हो गई थीं। उनके पिता मुंशी देवी प्रसाद अपनी बाल-विधवा कन्या का विवाह करना चाहते थे। उन्होंने इस क्रांतिकारी कार्य के लिए एक इश्तहार छपाया। उस समय आर्य समाज का प्रचार तेजी पर था और प्रेमचंद अपने विचारों में आर्य समाज से सर्वाधिक प्रभावित थे। प्रेमचंद ने निगम साहब से विचार-विमर्श किया और यह शादी तय हो गई। सन् 1906 के फागुन में शिवरात्रि के दिन प्रेमचंद का विवाह श्रीमती शिवरानी देवी से हुआ। प्रेमचंद के साथ बरात में उनके दो चार मित्र, जिसमें निगम साहब मुख्य थे, और रिश्ते नातों में मात्र उनके भाई महताब राय इस शादी में सम्मिलित हुए। शादी के प्रारंभिक दिनों में श्रीमती शिवरानी देवी को भी चाची के साथ रहने में अनेकानेक कठिनाइयां हुईं। अधिकारप्रिय चाची के साथ रहने की दर्दभरी कहानी और मानसिक यातनाओं को उन्होंने 'प्रेमचंद घर में' नामक पुस्तक में व्यक्त किया है। घर में आए दिन अशांति बनी रहती थी। प्रेमचंद को दोनों ओर की समस्याओं को सुलझाना पड़ता था। लेकिन बाद, में, घर का प्रबंध ज्यों-ज्यों श्रीमती शिवरानी देवी के हाथ में आता गया, प्रेमचंद के आर्थिक और मानसिक जीवन में शांति आती गई। वे अब साहित्यिक कार्यों में अधिक रुचि लेने लगे। श्रीमती शिवरानी देवी बड़ी ही समझदार, पति के कार्यों में प्रेरणा देनेवाली शिक्षित महिला थीं। उन्होंने प्रेमचंद का, हमेशा, उनकी बढ़ती हुई साहित्य-सेवा में साथ दिया। श्रीमती शिवरानी देवी के साथ प्रेमचंद का दांपत्य-जीवन सुख से बीता। अंग्रेजी की एक कहावत है कि जिस व्यक्ति का जन्म शनिवार को होता है उसका जीवन संघर्षों में बीतता है। प्रेमचंद का जन्म शनिवार

1. प्रेमचंद : कफन, पृ० 61-82।

को हुआ था और उनका प्रारंभ से अंत तक का जीवन संघर्षों में विकसित हुआ। वे प्रारंभ से ही विद्रोही थे। उनका झुकाव गर्म दल की तरफ था। वे एक नई क्रांति एवं संघर्ष की आकांक्षा करते थे। "उनका खयाल था कि हुकूमत से सख्त टक्कर लिए बगैर काम न चलेगा।"[1] 1909 में जब "सौजे वतन" प्रकाशित हुआ उस समय प्रेमचंद शिक्षा विभाग में सब डिप्टी इंसपेक्टर थे और हमीरपुर जिले में रहते थे तथा नवाव राय नाम से लिखते थे। इस पुस्तक में वर्णित राष्ट्रीय प्रेम के कारण सरकार ने इस पुस्तक को जब्त कर लिया और प्रेमचंद को आदेश दिया कि वे जो कुछ भी लिखें, छपने के पूर्व सरकार के पास भेज दें और राजद्रोह की कोई बात न लिखें। अब मुंशीजी क्या करें अपने पुराने नाम से लिख नहीं सकते थे। अतः निगम साहब की सलाह पर 'नवाब राय' नाम छोड़कर प्रेमचंद नाम से लिखना शुरू किया।

प्रेमचंद नाम से उनकी पहली कहानी "बड़े घर की बेटी" 1910 के दिसंबर में "जमाना" में प्रकाशित हुई। हिंदी-प्रेमी मित्रों—-जैसे मन्नन, द्विवेदी, महावीर प्रसाद पोद्दार आदि की प्रेरणा से वह हिंदी-उर्दू वर्नाक्यूलर की परीक्षा 1904 में ही पास कर चुके थे। सन् 1913 से उन्होंने हिंदी में कहानियाँ लिखना शुरू किया बीच-बीच में उनका स्वास्थ्य खराब रहता था, तब वे अपने अध्ययन, अध्यापन एवं लेखन-कार्य में लगे रहते थे। इस समय तक वह अनेकानेक कहानियों एवं "रूठी रानी", "प्रेमा", "किशना" एवं "सेवासदन" लिख चुके थे। वह एम० ए० भी करना चाहते थे लेकिन परिस्थिति की उलझन के कारण उनकी यह आकांक्षा पूरी नहीं हो सकी। वह स्वावलंबी, परिश्रमी एवं कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति थे। वह अपनी काम अपने आप करते थे एवं दूसरों के प्रति उनका व्यवहार सदा मधुर होता था। उन्हें सरकारी नौकरी से आसक्ति नहीं थी। वह नौकरी से स्वतंत्र होकर साहित्यिक कार्य एवं प्रेस चलाना चाहते थे। किंतु पारिवारिक जिम्मेवारी के कारण वह ऐसा नहीं कर पा रहे थे। लेकिन जब देश में महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन की जागृति हुई और लोग अंग्रेजी राज की दासता से घबराकर किसी प्रकार स्वतंत्र होना चाहते थे, देश जालियाँवाला बाग का हत्याकांड झेल चुका था, 'करो और मरो' की आकांक्षा रख कर लोग आगे बढ़ रहे थे, तब एक दिन गांधी जी के संदेश से प्रभावित होकर प्रेमचंद ने 1921 में अपनी 20 वर्ष की नौकरी को त्याग दिया। सरकारी नौकरी के बंधन की घुटन से निकल कर वह अपने आपको प्रसन्न एवं स्वतंत्र अनुभव कर रहे थे। उन्होंने लिखा है —"गुलामी से मुक्त होते ही मैं 9 साल के जीर्ण रोग से मुक्त हो गया।"[2] इसके बाद वह पूर्णतः साहित्यिक जीवन की ओर प्रवृत्त हुए। उन्होंने 1924 में "रंगभूमि नामक उच्च कोटि का उपन्यास

1. कलम का सिपाही, पृ० 98।
2. प्रेमचंद : कफन, पृ० 68।

लिखा। त्याग-पत्र देने के बाद उन्होंने महावीर प्रसाद पोद्दार के साथ एक चर्खे की दुकान खोली, लेकिन इसमें सफलता नहीं मिली। बनारस में कर्घों का काम शुरू किया, इसमें भी उन्हें सफलता नहीं मिली। तब "मर्यादा" के संपादन, कार्य में लग गए। वहाँ वह डेढ़ वर्ष तक रहे। श्री संपूर्णानंद जी उस समय जेल में थे। उनके जेल से लौटने के बाद प्रेमचंद ने "काशी विद्यापीठ" में अध्यापन कार्य शुरू किया। वहां भी वह अधिक दिन नहीं रह सके। वहां करीब एक वर्ष रहने के बाद वह लहमी चले गए और गाँव में बैठ कर साहित्य-सेवा एवं प्रचार-कार्य में संलग्न हुए। 1923 में प्रेमचंद ने बनारस में सरस्वती प्रेस, कई लोगों के सहयोग से, स्थापित किया। इस प्रेस की व्यवस्था उनके छोटे भाई महताब राय करते। उस समय प्रेमचंद लखनऊ में गंगा पुस्तकमाला में नौकरी करते थे। 1926 में वहाँ से पुन: लौट कर "सरस्वती प्रेस" की देखभाल करने लगे। सन् 1928 में उन्होंने "माधुरी" का संपादन स्वीकार किया। वहां 1931 तक वह नवल-किशोर प्रेस में रहे। इस बीच उनके उपन्यास "प्रेमाश्रम", "वरदान" "रंगभूमि" "कायाकल्प", "निर्मला", "प्रतिज्ञा" एवं "गबन" आदि लिखे जा चुके थे। इनके साथ ही अनेक कहानियाँ भी लिखी जा चुकी थीं। इनके प्रारंभिक उपन्यास पहले उर्दू में लिखे गए थे। 1931 के बाद 1933 तक प्रेमचंद लखनऊ में रहे। उसके बाद वे अपने प्रकाशनगृह (सरस्वती प्रेस) को सुव्यवस्थित करने के लिए बनारस चले आए। जनवरी 1930 में उन्होंने "हंस" नाम का एक हिंदी मासिक पत्र प्रकाशित किया। लेकिन 6 महीने बाद उस प्रेस से एक हजार रु० जमानत की सरकारी माँग आई जिसके कारण प्रेमचंद को यह पत्र कुछ दिनों के लिए बंद कर देना पड़ा। फिर जब आॅर्डिनेन्स रद्द हो गया तब जनवरी 1931 से "हंस" पुन: निकलने लगा। इसी समय अगस्त सन् 1932 में उन्होंने "जागरण" नामक एक हिंदी साप्ताहिक की जिम्मेवारी अपने सर ले ली, जो श्रीयुत् विनोद शंकर व्यास की देखरेख में जारी हुआ था।[1] लेकिन दो वर्ष के अंदर इन्हें इन दोनों पत्रों के कारण बहुत घाटा हुआ। अत: प्रेस के कारण प्रेमचंद को अनेकानेक मानसिक एवं आर्थिक परेशानियों का सामना करना पड़ा। इसी समय बंबई के अजंता सिनेटोन ने 8000 रुपये सालाना देने की शर्त पर इन्हें बंबई निमंत्रित किया। "गरज प्रेस पर बहुत सा कर्ज हो गया; जिसकी अदायगी के लिए उनको अपनी इच्छा के प्रतिकूल जून सन् 1938 में बंबई जाकर अजंता सिनेटोन की नौकरी करनी पड़ी।"[2] प्रेमचंद ने फिल्म की नौकरी दो उद्देश्य से की थी; एक तो वे आर्थिक परेशानियों को दूर करना एवं "हंस" को जिंदा रखना चाहते थे, दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि वे अपनी

1. श्री दयानरायन निगम : प्रेमचंद स्मृति अंक, पृ० 114।
2. श्री दयानरायन निगम : प्रेमचंद स्मृति अंक पृ० 114।

कहानियों को हजारों अनपढ़ लोगों के बीच दृश्य रूप में दिखलाने की आकांक्षा रखते थे। लेकिन फिल्म जगत् में आने के बाद उन्हें पता चला कि "सिनेमा साहित्यिक आदमी के लिए ठीक जगह नहीं है। मैं इस लाइन में यह सोच कर आया था कि आर्थिक रूप से स्वतंत्र हो सकने की कुछ संभावनाएं इसमें दिखाई देती थीं; लेकिन अब देख रहा हूँ कि यह मेरा भ्रम था और अब मैं फिर साहित्य की ओर लौट रहा हूं।"[1] यहां फिल्म में साहित्यकार की कहानी को डाइरेक्टर, जैसे भी जी चाहता है, तोड़ डालता है। सन् 1935 में वे बनारस लौट आए और अपना शेष जीवन यहीं समाप्त किया। बंबई से लौटने पर अपने महान उपन्यास "गोदान" की समाप्ति के बाद प्रेमचंद अस्वस्थ हो गए। लेकिन अस्वस्थ अवस्था में भी वह बहुत दिनों तक अपना लेखन कार्य करते रहे। "मंगलसूत्र" नामक उनका अपूर्ण उपन्यास इसी समय लिखा जा रहा था। उनको पेट की बीमारी बहुत दिनों से तंग कर रही थी। सरकारी नौकरी के प्रारंभिक दिनों में, महोबा में, वे पेट की बीमारी से परेशान थे। उसके बाद भी उनकी यह बीमारी जड़ से ठीक नहीं हुई। वे अपने स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान नहीं देते थे, परहेज भी अधिक नहीं करते थे। बंबई-प्रवास में उनकी तबीयत और भी खराब हो गई। बहुत दिनों तक वे होटलों में खाते रहे। इससे उनकी पाचन-शक्ति और भी कमजोर हो गई, और जब वे बंबई से लौटे तो थोड़े ही दिन बाद उन्हें जलोदर हो गया। इलाज के बाद भी उनकी बीमारी ठीक नहीं हुई। अंत में आठ अक्टूबर 1936 को उनकी मृत्यु हो गई। उस समय उनकी उम्र मात्र 56 वर्ष की थी। तब तक वह साहित्यिक जीवन में बड़े ऊँचे आदर्श पर पहुँच चुके थे। "गोदान" के प्रेमचंद से हिंदी साहित्य को बड़ी-बड़ी आशाएँ थी लेकिन नियति के चक्र ने असमय में ही एक महान साहित्य-साधक को उठा लिया।

"प्रेमचंद उन लेखकों में हैं, जिनकी रचनाओं से बाहर के साहित्य-प्रेमी हिंदुस्तान को पहचानते हैं। उन्होंने हिंदुस्तान के राष्ट्रीय सम्मान को बढ़ाया है, हमारे देश को अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में गौरव दिया है। प्रेमचंद पर सारा हिंदुस्तान गर्व करता है; दुनिया की शांतिप्रिय जनता गर्व करती है; सोवियत संघ के अलोचक मुक्तकंठ से उनका महत्त्व घोषित करते हैं।"[2]

प्रेमचंद का जीवन एक सहज वीतराग का जीवन था। उनमें अहम् की भावना नहीं थी। अपने जीवन में वे सदा एक इंसान रहे। कभी कोई मान, कभी कोई अहंकार, कहीं कोई प्रदर्शन की भावना उनमें नहीं आई। न उन्होंने कोई उपाधि लेनी चाही, न कोई सम्मान। साहित्य-साधना उनका व्रत थी; उपन्यासों में वे सदा कर्मठ विद्रोही बने रहे। यह विद्रोह चाहे जन-जीवन के प्रति हो, समाज के प्रति

---

1. कलम का सिपाही, पृ० 180।
2. डॉ० रामविलास शर्मा : प्रेमचंद और उनका युग, पृ० 7 (भूमिका)।

हो, चाहे हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई के प्रति हो उनके विचार में, जाति और धर्म आदमी-आदमी के संबंध को प्रभावित नहीं कर सकते, यदि इन जातियों, वर्गों और संप्रदायों में उदारता हो। आदमी में जातिगत या संप्रदायगत कट्टरता न हो तो आदमी आदमी का सबसे अच्छा मित्र एवं साथी बन सकता है। सांप्रदायिक भावना वैसे भी आदमी की ऐसी भावना नही है कि वह हमेशा उसे गलत काम करने के लिए प्रेरित करे। भारत में यह भावना अंग्रेजी राज्य के समय लोगों के मन में बढ़ाई गई थी। अंग्रेज अपनी सुख-सुविधा के लिए इन संप्रदायों में अनबन बढ़ाना चाहते थे, क्योंकि उन्हें सांप्रदायिक एकता की शक्ति से डर लगता था। इसीलिए इन अंग्रेजों ने भारतीय जीवन में सांप्रदायिकता का विष इस प्रकार फैलाया कि बीच-बीच में हिंदू-मुस्लिम एवं सिक्खों की समस्या हमारे समक्ष इतनी प्रबल हो जाती थी कि हम उसी समस्या को सुलझाने में लग जाते थे। प्रेमचंद अपने युग की इस भयंकर सांप्रदायिक आंधी से कभी प्रभावित नहीं हुए। वे एक ऐसे इंसान थे, जिनका सभी धर्मों के प्रति उदार विचार था। उनके सभी मित्र उनके संपर्क में आकर उनकी उदारता से प्रभावित होते थे। किसी का दिल उनकी बातों से दुखी न हो, इसका वे सदा ध्यान रखते थे।

प्रेमचंद ने मात्र अपने साहित्य में ही नहीं, अपने जीवन में भी धर्म की कट्टरता या सांप्रदायिक रूढ़ियों को महत्त्व नहीं दिया। इसीलिए इनके अनेकानेक मित्र विभिन्न धर्मों और संप्रदायों के माननेवाले थे। उनका बाह्य व्यक्तित्व तो बहुत ही साधारण था, लेकिन उस साधारण व्यक्तित्व में एक असाधारण मानव का दर्शन होता था, जो उदार एवं मानवतावादी विचारों का था, जो अनुभव करता था कि "मजहब या धर्म को हमलोगों ने किस तरह मजाक बना रखा है। वह सामाजिक और धार्मिक झगड़े-बखेड़ों और विवादों आदि से सदा बिल्कुल अलग रहते थे और आदि से अंत तक भारतवासी ही भारतवासी थे। वह अपने आपको किसी एक धर्म, समाज या फिरके का आदमी नहीं समझते थे, बल्कि सिर्फ एक हिंदुस्तानी समझते थे।"[1] प्रेमचंद में धार्मिक पक्षपात का भाव एकदम नहीं था। उनके पात्र चाहे हिंदू हों, चाहे मुसलमान, वे उन्हें व्यक्ति के रूप में चित्रित करते थे। प्रेमचंद ने उर्दू में लिखना प्रारंभ किया था। अतः उनके अनेक मुसलमान मित्र थे जिनसे उनका बहुत ही घनिष्ठ संबंध था। वे चाहते थे कि हिंदुस्तान में हिंदू और मुसलमान दोनों हिंदुस्तानी बनकर रहें। देश की अवस्था एवं हिंदू-मुस्लिम द्वेषभाव देखकर दुखी होते थे और इसकी जिम्मेवारी मजहब की गलत ताबीर (कष्टकल्पना) पर करते थे। प्रेमचंद ने मुहम्मद आकिल साहब से बातचीत के दौरान यह स्पष्ट किया था कि उस युग में जो सांप्रदायिक तनाव फैलाया गया है, वह उनके भीतर का नहीं है। वह उन लोगों पर बाहर से डाला गया था। वे

1. प्रेमचंद स्मृति, पृ० 3,4।

धर्म या मजहब को व्यक्तिगत चीज मानते थे। उससे दूसरों को तंग करना, सताना या उन पर अत्याचार करना, राजनीतिक कार्य मानते थे।

प्रेमचंद चाहते थे कि लेखकों की एक हिंदुस्तानी सभा बनाई जाए और उस सभा के आधार पर हिंदू-मुसलमानों में आपसी दोस्ती, मुहब्बत, सद्भाव और प्रेम बढ़े, वे एक-दूसरे से प्रेम-सद्भावना एवं सम्मान से मिलें। वे इस सभा के द्वारा हिंदू-मुसलमान लेखकों में एकता एवं प्रेम वढ़ाना चाहते थे। वे चाहते थे कि देश को ये लेखक, ये साहित्यकार एक ऐसा साहित्य दें जिससे देश में जो हिंदू-मुस्लिम-वैमनस्य एवं घृणा फैलाई जा रही है वह समाप्त हो जाए। हिंदू, मुस्लिम दोनों भारत-भूमि को मातृभूमि मानकर साथ-साथ प्रेम से रहें। प्रेमचंद के संपर्क में आनेवाले उनके सभी मित्र उनके उदार क्रांतिकारी विचारों से प्रभावित थे। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी जी ने लिखा है कि "प्रेमचंद जी के एक गुण ने मुझे सबसे अधिक आकर्षित किया था वह था उनमें सांप्रदायिकता का सर्वथा अभाव। हिंदू-मुस्लिम-एकता के वे सबसे बड़े हामी थे और दोनों के सांस्कृतिक मेल के लिए उन्होंने जीवन भर परिश्रम किया था।"[1] प्रेमचंद अपने जीवन में इस बात की कोशिश करते रहे कि हिंदू-मुस्लिम दोनों एक हिंदुस्तानी जबान में लिखें-पढ़ें। भाषा की एकता से उनकी आपसी एकता को भी बल मिलता एवं दोनों एक दूसरे के धर्म, विचार, संस्कृति को समझने की चेष्टा करते। इसी महत्त्वपूर्ण विश्वास को ध्यान में रख कर उन्होंने "कर्बला" नामक नाटक की रचना की एवं उसे हिंदी में प्रकाशित किया। भारत की बदकिस्मती यह है कि भारतीय हिंदू और मुस्लिम, दोनो में से किसी ने कभी एक दूसरे को समझने का प्रयास नहीं किया है। अपने साहित्य में प्रेमचंद यही प्रयास करते रहे कि आदमी बीती बातों को भूल कर नए पथ की ओर बढ़े। गड़े मुर्दे उखाड़ कर आज के सुखी जीवन में विष क्यों बोया जाय? मानवता का आदर्श तो यह है कि वह जीवन में सुख-शांति और सौहार्द्र का विकास करे। उन्होंने चतुरसेन शास्त्री की पुस्तक "इस्लाम का विषवृक्ष" के विषय में जैनेंद्रजी को एक पत्र में लिखा था "इन चतुरसेन को क्या हो गया है कि 'इस्लाम का विषवृक्ष' लिख डाला। उसकी एक आलोचना तुम लिखो और वह पुस्तक मेरे पास भेजो। इस कम्यूनल प्रोपेगंडा का जोरों से मुकाबला करना होगा, और यह ऋषभ भला आदमी भी इन चालों से धन कमाना चाहता है।"[1] प्रेमचंद ने स्वयं इस पुस्तक की आलोचना करते हुए 28 जुलाई 1933 को लिखा—"अभी हाल में 'इस्लाम का विषवृक्ष' इस नाम की एक पुस्तक साहित्य मंडल, देहली ने प्रकाशित की है। इसके लेखक हैं श्री चतुरसेनजी शास्त्री। शास्त्रीजी यशस्वी लेखक हैं। उनकी शैली में ओज है, आकर्षण है, तेज है, पर दुर्भाग्यवश वह कभी-कभी इन गुणों का दुरुपयोग किया

1. प्रेमचंद स्मृति, पृ० 137।
2. कलम का सिपाही, पृ० 524।

करते हैं। थोड़े-से धन और थोड़े-से यश के लोभ से ऐसी रचनाएं कर डालते हैं जिनसे सनसनी के साथ देश में सांप्रदायिक द्वेष को उत्तेजित करने की मनोवृत्ति साफ झलकती है। ऐसी जहरीली पुस्तकें बिकती ज्यादा हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। मुसलमानों ने हिंदुओं पर जो अत्याचार किए, उनका विशद और एकांकी विस्तार दिखाकर सांप्रदायिक मनोवृत्ति वाली हिंदू जनता में मुसलमानों के प्रति द्वेष बढ़ाया जा सकता है। क्या हिंदू धर्म दोषों से खाली है ? अपने-अपने समय में प्रभुता पाकर अत्याचार भी सभी जातियों ने किए हैं, लेकिन उन गई-बीती बातों को कीड़े की तरह पालना और उसका प्रचार करके जनता में द्वेष फैलाना राष्ट्र को सर्वनाश की ओर ले जाना है।" धार्मिक कट्टरता से भूमंडल को कितनी यातनाएं भोगनी पड़ी हैं, उनसे इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं। इस लिहाज से क्या ईसाई, क्या बौद्ध, क्या हिंदू, सभी समान रीति से अपराधी हैं। उनमें से किसी एक धर्म को छाँट लेना और सारी बुराइयां उसी में दिखाना अस्वस्थ और पक्षपातपूर्ण मन का परिचय देता है।"[1]

प्रेमचंद आलोच्य युगीन समाज के लिए अतीत की विषमता को भुला देना श्रेष्ठ समझते थे। वैसे भी, वे मानते थे कि "हम गलत इतिहास पढ़-पढ़ कर एक-दूसरे के प्रति तरह-तरह की गलतफहमियाँ दिल में भरे हुए हैं और उन्हें किसी तरह दिल से नहीं निकालना चाहते, मानो उन्हीं पर हमारे जीवन का आधार है।"[2] लेकिन इन विद्वेषों से समाज को क्या मिलेगा ? समाज की प्रगति इससे क्या संभव होगी। वस्तुत: युगजीवन को सांप्रदायिक एकता का संदेश देनेवाले युग-नेता की आवश्यकता है। वैसे तो महात्मागांधी का प्रयास चल रहा है, लेकिन उनके प्रयास में प्रभावशाली अन्य हिंदू नेताओं का सहयोग अपेक्षित है।" प्रेमचंद ने लिखा—सितम यह है कि "अब भी हिंदू कौम के अलमबरदार एकता के महत्त्व को समझने में असमर्थ हैं। चुनांचे कौंसिलों में जाने वालों की कमी नहीं है, हिंदू संगठन को ताकत पहुँचानेवालों की कमी नहीं है, ऐतिहासिक विद्वेषों के मुर्दे उखाड़ने वालों की कमी नहीं है कमी है एकता के लिए अपने को सर्पपित कर देलेवालों की, एकता के लिए मिट जानेवालों की। मुसलमान में अली बरादरान, मौलाना अबुलकलाम आजाद, डाक्टर किचलू एकता के लिए अपने को समर्पित कर चुके हैं। हिंदुओं में यह कतार खाली है। कितनी शर्म की बात है कि जिस एकता को महात्मा गांधी ने स्वराज की पहली सीढ़ी करार दिया हो, उसके लिए एक प्रभावशाली हिंदू बुजुर्ग पूरी तरह तैयार नहीं है।"[3]

प्रेमचंद भारतीय जीवन-विकास के लिए एवं हिंदू-मुस्लिम उन्नति के लिए दोनों में एकता का होना आवश्यक मानते थे। एकता में अपूर्व बल होता है। सदियों

---

1. विविध प्रसंग 2, पृ० 414-415।
2. विविध प्रसंग 2, पृ० 375।
3. वही, (मनुष्यता का अकाल), पृ० 357।

से हिंदू और मुस्लिम इस धरती पर साथ-साथ रहे हैं। यही धरती उनकी मातृभूमि है। उनके अलग होने से उनकी शक्ति बँट जाएगी एवं शक्ति-विभाजन से राष्ट्र कमजोर हो जाएगा। अंग्रेज सरकार तो यही चाहती ही है कि भारतीय राज्य टुकड़ों में बँट कर शक्तिहीन होता रहे, लोग आपस में लड़ते-झगड़ते रहें, जिससे उनकी राज्य-सत्ता को स्वामित्व प्रदान होगा।

प्रेमचंद के युग में यह स्थिति एक कठिन समस्या थी। दोनो ओर वैमनस्य के भाव इस प्रकार बढ़ाए जा रहे थे कि राष्ट्रवादी नेताओं का प्रयास बार-बार असफल हो जा रहा था। इसका संबंध हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख या ईसाई संप्रदाय के सामान्य लोगों से नहीं है। "वास्तव में जो कुछ मतभेद है वह केवल शिक्षित समुदाय के अधिकार और स्वार्थ का है। राष्ट्र के सामने जो समस्या है उसका संबंध हिंदू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई सभी से है। वेकारी से सभी दुःखी हैं। दरिद्रता सभी का गला दबाए हुए है। नित नई-नई बीमारियाँ पैदा होती जा रही हैं। उनका वार सभी संप्रदायों पर समान रूप से होता है। राष्ट्र का उद्धार इन समस्याओं को हल करने से होगा। थोड़े-से व्यक्तियों के हित पर राष्ट्र का बलिदान किया जा रहा है।"[1] प्रेमचंद हिंदू-मुस्लिम दोनों संप्रदायों से यह प्रार्थना करते थे कि देश की बड़ी समस्याओं के समक्ष अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को महत्त्व न दें। उन्हें राष्ट्र की प्रगति के लिए मन के द्वेष को दूर करना चाहिए। उनकी आकांक्षा सदा सांप्रदायिक एकता की थी। धर्म के प्रति उनके विचार बहुत ही उदार थे। वे उसे आत्मा की उदारता, निस्वार्थता एवं मानव कल्याण की वस्तु मानते थे। वे धर्म-धर्म के बीच खाई डाल कर उसमें विद्वेष की अग्नि प्रज्वलित करना नहीं चाहते थे। वे लिखते हैं कि "हमारी ईश्वर से यही प्रार्थना है कि वह हमें सन्मार्ग दिखाए और हम सांप्रदायिकता से ऊपर उठकर राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर हों।"[2]

प्रेमचंद को यह सांप्रदायिक द्वेषभाव फैलाना पसंद नहीं था। वे सांप्रदायिक प्रेम के पोषक थे और मानते थे कि आपसी झगड़े तो प्रत्येक युग में हुए हैं, वह चाहे, हिंदुओं का बौद्धों से हो या हिन्दुओं का मुसलमानों से। हमें इन बातों को भूल कर नए युग के लिए एक नया आदर्श स्थापित करना चाहिए। फिर, जब उस युग के लोगों को यह भी पता है कि सांप्रदायिकता का यह जहर अंग्रेजों के द्वारा फैलाया जा रहा है, तब भी हम उसी जहर से प्रभावित हो रहे हैं, उनकी फैलाई बातों में सत्य ढूंढ रहे हैं, यह हमारी मूढ़ता के सिवा और क्या है? जीवन के प्रति अगर हम इसी विश्वास एवं आदर्श को लेकर चलेंगे तो कल के भारत में क्या होगा? हम आनेवाले युग को क्या देंगे? प्रेमचंद ने जनवरी 1934 में अच्छी और बुरी सांप्रदायिकता के विषय

1. प्रेमचंद विविध प्रसंग (आशा का केंद्र), पृ० 393।
2. प्रेमचंद : विविध प्रसंग (आशा का केंद्र), पृ० 395।

में लिखा था—"इंडियन सोशल रिफॉर्मर अंग्रेजी का रामाजसुधारक पत्र है और अपने विचारों की उदारता के लिए मशहूर है। डॉक्टर आलम के ऐंटी-कम्यूनल लीग की आलोचना करते हुए उसने कहा है कि सांप्रदायिकता अच्छी भी है और बुरी भी। बुरी सांप्रदायिकता को उखाड़ना चाहिए। अगर अच्छी सांप्रदायिकता वह है जो अपने क्षेत्र में बड़ा उपयोगी काम कर सकती है, तो उसकी क्यों अवहेलना की जाए? अगर सांप्रदायिकता अच्छी हो सकती है, तो पराधीनता भी अच्छी हो सकती है, मक्कारी भी अच्छी हो सकती है, झूठ भी अच्छा हो सकता है, क्योंकि पराधीनता में जिम्मेवारी से बचत होती है, मक्कारी से अपना उल्लू सीधा किया जाता हैं और झूठ से दुनिया को ठगा जाता है। हम तो सांप्रदायिकता को समाज का कोढ़ समझते हैं जो हर एक संस्था में दल बंदी कराती है और अपना छोटा-सा दायरा बना सभी को उससे बाहर निकाल देती है।"[1]

साँप्रदायिक एकता के प्रति प्रेमचंद का दृष्टिकोण एक उदार मानवतावादी महान् कलाकार का था। मात्र साहित्य में ही नहीं, जीवन में भी वे धर्म, जाति एक संप्रदाय को महत्त्व नहीं देते थे। उनके अनेकानेक मित्र, सहयोगी एवं शुभचिंतक हिंदू नहीं थे। कैप्टन साहब एवं बेकन साहब ईसाई थे, लेकिन वे प्रेमचंद के शुभचिंतक एवं उनकी प्रगति के इच्छुक थे एवं प्रेमचंद का उनके प्रति विचार बहुत ही सम्मानपूर्ण था। इसके अतिरिक्त, उनके अनेकानेक मुसलमान मित्र, सहयोगी एवं शुभचिंतक थे, जिनके साथ प्रेमचंद का प्रेम एवं अपनापन धर्म एवं जाति के बंधन से ऊपर था। उनके कई मुसलमान मित्रों के पत्रों से उनकी उनके प्रति सहृदय एवं उदार भावनाओं का स्पष्ट परिचय मिलता है। अत: मात्र साहित्य में ही नहीं, जीवन में भी प्रेमचंद एक उदार मानवतावादी व्यक्ति रहे हैं। राष्ट्र-हित के लिए और हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए वे एक भाषा का संदेश देते रहे, जिससे देश के सभी लोग भाषा की एकता में बँध कर एक हो सकें। वे बार-बार उस गलत इतिहास को भुला देने का प्रयास करते थे, जिसके आधार पर हिंदू-मुस्लिम-वैमनस्य का पाठ पढ़ाया जाता था। वास्तविकता यह थी कि "कबीला" की लड़ाई में भी हिंदू मुसलमानों के साथ हिस्सा लेते थे। सिक्ख एवं हिंदू राजा की लड़ाई में कितने मुसलमान सेनिकों ने उनका साथ दिया। प्रेमचंद अपने जीवन एवं साहित्य के आधार पर एक नए इतिहास का सूत्रपात करना चाहते थे, ताकि सांप्रदायिकता का विद्वेष समाप्त होकर एकता की प्रेम-निर्झरिणी प्रवाहित होने लगे। वे हिंदुओं और मुसलमानों को एक दूसरे के निकट आने के लिए उनकी भाषा एवं साहित्य को जानने की प्रेरणा दे रहे थे। वे साहित्य एवं संस्कृति को समझने के लिए उस भाषा को आधार बनाना चाहते थे जिस भाषा से दोनों संप्रदायों में एकत्व की भावना वढ़े। उन्होंने कहा था—"अगर आज हम हिंदू और मुसलमान

1. विविध प्रसंग 3, पृ० 151-153।

एक-दूसरे के साहित्य से ज्यादा परिचित हों तो मुमकिन है, हम अपने को एक-दूसरे से ज्यादा निकट पाएँ। साहित्य में हम हिंदू नहीं हैं, मुसलमान नहीं हैं, ईसाई नहीं हैं, बल्कि मनुष्य हैं, और वह मनुष्यता हमें ओर आपको आकर्षित करती है। क्या यह खेद की वात नहीं है कि हम दोनों, जो एक मुल्क में आठ सौ साल से रहते आए हैं, एक दूसरे के पड़ोस में रहते हैं, एक दूसरे के साहित्य से इतने वेखबर हैं ? साहित्य में जो सबसे वड़ी खूवी है वह कि वह हमारी मानवता को दृढ़ बनाता है, हममें सहानुभूति और उदारता के भाव पैदा करता है।" प्रेमचंद अपने जीवन में सदा सनुष्य ही वने रहे एवं अपने साहित्य के द्वारा वे सांप्रदायिक एकता का संदेश देते रहे।

षष्ट अध्याय

प्रेमचन्द-पूर्व हिंदी कथा-साहित्य में सांप्रदायिक एकता

प्रेमचंद-पूर्व हिंदी कथा साहित्य पर जब हम विचार करते हैं तो पाते हैं कि इस युग का कथासाहित्य अपनी प्रारंभिक अवस्था में था। 19वीं शताब्दी के जन-जागरण के साथ हमारे देश में गद्य-साहित्य का विकास हुआ। गद्य-विकास का चाहे जो भी कारण रहा हो, यह तो मान्य सत्य है कि इससे साहित्यिक जागृति को बड़ा बल मिला। जीवन की विविधताओं के अध्ययन के लिए, नए-नए विज्ञान की समस्याओं को सुलझाने के लिए और दर्शन के गूढ़ चिंतन के लिए गद्य अत्यावश्यक था। सदियों से हमारे देश में पद्य ही साहित्यिक भाषा के रूप में व्यवहृत था। अतः साहित्य काव्यमय था। कथा, कहानी, सभी पद्यात्मक थे। इसलिए वर्षों तक हमारा साहित्य परिप्रेक्ष्य या परंपरा सीमित ही रही।

अंग्रेजों के राज्य-स्थापन के पश्चात् राज्य-व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए जो शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना हुई, उससे गद्य-साहित्य के विकास को आधार मिला। इसके पूर्व ईसाई-धर्म-प्रचार के लिए पादरियों ने हिंदी खड़ी बोली गद्य को जनता की भाषा के रूप में स्वीकार कर जो प्रचार कार्य किया उसने गद्य-विकास को सहायता दी। अंग्रेजी में उस समय तक गद्य अपने उन्नत एवं परिष्कृत रूप में था, गद्य के विविध रूप उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना, निबंध आदि-विकसित हो चुके थे। शिक्षण-संस्थाओं में अंग्रेजी-गद्य के अनुवाद के लिए भी हिंदी गद्य की आवश्यकता थी। देश के जागरण-संदेश, सामाजिक सुधार एवं उपदेशात्मक भाषणों के लिए भी गद्य की अपेक्षा थी।

आलोच्य युग में खड़ी बोली गद्य अपनी विविधताओं में हमारे समक्ष आने लगा। 1800 ई० में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की गई। उस कालेज में शिक्षा संबंधी कुछ पुस्तकों का निर्माण हुआ जिनके आधार पर भारतीय युवकों को शिक्षित किया जाने लगा। उस युग में चारों ओर सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक जागृति होने लगी थी। तत्कालीन जनक्रांति को अभिव्यक्त करने के लिए एवं देश की आर्थिक विपन्नता को व्यक्त करने के लिए युग-जीवन को एक सशक्त भाषा की अपेक्षा थी और वह भाषा हिंदी खड़ी बोली गद्य के रूप में हमारे सामने आई। गद्य विकास के क्रम में सर्वप्रथम कथा-साहित्य का आविर्भाव हुआ। "पाश्चात्य सभ्यता एवं साहित्य के संपर्क,

वैज्ञानिक प्रगति, जनतांत्रिक चेतना आदि के सम्मिलित प्रभाव से जिन नूतन साहित्य-रूपों का आविर्भाव एवं विकास हुआ, उपन्यास सर्वप्रथम है।"[1]

19वीं शताब्दी के प्रथम दशक में हिंदी कथा साहित्य लिखा जाने लगा था, इंशा अल्ला खां लिखित "उदेभान चरित" या "रानी केतकी की कहानी", श्री लल्लूलाल कृत "सिंहासन बत्तीसी" "बेताल पचीसी" एवं "माधवानल" तथा सदल मिश्र द्वारा रचित "चंद्रावती या नासिकेतोपाख्यान" आदि कथाएँ लिखी गईं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य कहानियाँ—किस्सा हातिमताई, किस्सा चहारदरवेश, गुलबकावली आदि लिखी गईं। इनमें से कुछ पुस्तकें फोर्ट विलयस कालेज के तत्वावधान में पाठ्य-पुस्तकों के लिए लिखवाई गई थीं। "उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में फोर्ट विलियम कालेज के तत्वावधान में कई पुस्तकों का अनुवाद हुआ। जिनमें "बैताल पचीसी" "सिंहासन बत्तीसी" "प्रेमसागर" "राजनीति" और "चंद्रावती या नासिकेतोपाख्यान" उल्लेखनीय हैं।[2] इस युग (1801 से 1869) में एक ही मौलिक रचना "रानी केतकी की कहानी" उपलब्ध है, वह भी मध्ययुगीन प्रेमाख्यानक काव्य से प्रभावित है। श्री लल्लूलाल की कहानी "सिंहासन बत्तीसी" ब्रजभाषा से अनुवादित मानी जाती है तथा सदल मिश्र की कहानी "चन्द्रावती या नासिकेतोपाख्यान" संस्कृत से प्राप्त। इसके अतिरिक्त जो किस्से उस युग में लिखे गए, वे उर्दू किस्सों पर आधारित हैं। इन कहानियों में कहानीकार का उद्देश्य किसी विशिष्ट सामाजिक या युग-समस्या का निरूपण करना नहीं था। लेखक का उद्देश्य मात्र काल्पनिक, रोमांचक कहानियों के आधार पर मनोरंजन है। तत्कालीन समाज, आलोच्ययुगीन जीवन की विविधता, सभ्यता-संस्कृति एवं सांप्रदायिक समस्या का अवलोकन इन रचनाओं में नहीं मिलता है।

आलोच्ययुगीन समाज में हिंदू-मुस्लिम-समस्या उस रूप में नहीं थी जिस रूप में अंग्रेजों की फूटनीति के कारण वाद में परिवर्तित हुई। सदियों से हिंदू और मुसलमान साथ-साथ इस धरती पर रहते आए थे। दोनों की जन्मभूमि एक ही थी दोनों के साथ-साथ रहने से दोनों में आपसी अपनत्व यथेष्ट था। दोनों एक दूसरे के धर्म का सम्मान करते थे। दोनों में आपसी प्रेम, सद्भावना एवं मित्रता थी। यह बात दूसरी थी कि हिंदू धर्म की कट्टरता के कारण अधिकांश हिंदू मुसलमानों के साथ खान-पान का संबंध स्थापित नहीं कर पाते थे। लेकिन तब भी दोनों एक दूसरे की भावनाओं का सम्मान करते थे। ईद आदि त्योहार पर मुसलमान हिंदू मित्र के घर कच्चे खाद्य पदार्थ और मिठाइयाँ भेजते थे। दशहरे और होली में हिंदू भी अपने मुसलमान मित्र से मिलते-जुलते थे, उन्हें खिलाते-पिलाते थे। दिनकर जी ने अपनी पुस्तक "संस्कृति के चार

---

1. श्री शिवनारायण श्रीवास्तव : हिंदी उपन्यास, पृ० 1।
2. डॉ० गोपाल राय : हिंदी कथा साहित्य और उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव, पृ० 144।

अध्याय" में लिखा है कि बहुत सारे रईस मुसलमान अपने हिंदू मित्रों के लिए हिंदू खाना पकानेवाला रखते थे एवं उनकी भावनाओं का, उनकी मान्यताओं का सम्मान करते थे। साधारण जनता में एवं गाँवों में तो इनका आपसी संबंध और भी सौहार्दपूर्ण था। गाँव की महिलाएँ पीरों के मजारों पर मन्नते मानती थीं; मौलवी साहब का दिया हुआ जंतर प्रेम से धारण करती थी। लोग एक दूसरे के सांस्कृतिक-सामाजिक उत्सवों में भाग लेते थे। दोनो एक दूसरे की संस्कृति से प्रभावित थे। "दशहरा और रथयात्रा उत्सवों के अनुकरण पर मुहर्रम में ताजिए निकाले जाने लगे एवं ताजिए में हिंदू और मुसलमान बिना किसी भेद-भाव के सम्मिलित होने लगे। ताजियों के पीछे चूँकि हजरत अली के बेटे हजरत इमाम हुसेन की याद थी और हजरत अली बल के आगार थे, इसलिए ताजियों का संरक्षण गाँवों के नामी पहलवान करते थे, जिनमें बहुधा हिंदू पहलवानों की भी गिनती होती थी। अखाड़ों में जैसे हिंदू "जय महाबीर" का नारा लगाते थे वैसे ही ताजियों के जुलूसों में सभी हिंदू उल्लास के साथ "या अली" पुकारते थे। हिंदू मुसलमान का छुआ हुआ नहीं खाते थे, फिर भी, दोनों जातियों का सामाजिक रिश्ता मजबूत होने लगा और एक घर से दूसरे घरों में मिठाइयों के उपहार भी भेज जाने लगे।'[1] इस प्रकार हम पाते हैं कि मध्यकालीन मुगल-सम्राट अकबर की धार्मिक उदारता तथा सूफी संत कवियों की धार्मिक समन्वय की भावना के कारण हिंदू मुस्लिम वैमनस्य की जो भावना प्रारंभ में थी, वह क्रमश: कम हो गई थी। मुसलमानों की राज्यसत्ता ज्यों-ज्यों समाप्त होने लगी, त्यों-त्यों उनका स्वभाव भी कोमल होता गया। इस काल में हिंदू-मुस्लिम ऐक्य की भावना आप-से-आप पुष्ट होती गई। हिंदू और मुसलमान आपस में इस काल में जितने समीप आए उतने पहले कभी नहीं आए थे। इसलिए 1857 की जनक्रांति में हिंदू-मुस्लिम एक होकर विदेशी सरकार के विरुद्ध विद्रोह में प्रवृत्त हुए।

इस युग के कथा-साहित्य में सांप्रदायिक समस्या पर विचार नहीं हुआ है। तत्कालीन साहित्य की रचनाओं में जीवन का अंकन नहीं मिलता है। उपन्यास या कहानी मात्र मनोरंजन का साधन मानी जाती थी। इसलिए इन पुस्तकों की रचना मुख्यत: मनबहलाव के लिए की गई। जीवन की संवेदना एवं आंतरिक संघर्ष का वर्णन कथा-साहित्य में नहीं मिलता। वस्तुत: भारतेंदु-पूर्व कथा-साहित्य में नवीन युग-जीवन का कोई स्पष्ट प्रभाव लक्षित नहीं होता। भारतेंदु-युग आते-आते हिंदी-कथा-साहित्य अपने कुछ निश्चित उद्देश्यों के प्रति प्रयत्नशील हुआ। साहित्य की दूसरी विधाओं में सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक जीवन का विवेचन होने लगा था। इस युग के कथा-साहित्य में जीवन की जीवंत समस्याओं के प्रति लेखक उदासीन रहे।

इस युग के कथा-साहित्य में अनुवाद का कार्य अधिक हुआ। भारतेंदु के प्रयास से संस्कृत से (कादम्बरी), मराठी से (चंद्रप्रभा पूर्णप्रकाश), बंगला से ("दुर्गेश-

---

1. संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 472-73।

नंदिनी" आदि का) अनुवाद किया गया। इन अनुवादों के साथ-साथ हिंदी में साहित्यिक कथा-साहित्य का आविर्भाव हुआ। भारतेंदुजी ने कथा-साहित्य के भंडार को भरने के लिए लोगों को अनुवाद करने को प्रोत्साहित किया। "भारतेंदुजी ने अनुवाद ही नहीं कराए स्वयं भी कथा-साहित्य की रचना की। उनका 'मदाल-सोपाख्यान' सन् 1873 के आसपास लिखा गया था। इसमें किस्से-कहानी के सस्तेपन की जगह भावी सामाजिक उपन्यास के लिए उच्चस्तर तैयार हो गया है। कथा-साहित्य की उनकी अमर रचना तो एक कहानी 'कुछ आपबीती, कुछ जगबीती' है, जिसका 'कविवचनसुधा' में वे केवल एक लेख लिख पाए थे; यदि रचनापूर्ण हो गई होती तो आतमकथातमक उपन्यास के क्षेत्र में अपूर्व एवं अनुकरणीय बन जाती।"[1]

उस समय बंगला में अनेकानेक साहित्यिक कोटि के उपन्यास लिखे जा चुके थे। "पीछे तो बाबू राधाकृष्णदास, बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री, बा० रामकृष्ण वर्मा आदि ने बंगला के उपन्यासों के अनुवाद की जो परंपरा चलाई, वह बहुत दिनों तक चलती रही। इन उपन्यासों में देश के सर्वसामान्य जीवन के बड़े मार्मिक चित्र रहते थे।"[2] इस अनुवादित कथा-साहित्य में जीवन की विविधता, समाज की समस्याओं का अंकन, जो मूल कथा-साहित्य में रहता था, वर्णित था। अंग्रेजी उपन्यासों का भी अनुवाद होने लगा था।

हिंदी कथा-साहित्य में अंग्रेजी ढंग के शिल्प-विधान की ओर झुकाव होने लगा। "अंग्रेजी ढंग का मौलिक उपन्यास पहलेपहल हिंदी में लाला श्रीनिवासदास का "परीक्षा गुरु" ही निकला था। उसके पीछे बा० राधाकृष्णदास ने "निस्सहाय हिंदू" और बा० बालकृष्ण भट्ट ने "नूतन ब्रह्मचारी" तथा "सौ अजान और एक सुजान" नामक छोटे-छोटे उपन्यास लिखे।"[3] श्री निवासदास की उपलब्धि यह है कि उन्होंने उपन्यासों की साहित्यिक रुचि का सूत्रपात किया और बौद्धिकों तथा उपन्यास पाठकों को एक नई परंपरा दी।[4] शुक्ल जी ने हिंदी में अंग्रेजी ढंग का प्रथम मौलिक उपन्यास "परीक्षा गुरु" को माना है। पर किसी ने "भाग्यवती" को, किसी ने "देवरानी जेठानी" को हिंदी का प्रथम उपन्यास माना। जो भी हो, उस युग में मुख्यत: यही——"परिक्षा गुरु" "नि:सहाय हिंदू" "भाग्यवती" "नूतन ब्रह्मचारी" "सौ अजान एक सुजान" इत्यादि उपन्यास लिखे गए। इन उपन्यासों में से अधिकांश उपन्यासों का कथानक सामाजिक आदर्श का विवेचन

---

1. प्रेमचंद पूर्व हिंदी उपन्यास, पृ० 59-60।
2. आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 455।
3. आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 455।
4. प्रेमचंद पूर्व के कथाकार और उनका युग, पृ० 104।

करने वाला है। परीक्षागुरु के कथानक में लेखक ने कथा के साथ युग-जीवन एवं समाज की स्थिति का भी वर्णन किया हैं। "परीक्षागुरु" का नायक, जो एक व्यापारी है, अपने धन और सम्मान के बीच अनेकानेक स्वार्थी मित्रों से घिरा पतन की ओर उन्मुख होता है और अंत में अपने सच्चे मित्र के कठिन परिश्रम एवं प्रेरणा से सत्पथ की ओर बढ़ता है, और जीवन की वास्तविकता का ज्ञान उसे होता है। श्री विश्वंभरनाथ मानव ने लिखा है कि "यह उपन्यास हमें व्यवहार-नीति का बोध कराके हमारे जीवन के जटिल मार्ग को सुगम बनाता है। इन विचारों में आदर्श और व्यवहार का बहुत सुंदर समन्वय हुआ है। सबसे अच्छी बात यह है कि लेखक ने व्यक्ति और समाज की समस्याओं को देश-हित की दृष्टि से देखा है; अतः इन विचारों के पीछे राष्ट्रीयता की प्रबल भावना झलकती है।[1] इस पुस्तक में कुछ मुस्लिम पात्र हकीम अहमद हुसेन आदि हैं। लेखक ने उनका वर्णन व्यक्ति के रूप में किया है। सांप्रदायिक जीवन की उलझन या संघर्ष का वर्णन किसी विशेष उद्देश्य को लेकर नहीं किया गया है। सांप्रदायिक एकता के महत्त्व का वर्णन इस युग के उपन्यासों में दर्शित नहीं होता। लेखक का ध्यान सांप्रदायिक समस्या की ओर नहीं है।

श्री बालकृष्ण भट्ट रचित "सौ अजान एक सुजान" की रचना "परीक्षा गुरु" की ही तरह हुई है। इसमें भी "परीक्षा गुरु" की भांति नायक को उसके स्वार्थी, चालाक, धनलोलुप, खुशामदी मित्र गलत पथ पर ले जाते हैं लेकिन अंत में अपने किसी पुराने हितैषी मित्र की सहायता से वह सत्पथ पर आता है। इसमें हिंदू पात्रों के साथ कुछ मुसलमान पात्रों का भी वर्णन है, जिसमें एक हकीम साहब हैं, जो अपनी ही बहन को नर्तकी बनने को प्रोत्साहित करते हैं। वे उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसमें कोई विशेष आदर्श नहीं है। लेखक मानता है कि "मुसलमानों में यह एक चलन है कि जो लोग कुछ पढ़े-लिखे होते हैं और उन्हें कहीं कोई जीविका का डौल न लगा तो वे या तो हकीम बन जाते हैं या मौलवी हो लड़कों को पढ़ा अपना पेट पालते हैं।"[2] हकीम साहब हाथ में तस्बीर लिए रहते हैं; वे एक मजहब परस्त व्यक्ति हैं। लेखक ने इस उपन्यास में वर्ग-विशेष के मुसलमान पात्रों को उनके गुणदोषों के साथ चित्रित किया है। लेकिन इसमें भी लेखक ने सांप्रदायिक एकता को महत्त्व नहीं दिया है।

"सौ अजान एक सुजान" के पूर्व भट्ट जी ने एक और उपन्यास "नूतन ब्रह्मचारी" लिखा था। यह एक छोटा बालकोपयोगी शिक्षाप्रद उपन्यास है, जिसमें एक आदर्श बालक के उच्चादर्शों एवं निष्कपट, निश्छल स्वभाव का वर्णन है। उपन्यास

1. श्री विश्वंभरनाथ मानव : उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यासकार, पृ० 86।
2. सौ अजान एक सुजान (उद्धृत, प्रेमचंद-पूर्व हिंदी उपन्यास), पृ० 113।

के शुरु में विनायक 8 वर्ष का एक शांत सत्यवक्ता, दयालु, निष्कपट, आज्ञाकारी, सहिष्णु, अतिथिसेवी, विनम्र बालक है। इस उपन्यास में लेखक का ध्यान बालकों को आदर्श की शिक्षा देना है। "नूतन ब्रह्मचारी" प्रारंभिक उपन्यास होने के कारण शिल्प, साहित्य एवं अभिव्यक्ति की दृष्टि से "सौ अजान एक सुजान" की अपेक्षा एक अप्रौढ़ रचना है। इस उपन्यास में सांप्रदायिक समस्याओं एवं सांप्रदायिक एकता का प्रयास नहीं है।

"नि:सहाय हिंदू" के लेखक श्री राधाकृष्ण दास हैं जिन्होंने 1881 ई० में इस पुस्तक की रचना की; लेकिन यह पुस्तक 9 वर्ष बाद 1890 ई० में प्रकाशित हो पाई। इस पुस्तक का कथानक और उद्देश्य उस समय के अन्य उपन्यासों से भिन्न है। इस उपन्यास में समकालीन जीवन की एक विशेष समस्या पर, जो हिंदू-मुस्लिम की समस्या थी, लेखक ने गंभीरतापूर्वक विचार किया है। कथानक की दृष्टि से "नि:सहाय हिंदू" (1890) का कथानक काशी नगरी से संबंधित है। उपन्यास का नायक मदन मोहन तत्कालीन समस्या गोवध-निवारण के लिए प्रयत्न करता है। उसके इस महत्त्वपूर्ण कार्य में अब्दुल अजीज नाम का उदार, धर्मनिरपेक्ष, सहृदय सज्जन मुसलमान सच्चे हृदय से उसका साथ देता है। लेकिन इन दोनों को अपने महत् उद्देश्य में सफलता इसलिए नहीं मिलती कि समाज के दूसरे सांप्रदायिक कट्टर हिंदू एवं मुसलमान उनके आदर्श को नहीं समझ पाते। उनकी धार्मिक कट्टरता के कारण विभिन्न समस्याओं के मध्य कई लोग मारे जाते हैं। अंत में इन दोनों उदार हिंदू-मुस्लिम मित्रों की भी मृत्यु हो जाती है। प्राणों की बलि देकर भी उन्होंने जीवन के एक महत्त्वपूर्ण सत्य को युग एवं समाज के समक्ष उपस्थित किया है। कथा का अंत दुःखपूर्ण है, लेकिन प्रभाव की दृष्टि से यह उपन्यास उस युग का एक सशक्त और प्रभावशाली उपन्यास है। निराशाजनक होने पर भी इसका अंत प्रभावोत्पादक एवं एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य का निरूपण करने वाला है। यह उपन्यास सांप्रदायिक एकता एवं मानवीय प्रेम, उदारता, सहानुभूति एवं अपनत्व का प्रतीक है। लेखक ने सांप्रदायिक समस्या और उस युग में होनेवाली घटनाओं के साथ युगीन जीवन को एक मार्ग भी दिखलाया है; वह मार्ग है जीवन में शांति, सुख एवं प्रेम से लिए त्याग का मार्ग। इसी त्याग के बल पर इस पुस्तक के एक मुस्लिम पात्र ने अपने जीवन-दान के साथ मानवता का उच्चादर्श स्थापित किया। हिंदू-मुस्लिम प्रेम का यह अद्‌भुत कथा-साहित्य लेखक के मानव-कल्याण और मानव-प्रेम के आदर को स्थापित करता है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि अंग्रेजों का मुख्य उद्देश्य "भारतीय जीवन को गुलाम बनाए रखने के लिए देश के मुख्य दो धार्मिक संप्रदायों में अविश्वास घृणा एवं द्वेष फैलाकर उनमें मतभेद डालना था, जिससे उनकी शासन-व्यवस्था दृढ़ से दृढ़तर होती रहे। सन् 1857 की जनक्रांति को जब उन्होंने अपनी इसी चालाकी, शक्ति एवं बर्बरता से कुचल डाला, तब उनकी वह भेद-नीति और भी स्पष्ट और तीव्र हो गई। कुछ खरीदे गए व्यक्तियों के द्वारा वे कुछ ऐसा कार्य कराते थे, जिससे भिन्न-

भिन्न धार्मिक विश्वास वालों को गहरी चोट पहुंचती थी। उनके इन्हीं कार्यों से हिंदुओं और मुसलमानों में मतभेद तीव्रतर होता जा रहा था। यहाँ लेखक ने इसी मतभेद का वर्णन किया है। अंग्रेजों की पक्षपात-नीति के कारण कुछ वर्षों तक मुस्लिम समाज ने उन्हें अपना शुभचिंतक और हितैषी समझ लिया। सदियों से साथ रहने वाले हिंदू ही उसके दुश्मन हो गए, क्योंकि अंग्रेज भोले-भोले मुसलमानों को बार-बार समझाते रहते थे कि वे बहुसंख्यक हिंदू उनकी भलाई की बात कभी नहीं सोच सकते। वे उन्हें कभी आगे नहीं बढ़ने देंगे। सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक किसी भी प्रकार की उनकी उन्नति हिंदुओं की मदद से नहीं हो सकती। अत: उनको हिंदुओं से अलग रहना चाहिए। कांग्रेस भी हिंदुओं की ही संस्था है।

प्रस्तुत पुस्तक में यह स्पष्ट किया गया है कि अंग्रेजों के बहकावे में आकर मुसलमान खुलेआम घोषणा करके गाय की हत्या करते थे, हिंदुओं की भावनाओं को आघात पहुँचाते थे। हिंदुओं पर मुसलमानों के इस कार्य की प्रतिक्रिया घृणा एवं द्वेष में होती थी। परंतु सरकार इस कांड की रोकथाम नहीं करती थी, न वह हिंदुओं की अपील सुनती थी। लेखक ने युग की इसी समस्या को अपने इस उपन्यास का विषय बनाया है। इस उपन्यास में एक मुस्लिम पात्र का हिंदुओं के प्रति स्नेह एवं गोवध रोकने के लिए प्राण दे देना हिंदू-मुस्लिम एकता और प्रेम का ज्वलंत उदाहरण है। सांप्रदायिक वैमनस्य के विष के समक्ष एक उदार मुस्लिम का हिंदू-धर्म, हिंदू-विश्वास एवं हिंदू भावनाओं के प्रति आदर और आत्म-त्याग उस युग के साहित्य की नवीन वस्तु थी। इस उपन्यास के माध्यम से लेखक ने युग-जीवन को एक नई क्रांतिकारी भावना दी थी। युगीन साहित्यकार के आदर्श से हट कर लेखक ने आलोच्य युगीन समाज के समक्ष एक ऐसे आदर्श की स्थापना की जिसकी आवश्यकता समाज को सबसे अधिक थी। उस समय के उपन्यासों से जब हम इस उपन्यास की तुलना करते हैं तो पाते हैं कि लेखक श्री राधाकृष्णदास कथानक, वस्तुशिल्प एवं आदर्श की दृष्टि से युग से बहुत आगे थे। ये अपने युग को जीवन का एक महत्त्वपूर्ण संदेश देते हैं। उस युग की परिस्थिति में हिंदू-मुस्लिम-एकता भारतीय स्वतंत्रता के लिए अत्यंत आवश्यक थी। स्वतंत्रता के लिए आपसी प्रेम, स्नेह, ममत्व आवश्यक था। हमारे इस स्नेह-संबंध को अंग्रेज जानबूझ कर समाप्त करना चाहते थे। सांप्रदायिक एकता की दृष्टि से एवं युग-जीवन के राजनीतिक विवेचन की दृष्टि से यह उपन्यास हिंदी का प्रथम मौलिक उपन्यास है, जिसका उद्देश्य सांप्रदायिकता से ऊपर उठ कर धर्म की समीक्षा करना है।

इसके अतिरिक्त उस युग में अन्य उपन्यास भी लिखे गए, जिनमें श्री ठाकुर जगमोहन सिंह लिखित "श्यामा स्वप्न" और श्री रामचंद्र प्लीडर का "नूतन चरित" मुख्य हैं, जिनमें प्रेम-वर्णन की प्रधानता है। "श्यामा स्वप्न" 1885 में लिखा गया, "नूतन चरित्र" 1887 में। इन उपन्यासों का प्रतिपाद्य विषय प्रेम है। प्रेमी, प्रेमिका

को प्राप्त करने के लिए, कठिन परिश्रम करता है और अंत में प्रेमी-प्रेमिका का मिलन होता है। उपन्यास मनोरंजक, भावनात्मक एवं प्रेमाख्यानक है। सन् 1893 में "सुंदर सरोजिनी" नामक एक उपन्यास रामनगर चंपारण राज्य के पंडित देवी शर्मा उपाध्याय ने लिखा। इस उपन्यास में लंका-भ्रमण का उल्लेख है। सती-धर्म की विजय को महत्त्वपूर्ण माना गया है। लेखक का मुख्य उद्देश्य प्रेममूलक मनोरंजक उपन्यास लिखना था। युग-जीवन की सांप्रदायिक भावनाओं, राजनीतिक समस्याओं आदि पर उसका ध्यान नहीं गया। लेकिन देश की आर्थिक व्यवस्था एवं अंग्रेजों की व्यापार-नीति एवं उसके प्रभाव से भारतीयों की आर्थिक दयनीयता का वर्णन हुआ है। लेखक अंग्रेजों की धूर्तता, उनकी चालाकी और उनकी निर्ममता का वर्णन करते हुए कहता है— "परिश्रम चाहे जो करे, पर संसार भर के फलभोगी अंग्रेज ही हैं; भारतवर्ष के नील, चाय, रेल की आय की भी वही दशा है।"[1] इस तथ्य से युगीन समाज की आर्थिक अव्यवस्था एवं विदेशियों की व्यापार-नीति का पता चलता है। इस युग के उपन्यास में नवयुग के जन-आंदोलन का स्फुरण होने लगा था, लेकिन मुख्य विषय समाज-सुधार एवं नारी-शिक्षा और जीवन का विकास था। ब्रह्म समाज और आर्य समाज का प्रभाव भी साहित्य पर पड़ने लगा था। कथा-साहित्य में अभी तक प्राचीन मान्यताओं के प्रति खुलकर विद्रोह करने की क्षमता नहीं आई थी।

उन्नीसवीं शताब्दी का अंतिम चरण एवं उपन्यास-विकास के क्षेत्र में बीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ विशेष महत्व रखता है। इस युग में उपन्यास एवं कहानी साहित्य का विकास सबसे अधिक हुआ। मौलिक उपन्यास भी खूब लिखे गए एवं अनुवादित उपन्यास भी हिंदी पाठकों को मिलने लगे। अंग्रेजी, बंगला एवं उर्दू के अनेकानेक उपन्यासों का अनुवाद हुआ। संस्कृत के गद्य काव्यों, नाटकों का अनुवाद या कथा रूपांतर भी उस युग में किया गया। इन पुस्तकों में युगीन जीवन की मौलिक समीक्षा संभव नहीं थी। उर्दू की कहानियों एवं उपन्यासों में रूमानी उच्छृंखल शृंगार, अयथार्थ, अतिलौकिक, कौतूहल उत्पन्न करने वाली घटनाओं एवं कामुकतापूर्ण वर्णन की प्रधानता थी। बंगला कथा-साहित्य में युग-जीवन एवं संघर्ष का यथेष्ट वर्णन था। लेकिन ज्यादातर उपन्यास भावना-प्रधान एवं सामाजिक थे।

विवेच्य काल में हिंदी के तीन महान उपन्यासकार ऐसे हुए, जिन्होंने अपने प्रयास से हिंदी कथा-साहित्य को विविध कथाओं से भर दिया। इनमें से श्री देवकी नंदन खत्री ने उपन्यास के लिए जनरुचि इतनी अधिक बढ़ाई कि उनकी पुस्तक "चन्द्रकांता" एवं "चन्द्रकांता संतति" को पढ़ने के लिए कितने लोगों ने हिंदी सीखी। उन्होंने "चन्द्रकांता' (1891), "नरेन्द्रमोहिनी" (1893), "वीरेन्द्र वीर अथवा कटोराभर

---

1. प्रेमचंद पूर्व हिंदी उपन्यास, पृ० 119।

खून" (1895), "कुसुम कुमारी" (1900), "काजर की कोठरी" (1902), "चन्द्रकांता संतति" (1905), "गुफ्त गोदान" भाग-1 (1910), "भूतनाथ" 6 भाग (1912) आदि लिखे। प्रेमचन्द के पूर्व उपन्यास साहित्य-क्षेत्र में श्री देवकी नंदन खत्री का ही नाम लिया जाता था। "प्रेमचंद-पूर्व युग में ये हिंदी-उपन्यास-क्षेत्र के सम्राट थे, इस कथन में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं।"[1] इनके उपन्यास का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन था, लेकिन मनोरंजन के साथ-साथ लेखक के धर्म के प्रति आस्था, हिंदू धर्म की मान्यताओं के प्रति प्रेम स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। खत्री जी के कथा साहित्य में युग-जीवन एवं युग समस्या का चित्रण नहीं हुआ है। लेखक ने युग के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक जीवन का विवेचन नहीं किया है। उन्होंने आदर्श क्षत्रियों के जीवन के आधार पर संभवतः युग-जीवन को शक्ति, आस्था, विश्वास एवं सत्कर्मों की प्रेरणा देनी चाही है। हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिक चित्रण की दृष्टि से खत्री जी का सिद्धांत अनुदार हिंदू लेखक का है। इन्होंने मुसलमान पात्रों को आचारहीन, धूर्त, चालबाज, चरित्रहीन, दगाबाज आदि रूप में चित्रित किया है। वे डाकू हत्यारे के समान हैं। वे मजहब परस्त हैं। इनके हिंदू राजे मुसलमान पात्रों से सावधान रहते हैं। अपने संपूर्ण कथा-साहित्य में "शेर अली को छोड़ कर किसी भी ऐसे मुसलमान पात्र का वर्णन खत्री जी ने नहीं किया, जो सहृदय, सज्जन एवं आदर्श पात्र होता। लेखक का विचार मुस्लिम धर्म एवं मुसलमान पात्रों के प्रति उदार नहीं था। "चंद्रकांता संतति" में कुंवर आनन्द सिंह की यह उक्ति कि "अफसोस, अगर तुम मुसलमान न होती तो मैं तुम्हें जी-जान से प्यार करता, मगर एक औरत के लिए में अपना मजहब नहीं बिगाड़ सकता।"[2] इस बात का प्रमाण है कि कट्टर हिंदू, धर्म में विश्वास करता है और अन्य धर्मों के प्रति उसके विचार उदार नहीं है। इन्हें जहां भी अवसर मिला है, मुसलमान पात्रों की निन्दा की है। इनके साहित्य में अधिकतर वेश्याएं, मुस्लिम धर्मावलम्बी हैं। "चन्द्रकांता" में वर्णित अहमद और नाजिम खल पात्र हैं जिनमें एक भी सद्गुण नहीं दर्शित होता है। ऐसा लगता है कि खत्री जी अपने साहित्य में हिंदू-मुस्लिम एकता को महत्त्व नहीं देते थे। उनके विचार सांप्रदायिक थे। हां, "चंद्रकांता संतति" में उन्होंने एक अच्छे मुस्लिम पात्र का निर्माण किया है; वह पात्र शेर अली है। संभवतः उनके साहित्यक जीवन के अंतिम चरण में उनका दृष्टिकोण परिवर्तित हो रहा था और वे हिंदू-मुस्लिम एकता के समर्थक बन रहे थे। लेकिन शेर अली को छोड़कर अन्य कोई भी मुस्लिम पात्र उनके आदर्श, प्रेम एवं एकता का प्रतीक नहीं है।

---

1. डॉ० गोपाल राय : हिंदी कथा साहित्य और उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव, पृ० 273।
2. चंद्रकांता संतति, पहला हिस्सा, पृ० 36।

सांप्रदायिक एकता की दृष्टि से खत्री जी का कथा-साहित्य भविष्यत् युगजीवन को कोई नवीन आदर्श एवं महत्त्वपूर्ण संदेश नहीं देता।

उस युग में "उपन्यासों का ढेर लगा देनेवाले दूसरे मौलिक उपन्यासकार पंडित किशोरी लाल गोस्वामी थे। उनकी रचनाएं साहित्य की कोटि में आती हैं।"[1] साहित्य की दृष्टि से उन्हें हिन्दी का पहला उपन्यासकार कहना चाहिए।[2] उन्होंने अनेकानेक उपन्यासों की रचना की। उनके मुख्य उपन्यास हैं—"प्रणयिनी परिणय" (1890), "हृदय हारिणी वा आदर्श रमणी" (1890), "त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी" (1890), "लवंगलता वा आदर्श बाला" (1890), "लीलावती वा आदर्शसती" (1901), "राजकुमारी" (1902), "तारा वा क्षत्रकुलमालिनी" (1902), "चपला वा नव्य साजचित" (1903), "कनक कुसुम वा मस्तानी" (1904), "सुल्ताना रजिया वेगम वा रंगमहल में हलाहल" (1904), "मल्लिका देवी वा बंग सरोजिनी" (1905), "हीरावाई वा वेहयाई का बुरका" (1905), "जिंदे की लाश" (1906), "पुनर्जन्म वा सौतियादाह" (1907), "लखनऊ की कब्र वा शाही महलसरा" (1906-1916), "सोना और सुगंध वा पन्नाबाई" (1909), "लाल कुंवर वा शाही रंगमहल" (1909)।

पंडित किशोरीलाल गोस्वामी ने सामाजिक उपन्यासों के अतिरिक्त ऐतिहासिक उपन्यासों की भी रचना की, जिनमें ऐतिहासिक सत्य गौण है, कल्पना का आधिक्य है। इनके अनेक उपन्यासों का सभय मुस्लिम शासनकाल का है। लेखक ने मुख्यत: तेरहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी के समय के ऐतिहासिक जीवन को चित्रित करने का प्रयास किया है। "सुल्ताना रजिया वेगम" में लेखक ने एक मुस्लिम राजकुमारी के यौवन के उद्दाम प्रेम और अपने अस्तवल के एक सिपाही 'याकूब' से प्रेम का वर्णन किया है जिसके लिए वह अपना सब कुछ अर्पण करना चाहती है, लेकिन याकूब उसकी सहेली सोसन के प्यार में बंधा है और रजिया के प्रेम-निवेदन को ठुकरा देता है। अंत में रजिया मारी जाती है। इस उपन्यास में नारी-हृदय की चंचल, उच्छृंखल वासना को उद्भासित करना और पाठकों की हल्की मनोवृत्ति को तुष्ट करना ही लेखक का उद्देश्य है। "मल्लिका देवी" वा "बंग सरोजिनी" की रचना भी लेखक ने गयासुद्दीन बलबन के समय के एक ऐतिहासिक कथानक के आधार पर की है। इस उपन्यास में भी लेखक का मुख्य उद्देश्य युद्ध एवं प्रेम व्यापार का वर्णन करना है। लेखक के अन्य सभी ऐतिहासिक उपन्यासो में पात्रों के नाम एवं कुछ प्रधान घटनाएं ऐतिहासिक हैं बाकी संपूर्ण कथा कल्पना-प्रसूत है। इन उपन्यासों में युगजीवन की समस्याओं तथा परिस्थितियों को लक्ष्य करना लेखक का उद्देश्य नहीं है। लेखक का उद्देश्य प्रेम कथाओं को मनोरंजक उत्सुकताओं से अतिरंजित कर इस प्रकार घटनाओं का सृजन करना था

1. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 499।
2. वही, पृ० 500।

जिनमें पाठकों का मन रम जाता था। अपने सामाजिक उपन्यासों में गोस्वामी जी का विशेष ध्यान काम व्यापार के नग्न उत्तेजक वर्णन में लगा है। लेखक ने संभवतः युग पाठक के मन को आकर्षित करने के लिए काम-व्यापार के वर्णन को आवश्यकता से अधिक विस्तृत किया है।

गोस्वामी जी ने अपने उपन्यासों में सांप्रदायिक एकता का प्रयास नहीं किया। ये सनातन धर्मी हिंदू लेखक थे। धर्म एवं संप्रदाय के संकुचित दायरे में रह कर लेखक ने हिंदू पाठकों का मनोरंजन करने का प्रयास किया है। वे हिंदू धर्म की रूढ़ियों से आगे की बात नहीं सोच सकते। हिंदू धर्म का प्रचार लेखक का मुख्य उद्देश्य जान पड़ता है।

गोस्वामी जी ने छोटे-बड़े 65 उपन्यास लिखे। विचारों एवं दर्शन की दृष्टि से लेखक के विचार कट्टरपंथी हिंदू के हैं। इसलिए सांप्रदायिक एकता का प्रयास उनके उपन्यास का प्रतिपाद्य नहीं है। लेखक अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में मुस्लिम पात्रों को विश्वासघाती, निर्मम, स्वार्थी, चालाक, कपटी, ऐयाश, धूर्त एवं व्यभिचारी दिखलाता है। पुरुष मुस्लिम पात्र ही नहीं, नारी मुस्लिम पात्र भी कामुक, व्यभिचारिणी, भ्रष्ट चरित्र एवं षड्यंत्रों में लगी हुई निर्मम-निष्ठुर हैं। इसके विपरीत हिंदू नारी-पात्रों को लेखक ने उनके उज्ज्वल आदर्शों से पूरित किया है। वे पातिव्रत्य एवं सतीत्व की प्रतिमा के रूप में चित्रित हैं। गोस्वामी जी ने ऐतिहासिक आदर्श मुस्लिम पात्रों जैसे, अकबर, दारा एवं सिराजुद्दौला को भी ऐतिहासिक सत्य के विरुद्ध एक साधारण, कपटी, क्रूर, स्वर्थी, दगाबाज, चरित्रहीन, विलासी व्यक्ति के रूप में चित्रित किया है। "सोना और सुगंध", "तारा व क्षत्रकुलकमलिनी" तथा "लवंगलता" में इन आदर्श मुस्लिम पात्रों को लेखक ने जिन रूपों मे प्रस्तुत किया है, उसे देखकर लेखक के संकुचित विचारों का पता चलता है। दारा और अकबर की धर्मनिरपेक्षता पर लेखक का विश्वास नहीं है। वह एक पुरातनपंथी, कट्टर हिंदू विचार के पोषक हैं, जो अपने धर्म और अपनी जाति की सीमा से बाहर निकल नहीं पाते। लेखक के विचार मानवीय गुणों के प्रति उदार और सहिष्णु नहीं हैं। मानवीय प्रेम और एकता के प्रति वह कोई उच्चादर्श स्थापित नहीं कर पाते हैं। गोस्वामी जी कुछ मुस्लिम शासकों के अत्याचार एवं भारतीय धर्म के प्रति किए गए अमानुषिक कार्यों के लिए मुसलमान शासकों को कभी क्षमा नहीं करते। उनके विचार हैं—"जिन महमूद गजनवी, अलाऊद्दीन, ओरंगजेव, नादिर सरीखे यवनों ने भारतवर्ष के धर्म धर्मकीर्त्ति, मानमर्यादा, सतीत्व, वीरता आदि देवोपम गुणों का नाश करने में कोई बात उठा नहीं रखी और जिन अकवर सरीखे मीठी नीति वालों ने हिंदुस्तान के जातीय गौरव का नाश कर डालने ही पर कमर वांधी, तो वताइए कि उन्हीं अद्भुत प्रक्रिया सम्पन्न मुसलमानों के आश्रित इतिहास लिखने वाले मुसलमानों के लिखे इतिहास की सत्यता पर पूर्ण विश्वास क्यों कर किया

जाय।"[1] लेखक इस्लामी इतिहासकारों के बताये हुए सत्य की अवहेलना तो करता ही है साथ ही वह स्वीकार करता है कि इन इतिहासकारों ने अपने प्रभुओं के अवगुणों जैसे, "दुष्टता, कुटिलता, क्रूरता, धूर्त्तता, शठता, जालसाजी, चपलता, जुल्म, अत्याचार, पाशवाचार, अमानुषीलीला, कायरता, ज्यादती, अपमान, बेइज्जती, दुराग्रह आदि दोषों का या तो भरपूर उल्लेख ही नहीं किया या जहां तक बना उसे छिपाया।"[2] अपनी पुस्तकों में गोस्वामी जी ने हिंदू संस्कृति, हिंदू आदर्श एवं हिंदू चरित्र का अत्यधिक गुणगान किया है। सुलताना रजियाबेगम में एक मुसलमान पात्र से लेखक ने हिंदू जाति की प्रशंसा कराई है। वह कहता है "कि हिंदू कौम से बढ़कर दुनिया में सच बोलने वाली दूसरी जाति नहीं है। इस कौम जैसी हमदर्दी, दियानतदारी, गरीब पर्वरी फर्माबर्दारी और पाकरूई दुनिया के पर्दे पर किसी दूसरी जात में हुई नहीं।"[3] लेखक के अनुसार हिंदू धर्म वालों ने किसी मस्जिद को नहीं तोड़ा, न किसी कुरान को जलाया एवं न किसी अन्य धर्म वालों के धार्मिक विश्वास को खंडित करने का प्रयास किया।

वस्तुतः उस युग के कथा साहित्य में हम मुस्लिम विरोधी भावना पाते हैं। औरंगजेब एवं उसके बाद के राजाओं की धार्मिक संकुचित नीति ने, धार्मिक वर्बरता ने, भारतीयों के मन को इस्लाम के प्रति घृणा से भर दिया था। गोस्वामी जी ने अपनी पुस्तक "सोना और सुगंध" में अंग्रेजों के राज्य को "शांतिमय राज्य की ठंढी छाया"[4] माना है। लेखक युग समाज से ऊपर उठकर, प्राचीन मान्यता को भूलकर, भविष्य जीवन के लिए किसी महत् आदर्श की स्थापना नहीं कर पाता। उनके उपान्यासों में सांप्रदायिक प्रेम एवं एकता का प्रयास नहीं है। संपूर्ण कथा-साहित्य में एकाध मुस्लिम पात्र को छोड़ किसी भी पात्र के प्रति लेखक प्रेम एवं सहानुभूति से विचार नहीं कर पाता।

गत युग के तीसरे सर्वश्रेष्ठ लेखक गोपाल राम गहमरी हैं, जिन्होंने हिंदी में जासूसी कथा-साहित्य का प्रवर्तन किया। इन्होंने हिंदी कथा-साहित्य को लगभग डेढ़ सौ उपन्यास दिए। इनमें से कुछ उपन्यास अनुवाद या रूपांतर हैं, जिनमें मौलिकता नहीं है। गहमरी जी ने संभवतः अनुवाद से ही कथा-साहित्य-सृजन का कार्य प्रारंभ किया था। लेखक ने मुख्यतः अपराध-प्रधान उपन्यास लिखे थे। गहमरी जी का उद्देश्य भी खत्रीजी एवं गोस्वामी जी की भांति तद्‌युगीन पाठकों का मनोरंजन था।

1. तारा व क्षत्रकुलकमलिनी भूमिका से, पृ० 9।
2. तारा व क्षत्र कुलकमलिनी, भूमिका से, पृ० 9।
3. सुलताना रजिया बेगम, पृ० 46।
4. सोना और सुगंध, पृ० 155।

उनके लोकप्रिय जासूसी उपन्यास इस प्रकार हैं—अजीव लाश (1900), जासूस और जोड़ा जासूस (1900), जमुना का खून (1901), मालगोदाम में चोरी (1902), खूनी की खोज (1903), डाक पर डाका (1903), चक्करदार चोरी (1904), हंसा देवी (1906), भयंकर भेद (1907), मरे हुए की मौत (1912), जासूस की डायरी (1912), खूनी की रिहाई (1913), जासूस की बुद्धि (1914), मुहम्मद सरवर की जासूसी (1915), चक्करदार खून (1915), गाड़ी में लाश (1920)। इन उपन्यासों में लेखक ने मनुष्य की अपराधवृत्ति, चोरी-डकैती, हत्या आदि को मुख्य विषय बनाया है।

गहमरी जी अपने युग के महान लोकप्रिय कथाकार माने जाते हैं। उन्होंने कथा-साहित्य को कोई विशेष आदर्श नहीं दिया। हिंदू विश्वास का इन्होंने पिष्टपेषण किया है। उस युग के अन्य कथाकारों की तरह उनका उद्देश्य भी सांप्रदायिक समन्वय नहीं था।

इस युग के दूसरे उपन्यासकारों में गंगा प्रसाद गुप्त ने भी अनेक ऐतिहासिक उपन्यास लिखे, जिनमें प्राचीन गौरव-गाथा के साथ मुस्लिम राजाओं का चरित्र अंकित हुआ है। गुप्त जी ने भी मुस्लिम पात्रों के साथ न्याय नहीं किया। यहां तक कि अकबर जैसे महान सांप्रदायिक समन्वय के नेता को हिंदुत्व का शत्रु बतलाया है। उन्होंने "वीर जयमल" नामक कथा-पुस्तक की भूमिका में लिखा है—"हमारी कहानी 1567 ई० से आरंभ होती है जब कि दिल्ली के तख्त पर हिंदुओं का "गुप्तशत्रु" अकबर विराज रहा था—हमारे पाठकों में से कोई-कोई शायद अकबर के साथ शत्रु का शब्द देखकर चौकेंगे, लेकिन नहीं, प्रगट में तो वह हिंदुओं से बहुत मेलजोल रखता था, परंतु उसका असल मतलब हिंदू, मुसलमान, सबको एक कर देने का था।"[1] गुप्त जी ने अकबर को एक धूर्त, चालाक, स्वार्थी मुसलमान के रूप में चित्रित किया है। इनके सभी मुसलमान पात्र विश्वासघाती, व्यभिचारी, स्वार्थी, क्रूर, निर्मम एवं मजहब परस्त हैं। इसके विपरीत, हिंदू पात्र सहृदय, वीर, विश्वासी, सच्चरित, मर्यादित, दयालु आदि उज्ज्वल गुणों से पूर्ण हैं। एक अन्य उपन्यास लेखक श्री जय रामदास गुप्त ने भी अपने उपन्यासों में युग की संकुचित हिंदू भावनाओं का परिपोषण किया है। इनके भी सभी मुसलमान पात्र, चाहे पुरुष हो या नारी, सामान्यत: धोखेबाज, कायर, स्वार्थी, धूर्त, व्यभिचारी, विलासी एवं निर्दय हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासकार श्री ब्रजनंदन सहाय का उपन्यास "लालचीन" इस दृष्टि से एक युगांतरकारी उपन्यास है, जिसमें मुसलमान पात्रों के मानवीय गुण-अवगुण का स्वतंत्र चित्रण हुआ है। ब्रजनंदन सहाय के दो अन्य सामाजिक उपन्यास भी विशेष रूप से हिंदी जगत में प्रशंसनीय हुए हैं। लेखक ने अपने उपन्यासों में युग-जीवन एवं समाज का यथार्थ चित्र अंकित किया है। इस युग का संभवत: यही एक

1. वीर जयमल व कृष्ण कांता, पृ० 13।

ऐसा ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसमें मानवीय गुणों के आधार पर पात्रों का स्वाभाविक चरित्र-चित्रण हुआ है। लेखक ने मुस्लिम पात्र के साथ न्याय किया है। इस युग के उपन्यास "निःसहाय हिंदू" को छोड़ किसी भी उपन्यास में हिंदू-मुस्लिम-एकता नहीं पाई जाती है। अतः "लालचीन" एवं "निःसहाय हिंदू" को छोड़ अन्य उपन्यासों में लेखकों ने मुस्लिम पात्रों के प्रति उदारता एवं सहृदयता का व्यवहार नहीं किया है। "निःसहाय हिंदू" के वाद इस प्रकार का सांप्रदायिक प्रेम का साहित्य प्रेमचंद युग में पुनः लिखा जाने लगा। प्रेमचंद एवं उनके युग के उपन्यासकारों ने अनुभव किया कि देश की उन्नति, विकास एवं स्वतंत्रता के लिए दोनों सांप्रदायों में एकता एवं प्रेम का होना आवश्यक है। इस युग के अन्य उपन्यासकारों में श्री मेहता लज्जाराम शर्मा, श्री भुवनेश्वर मिश्र तथा पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने अनेक लोकप्रिय उपन्यास हिन्दी साहित्य जगत को दिए। श्री मेहता लज्जाराम शर्मा ने "स्वतंत्र रमा परतंत्र लक्ष्मी"[५] (1899), धूर्त रसिक लाल (1899), हिंदू गृहस्थ (1903), आदर्श दंपति (1904), सुशीला विधवा (1907), सती सुखदेवी (1907) एवं आदर्श हिंदू (1915) आदि उपन्यास लिखे। अपने सामाजिक उपन्यासों में श्री मेहता लज्जाराम शर्मा ने सामाजिक आदर्शों के प्रतिपादन में हिंदू धर्म की मान्यताओं को स्वीकार किया। वे कट्टर सनातनधर्मी थे और आर्य समाज के उदार विचारों के अत्यंत विरोधी थे। वे हिंदू संप्रदाय में प्रचलित परंपरागत मान्यताओं के पोषक थे। उपन्यासकार ने विधवा-विवाह, स्त्री-शिक्षा एवं स्त्री-स्वतंत्र्य का विरोध किया है। नवीन युग की नई मांगों के प्रति लेखक के विचार उदार नहीं हैं। अपने सभी उपन्यासों में लेखक ने हिंदुत्व के प्रति अत्यंत मोह दिखलाया है। उसने बाल-विवाह, पातिव्रत्य जैसी रूढ़िगत मान्यताओं का समर्थन किया है। उन्होंने अपने संपूर्ण कथा-साहित्य में हिंदुओं के प्रति पक्षपात किया है।

श्री भुवनेश्वर मिश्र ने अपने उपन्यास घराऊ घटना (1893) एवं बलवंत भूमिहार (1896) में मध्यवर्गीय जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। इनके विचार सामाजिक समस्याओं के समाधान के प्रति उदार हैं। प्राचीन मान्यताओं को इन्होंने नए आलोक में देखने का प्रयास किया है; युग-जीवन के यथार्थ चित्रण एवं कथा-साहित्य को वर्ग-विशेष से हटाकर नए युग-पथ पर आरूढ़ करने का प्रयास किया जिस पथ को आगे के उपन्यासकारों ने अपना साध्य एवं पाथेय माना। इस दृष्टि से श्री भुवनेश्वर मिश्र अपने युगीन कथाकारों से आगे हैं। पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय ने आलोच्य युग में दो लोकप्रिय उपन्यासों का प्रणयन किया। अपने उपन्यास "ठेठ हिंदी का ठाठ" या देवबाला (सन् 1899) एवं अधखिला फूल (सन् 1907) में उपाध्याय जी ने हिंदुत्व के आदर्श एवं नारी-जीवन के आदर्श को अपना साध्य स्वीकार किया है। वह युगजीवन एवं जागृति के प्रति सजग हैं, नवीन युग जीवन की मान्य-

ताओं को स्वीकार करते हैं तथा अंधविश्वासों, प्राचीन मान्यताओं के प्रति उनके विचार विद्रोहात्मक हैं। लेकिन, तब भी, लेखक हिंदुत्व के आदर्शों की मान्यताओं से आगे नहीं बढ़ता।

प्रेमचंद के पूर्व उपन्यास की भांति कहानी-साहित्य भी सामाजिक उलझनों में उलझा रहा। इन कहानियों का वर्ण्य विषय प्रेम, मनोरंजन एवं सामाजिक प्राचीन मान्यताओं, रूढ़ियों एवं कुप्रथाओं के प्रति सुधार की भावना थी। सांप्रदायिक जीवन की एकता एवं मानवीय प्रेम का कथा-साहित्य इस युग में नहीं लिखा जा सका।

19वीं शताब्दी के अंतिम दशक तथा 20वीं शताब्दी के प्रथम दशक में देश की राजनीतिक परिस्थिति अंग्रेजों की भेद-नीति के कारण विषम हो गई थी। देश में उर्दू-हिंदी की तनातनी अलग चल रही थी। अंग्रेज कभी हिंदुओं को, कभी मुसलमानों को शह देकर दोनों को लड़ाते रहते थे। यह युद्ध राजनीतिक शतरंज की चाल थी, जिसमें पड़कर देश के दो संप्रदाय एक-दूसरे के धीरे-धीरे घोर विरोधी हो गए। इस युग में दोनों में जितना अलगाव या वैमनस्य हुआ वैसा गत वर्षों में नहीं हुआ था। अंग्रेजों ने पृथक् निर्वाचन एवं सांप्रदायिक पक्षपात कर दोनों के साथ जो अन्याय किया, उससे संपूर्ण देश की संघर्षपूर्ण स्थिति हो गई एवं हिंदू-मुस्लिम का द्वन्द्व बढ़ता गया। सन् 1905 के बंग-विभाजन की प्रक्रिया में दोनों संप्रदायों में भयंकर घृणा एवं द्वेष की भावना ने जो मारकाट और हत्या का रूप ले लिया उससे अधिकांश हिंदू-मुस्लिम प्रभावित हुए। देश में दोनों संप्रदायों के दो नारे—"अल्ला हो अकबर" एवं "वंदे मातरम्"—वैमनस्य के प्रत्यक्ष प्रतीक बन गए। फिर 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना ने दोनों संप्रदायों के लिए दो आदर्शों एवं दो मार्गों का निर्देश किया। इस प्रकार, बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में हिंदू-मुस्लिम-वैमनस्य अपनी पराकाष्ठा पर था और अधिकांश सामान्य हिंदू-मुस्लिम एक दूसरे को अपना दुश्मन समझने लगे थे। कुछ उदार हिंदू-मुस्लिम को छोड़ बाकी अशिक्षित एवं सामान्य हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिक वैमनस्य की ज्वाला में जलने लगे। संभवत: इसीलिए इस युग के अधिकांश उपन्यासों तथा कहानियों में हिंदुत्व के प्रति मोह एवं पक्षपात मिलता है। इन लेखकों का मुस्लिमपात्रों के साथ अन्याय इसी पृष्ठभूमि की प्रतिक्रिया माना जायगा। इसी पृष्ठभूमि में लेखकों ने मुस्लिम पात्रों को, चाहे सच या झूठ, क्रूर, दगाबाज, विश्वासघाती, पाखंडी, धूर्त, व्यभिचारी, स्वार्थ, निर्मम आदि अवगुणों से युक्त प्रस्तुत किया है, अकबर एवं दारा-शिकोह जैसे धर्म-निरपेक्ष उदार व्यक्ति को धर्मांध, पाखंडी एवं खुदगरज चित्रित किया है। अतएव प्रेमचंद के पूर्व के कथा-साहित्य में हम "नि:सहाय हिंदू" को छोड़ अन्य सभी उपन्यासों में सांप्रदायिकता का स्वर ही प्रखर पाते हैं। लेखकों के विचार इस्लाम धर्म के प्रति अनुदार एवं संकुचित हैं। वे धर्म को मानव विश्वास के रूप में नहीं, संप्रदाय के प्रतीक रूप में स्वीकार करते हैं। इस प्रकार हम पाते हैं कि आलोच्य युग में अधिकांश हिंदी लेखक हिंदुत्व की प्रतिष्ठा के प्रति सजग हैं और सांप्रदायिक

भावनाओं से प्रेरित हैं। वस्तुतः प्रेमचंद के पूर्व कथा-साहित्य में मुख्यतः तीन उद्देश्य स्पष्टतः लक्षित होते हैं, (1) नैतिक शिक्षा, (2) सामाजिक समस्याओं पर विचार और सुधार एवं (3) मनोरंजन। लेखक ने युग-जीवन की अन्य गंभीर समस्याओं को उस रूप में नहीं स्वीकार किया, जिस रूप में प्रेमचंद ने अपने युग को देखा। प्रेमचंद ने युग-जीवन की समस्या को मानवता के कल्याण के रूप में उपस्थित किया। इसीलिए उनके साहित्य में सांप्रदायिक एकता का स्वर प्रखर हो उठा। प्रेमचंद का उद्देश्य जन-जन की एकता का आदर्श था। इसीलिए उनके साहित्य में हिंदू-मुस्लिम एकता का संदेश मिलता है।

सप्तम अध्याय

प्रेमचंद के कथा-साहित्य में स्वातंत्र्य आंदोलन एवं सांप्रदायिक संघर्ष

प्रेमचन्द का युग सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं आर्थिक संक्रांति का युग था। विदेशी शासन से मुक्त होने की कामना, जो सन् 1857 की जनक्रांति की ज्वाला में प्रस्फुटित हुई थी, नये रूपों में विकसित होती हुई प्रेमचंद के युग तक आते-आते पल्लवित, पुष्पित हुई। विकास की यह प्रक्रिया और प्रतिक्रिया कहीं नारी-जागरण में, शिक्षा-प्रचार में, कहीं समाज की अंध रूढ़ियों की आलोचना में, कहीं किसानों के विरोध में, तो कहीं मानवीय एकता की आकांक्षा में प्रकट हुई। समाज इन सभी आघातों-व्याघातों एवं संघर्षों के साथ अपने लक्ष्य की ओर तीव्र गति से बढ़ता गया। युगीन जीवन एवं समाज का उद्देश्य स्वतंत्रता आंदोलन को प्रगतिशील करना एवं मानवीय विचारों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाना था। इस आंदोलन की विभिन्न प्रतिक्रिया विभिन्न क्षेत्रों में हो रही थी। बँधा हुआ समाज हर ओर से स्वतंत्र होने के लिए आकुल-व्याकुल था। बंधे हुए वातावरण में जो घुटन थी, उसका अनुभव समाज बड़ी ही तीव्रता से करने लगा था और उससे बाहर निकलने के लिए उत्साह, उमंग एवं शक्ति से कार्य कर रहा था। समाज की शिथिलता, उसकी जड़ता, उसकी अकर्मण्यता समाप्त हो रही थी। उसमें नवीन चेतना, कर्मठता, तत्परता एवं सजगता आने लगी थी। प्रत्येक भारतवासी स्वतंत्रता का सपना देखने लगा था और उसे पाने के लिए कटिबद्ध होने लगा था। लेकिन जीवन की यह नवीन आकांक्षा अभी तक कथा-साहित्य में अपने महत् उद्देश्य के साथ वर्णित नहीं हो पाई थी।

कथा साहित्य में स्वतंत्रता की इस नवीन भावना को उद्वेलित करने का श्रेय प्रेमचंद को है। उन्होंने नवीन कथा शिल्प एवं साधारण जीवन से कथानक लेकर अपने पूर्व के कथा साहित्य एवं आचार्यों की पूर्व मान्यताओं का विरोध किया। वे साहित्य को जनोपयोगी एवं युग-जीवन से संपृक्त मानते थे, मात्र मनोरंजन का आधार नहीं। कथा-साहित्य के माध्यम से वे एक ऐसी शक्ति का आह्वान करना चाहते थे, जिससे देश का प्रत्येक युवक-युवती प्रभावित हो और युग-जीवन को उससे प्रेरणा मिले, जो नवजीवन का संदेश लेकर चले और जिसमें भविष्य जीवन के लिए एक सुपथ का निर्देश हो। प्रेमचंद ने लिखा है—"साहित्य उसी रचना को कहेंगे,

जिसमें कोई सचाई प्रगट की गई हो ।"[1] साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है ।[2] वस्तुतः लेखक साहित्य को जीवन की प्रगति का साधन मानता है । सच्चा साहित्यकार युग-जीवन के संघर्षों से प्रभावित होता है । वह युग की व्यथा का, उसके दर्द का अनुभव करता है और उसे साहित्य में स्पष्ट करता है ।

प्रेमचंद का जीवन अन्याय के प्रति विद्रोही था । जीवन के प्रारंभ से लेकर मृत्यु की अंतिम घड़ी तक वे इसी अन्याय की विडंबना से युद्ध करते रहे । अपने साहित्य में प्रेमचंद का ध्येय इन्हीं सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक, सांप्रदायिक अन्यायों के प्रति संघर्ष करना था । वे अपनी कहानियों और उपन्यासों में जीवन के इन्हीं अन्यायों की कहानी कहते हैं । देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांप्रद्रायिक दुर्दशा एवं अत्याचार को लेकर प्रेमचंद का कलाकार हृदय उस अवस्था से बाहर स्वच्छंद वातावरण में आने के लिए आकुल था ।

उनका युग स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर रहा था । अतः स्वातंत्र्य-आंदोलन के प्रति साहित्यकार का सजग और जागरूक होना अपेक्षित था । इसीलिए प्रेमचंद की प्रारंभिक कहानियों का विषय देश-प्रेम तथा स्वातंत्र्य-आंदोलन था । "सोजेवतन" नाम से इनकी पाँच कहानियों का एक संग्रह निकला था, जिसमें प्रेमचंद देश-प्रेम की एवं देश की स्वतंत्रता की सजग प्रेरणा दे रहे थे और यह स्पष्ट कर रहे थे कि संसार की सबसे अमूल्य वस्तु देश-रक्षा के लिए गिरी हुई रक्त की बूंदे हैं । अतः देश की रक्षा करना, या उसे स्वतंत्र करना, देशवासियों का सर्वोपरि कर्त्तव्य है ।

प्रेमचंद ने क्रांति की भावना को अपने साहित्य का विषय बनाया । उन्होंने सबसे बड़ा कार्य यह किया कि साहित्य को व्यक्ति विशेष से हटाकर समष्टि से जोड़ा । उनका साहित्य जनसाधारण का साहित्य बन गया । उनके पात्र साधारण गाँव के साधारण व्यक्ति थे, जो अपने आवेष्टन से संघर्ष कर रहे थे, अपनी परिस्थित एवं अपने प्राचीन अंधविश्वासों, रूढ़ियों, मान्यताओं, विचारों से संघर्ष कर रहे थे । यह संघर्ष उनके जीवन का संघर्ष था; विवशता के बंधन से वे मुक्त होना चाहते थे और एक स्वर्णिम भविष्य का सपना देखते थे । वे सामाजिक अन्याय, जमींदारों तथा उनके कारिंदों के अत्याचार से आतंकित थे । वे इन अत्याचारों और यातनाओं को अपनी विवश परिस्थिति और अपनी गरीबी को भाग्यफल, कर्म का विधान मानते थे और उससे संघर्ष करने की हिम्मत टूट रही थी । वे मानते थे कि कर्मफल विधाता का विधान होता है, उससे स्वतंत्र होना आदमी के वश में नहीं है ।

---

1. प्रेमचंद : कुछ विचार पृ० 6 ।
2. वही पृ० 7 ।

प्रेमचंद के कथा-साहित्य का किसान परिस्थिति से संघर्ष करता हुआ टूट चुका था। लेकिन उसमें स्वतंत्रता की भावना, भाग्यफल को बदलने की आकांक्षा जगने लगी थी। "सेवा सदन" का चेतू ग्रामीण अर्थ व्यवस्था और पूंजीपति के अत्याचार के प्रति विद्रोह करता है और वह उस अर्थ-व्यवस्था से स्वतंत्र होना चाहता है, जो उस पर जबरदस्ती डाली गई है; लेकिन इस विद्रोह का अंत दुःखमय होता है। चेतू, प्रेमचंद की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का प्रथम शहीद है। वह आनेवाले युवा किसान का प्रेरक भी है। आज का युवा किसान प्राचीन अंधविश्वासों को, कर्मफल के विधानों को, मानने के लिए तैयार नहीं है। प्रेमचंद ग्रामीण किसानों में युग जीवन के नूतन आह्वान को, युग की मांग को, स्वतंत्र होने की सुषुप्त व्यथा को जागरित कर रहे थे। उनका किसान दीन, हीन, दुर्बल असमर्थ तो है, लेकिन उसमें परिस्थिति से संघर्ष करने की क्षमता और आत्मबल जगने लगा था। वह शांत नहीं है, उसमें हलचल है, उसमें अशांति है। लेकिन वह अभी खेलना नहीं जानता है। वह बार-बार हार जाता है, क्योंकि वह अभी अंग्रेजों की भेद-नीति उनके दाव-पेंच, उनके साम-दाम और कूटनीति को समझ नहीं पाता; पर, उसमें नए-नए प्रश्न, नई-नई जिज्ञासा उत्पन्न हो रही थी। "सेवासदन" का यही चेतू "प्रेमाश्रम" में बलराज और मनोहर बन जाता है। "रंगभूमि" में वही सूरदास की क्रांति-भावना को उद्वेलित करता है और अन्याय का विरोध करता हुआ, न्याय के लिए शहीद होता है। "गोदान" में वही भारतीय किसान गोबर के रूप में साक्षात् विद्रोह बन जाता है।

अपने संपूर्ण कथा-साहित्य में लेखक का मुख्य उद्देश्य भारत की पूर्ण स्वतंत्रता, विदेशी अत्याचार से मुक्ति एवं सांप्रदायिक एकता थी। अपने उपन्यासों "वरदान", "सेवासदन", "कायाकल्प", "प्रेमाश्रम", "रंगभूमि", "कर्मभूमि", "निर्मल", "गवन" एवं "गोदान"—में लेखक ने युग-जीवन की आर्थिक अव्यवस्था एवं उसकी दयनीय स्थित पर प्रकाश डाला है। साथ-ही-साथ, वह भारत के लिए ऐसे युवकों की कामना करता है जो देश की प्रगति, स्वतंत्रता एवं उसके आर्थिक विकास को आगे बढ़ा सकें। "वरदान" उपन्यास की मूलकथा 'सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था के कारण दो प्रणयी का बिछुड़ जाना' है। नायक अपने प्रणय-पात्र से बिछुड़ कर देश-सेवा में रत हो जाता है। लेकिन प्रारंभ से अंत तक लेखक का ध्येय देश की स्वतंत्रता, देश की सेवा की ओर है, क्योंकि कहानी के प्रारंभ में सुदामा—एक भारतीय मां—अष्टभुजा देवी की आराधना करती है और उससे एक सपूत बेटे की मांग करती है, जो देश-सेवा में संलग्न रहे। आलोच्य युगीन जीवन को राष्ट्रीय सेवा एवं स्वतंत्रता के लिए किस ओर बढ़ना होगा, यह निर्देशित नहीं था। यह युग 1910-12 का है। समाज के समक्ष अनेकानेक समस्याएं एवं उलझनें थीं। राष्ट्र की स्वतंत्रता का मार्ग सरल एवं सहज नहीं था। उसके रास्ते में अनेकानेक विघ्नबाधाएं थीं। देशप्रेम का मुख्य उद्देश्य समाज सेवा था।

समाजसेवा के माध्यम से ही भारतीय जनक्रांति का संघर्ष शुरू हुआ। उस युग की अपनी आंतरिक अनेकानेक समस्याएं थीं। शिक्षा, एकता एवं आत्मविश्वास का अभाव था। इस संवंध में सुधार के बिना हम स्वतंत्रता तक नहीं पहुंच सकते थे। इसीलिए सन् 57 की जनक्रांति एवं 1905 का विद्रोह दवा दिया जा सका। जनक्रांति या स्वतंत्रता की भावना तव मात्र कुछ पढ़े-लिखे लोगों में थी। भारतीय बहुसंख्यक जनता अभी तक अशिक्षित एवं हीनभावना से ग्रस्त भाग्यफल में विश्वास रखती थी। वर्षों से गुलाम रहते-रहते वह अपनी प्राचीन संस्कृति को भूल कर रूढ़ियों, कुरीतियों एवं अंधविश्वासों में इस प्रकार जकड़ गई थी कि उससे निकलना सहज नहीं था। ऐसे समाज एवं युग को प्रेमचंद स्वतंत्रता एवं सामाजिक एकता का संदेश देकर, उसे अंधविश्वासों से निकालना चाहते थे जिनसे वे बुरी तरह ग्रस्त थे।

"प्रेमाश्रम" उपन्यास में लेखक ने स्पष्ट करना चाह है कि भारतीय स्वतंत्रता के संघर्ष एवं उसकी जागर्ति को गांवों तक पहुंचाना अनिवार्यतः अपेक्षित है। उसके विना देश की स्वतंत्रता सिद्ध नहीं होगी। देश के कुछ व्यक्तियों की शिक्षा, सजगता एवं एकता से देश की उन्नति नहीं हो सकती। भारतीय जीवन का उत्स या जड़ गांव है। भारतीय जीवन रूपी वृक्ष को हरा-भरा करना है तो हमें उस उत्स या जड़ को सींचना होगा, वहीं जाना होगा, क्रांति, सुधार और सामाजिक सांप्रदायिक एकता वहीं से शुरू करनी होगी। वर्षों पहले से प्रेमचंद इस मूलभूत सत्य को समझ रहे थे। वे अनुभव करते थे कि भारतीय स्वतंत्रता और सांप्रदायिक एकता के नेताओं को गांवों के जीवन में जाना चाहिए। इसीलिए उन्होंने ग्रामीण जीवन की जागर्ति को अपने साहित्य का आधार बनाया है। "प्रेमाश्रम" प्रथम महायुद्ध के वाद का उपन्यास है। युद्ध के पश्चात् देश की आर्थिक विपन्नता और दयनीयता अत्यधिक बढ़ गई थी; अंग्रेजों का दमन अपनी भीषणता में था। भारतीय स्वतंत्रता सेनानी को "रोलेट एक्ट" और जलियाँवाला वाग का सामना करना पड़ रहा था। रूस की जनक्रांति समाप्त हो चुकी थी और वहां उस समय मजदूरों, किसानों का राज्य स्थापित हो गया था। विश्व के लिए यह एक नई घटना थी और स्वतंत्रता के आकांक्षी भारतीयों के लिए यह घटना प्रेरणा श्रोत थी। संपूर्ण भारतीय जनता अन्यायी महाजनों, स्वार्थी जमींदारों, लालची राज्य-कर्मचारियों एवं निर्दय-निर्मम कारिंदों एवं सिपाहियों के चक्रव्यूह से निकलने का सपना देखने लगी थी। 1917 में चंपारण (विहार) के किसानों का तथा 1918 में गुजरात के खेड़ा नामक स्थान में किसानों का विद्रोह, लगान को लेकर हुआ था। प्रेमचंद अनुभव करते थे कि खेड़ा और चंपारण की तरह संपूर्ण भारतीय गांव की अपनी-अपनी समस्याएँ हैं; उन समस्याओं के समाधान के विना देश की प्रगति संभव नहीं है। आलोच्ययुगीन राजनीति में किसानों-मजदूरों की उपेक्षा की गई थी। देश की वहुसंख्यक जनता इस स्वतंत्रता आंदोलन से अलग थी। प्रेमचंद स्वीकार करते हैं कि भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन एवं संघर्ष में किसानों-मजदूरों का साथ अपेक्षित था;

जब तक वह नहीं होगा देश की स्वतंत्रता अपनी पूर्णता में हमारे समक्ष नहीं आएगी। "गबन" उपन्यास में लेखक इसी तथ्य की पुष्टि के लिए कहता है कि बड़े-बड़े देश के नेता अपने स्वार्थ और आर्थिक चमक-दमक में इस प्रकार फंसे हुए है कि वे देश का वास्तविक कल्याण कर ही नहीं सकते। स्वतंत्रता प्राप्ति के इतने वर्ष बाद आज हम अनुभव करते हैं कि प्रेमचंद ने युगीन नेताओं को किस सूक्ष्मता से देखा था। प्रेमचंद कहते हैं —"अभी तुम्हारा राज नहीं है, तुम भोग-विलास पर मरते हो; जब तुम्हारा राज हो जाएगा तब तो तुम गरीबों को पीस कर पी जाओगे।"[1]

"प्रेमाश्रम" उपन्यास का मूल विषय लखनपुर गांव है जो पुलिस, न्याय और कानून के शिकंजों में इस प्रकार फंसा हुआ है कि निकलना चाहकर भी नहीं निकल पाता है। वह बार-बार गरीबी, बीमारी और अपने अंधविश्वासों के साथ-साथ जमींदारों, कारिंदों के पाशविक अत्याचार, अन्याय में फंस जाता है। उसके मन में मनुष्य की भांति जीने की इच्छा तीव्रतर होती है, उसे रूस के किसानों की जागर्ति का भी ज्ञान है, वह स्वतंत्रता और समानता के स्वर्णिम सुख-स्वप्न भी देखता है। मनोहर का पुत्र बलराज भारतीय जागर्ति का, युवा किसानों का प्रतिनिधित्व करता है; वह ग्रामीण आर्थिक संघर्ष को समझता है। वह समाचार-पत्र पढ़ता है, किसानों में शक्ति समानता, एकता, उनके अधिकार की भावना को उद्वेलित करता है। उसकी मां 'विलासी' अन्याय के प्रतिकार के लिए उद्यत रहती है। उसका पिता मनोहर पुलिस के अन्याय के प्रति विद्रोह करता है। एक ओर विद्रोह का अजस्र उत्साह था, दूसरी ओर दमन की, जालियांवाला बाग की, क्रूरता थी। अन्याय और अत्याचार की जिस सीमा तक प्रेमचंद ने इस उपन्यास में निर्मम नग्न चित्र उपस्थित किया है वह उस युग का सत्य था। भारतीय जीवन में किस प्रकार अत्याचार, अन्याय, हिंसा और दमन-चक्र चल रहा था, "प्रेमाश्रम" में उसका सजीव चित्रण है।

डॉ० रामविलास शर्मा ने इसे "किसान जीवन का महाकाव्य माना है।"[2] उनके अनुसार—"यह एक युग की ट्रेजेडी है जब किसान पर अत्याचार बढ़े हैं, उसने उनका प्रतिरोध करने की कोशिश की है, लेकिन सफल नहीं हो पाया। यह दुःखान्त परिणति एक दीर्घकालीन और संहारकारी संघर्ष के बाद हुई थी।"[3] वस्तुतः लखनपुर गांव का संघर्ष संपूर्ण भारतीय अर्थव्यवस्था का संघर्ष है। इस उपन्यास में लेखक ने हिंदू-मुस्लिम-एकता को महत्त्व दिया है। लखनपुर गांव मात्र हिंदुओं का गांव नहीं है, वहां मनोहर और बलराज के साथ-साथ कादिर मियां भी रहता है। वह गांव कादिर

---

1. गबन, पृ० 172।
2. डॉ० रामविलास शर्मा : प्रेमचंद एवं उनका युग, पृ० 48।
3. वही, पृ० 45।

मियां को भी उतना ही प्यारा है जितना मनोहर, बलराज को। कादिर मियां गांव का वैद्य है; उसका गांव में अत्यंत सम्मान है; लोग उसे देवता मानते हैं। वह न्याय और सत्य के लिए संघर्ष करता है। उसे हिंदुओं से अपार प्रेम है। मनोहर उसे बड़े भाई की भांति मानता है। गांवों में सांप्रदायिकता का संघर्ष नहीं था। वहां व्यक्ति व्यक्ति में एकता, प्रेम एवं सद्‌भाव था। वहां का जीवन आर्थिक संघर्ष का जीवन था। वहां भाई-भाई का प्रेम संबंध मिट्टी से बंधा हुआ था। कादिर मियां संपूर्ण संघर्ष का सूत्रधार था। वह युवकों को विघटनकारी कार्यों से रोककर सुपथ की ओर जाने की प्रेरणा देता था। लोगों की सहायता करना उसका साध्य था। वह मानवतावादी सिद्धांतों में विश्वास रखता था। उसे मनोहर से भाई की तरह प्रेम था और वह बलराज को बेटे की तरह प्यार करता था। वह संपूर्ण गांव में आपसी एकता चाहता था। यहां गांव में सभी गरीब थे, सभी की समस्या एक थी। उस समस्या के लिए सभी को मिल-जुल कर विद्रोह करना आवश्यक था। एकता में शक्ति है। अत: "प्रेमाश्रम" उपन्यास में लेखक ने सांप्रदायिक एकता को महत्त्व दिया है, साथ-ही-साथ, यह स्पष्ट किया है कि हिंदू-मुस्लिम-एकता युग की आवाज है, हम उसकी उपेक्षा कर आगे नहीं बढ़ सकते हैं।

"रंगभूमि" उपन्यास अन्याय के प्रति न्याय के लिए संघर्ष पर आधारित है। यह सन् 20 और 30 के बीच का उपन्यास है। सन् 20-21 का असहयोग आंदोलन समाप्त हो गया था और गांधीजी का वह आत्मविश्वास– कि वे असहयोग के आधार पर भारत को एक वर्ष में स्वराज दिला देंगे– पूरा नहीं हो सका। संपूर्ण भारतीय जीवन इस असफलता से निराश हो रहा था। लेकिन गांधीजी उसे आशान्वित कर रहे थे। "रंगभूमि" का आंदोलन राष्ट्रीय आंदोलन नहीं था, लेकिन सूरदास का आदर्श एवं दर्शन गांधी के आदर्श एवं दर्शन थे। सूरदास अनुभव करता है कि वह गरीब, शक्तिहीन दुर्बल एवं अंधा है, लेकिन उसमें आत्मबल है, वह अपने सिद्धांतों की रक्षा के लिए अन्याय से संघर्ष करता है और अंत में शहीद हो जाता है।

संपूर्ण वातावरण विप्लव की "रंगभूमि" बना हुआ था, जनक्रांति की वैसी भावना युग में थी। इस उपन्यास की मुख्य कथा अंधे, भिखारी सूरदास पर आधारित है। सूरदास का यह संघर्ष भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन एवं राष्ट्रीय संघर्ष का प्रतीक जान पड़ता है। सूरदास अन्याय को स्वीकार करना अपनी कायरता मानता है। "अन्याय देखकर उससे न रहा जाता था, अनीति उसके लिए असह्य थी।"[1] अपने संघर्ष में वह पराजित हो जाता है क्योंकि वह मानता है कि "अभी हम निपुण नहीं हुए हैं– हमारा दम उखड़ जाता है, हांफने लगते हैं, खिलाड़ियों को मिलाकर नहीं खेलते, आपस में झगड़ते हैं। गाली-गलौज, मारपीट करते हैं। कोई किसी की नहीं मानता।

---

1. रंगभूमि, पृ० 522।

तुम खेलने में निपुण हो, हम अनाड़ी हैं, बस इतना ही फरक है।"[1] यही सत्य राष्ट्रीय स्वतंत्रता-आंदोलन की असफलता का मूल कारण है। भारतीय जीवन में एकता का अभाव था। हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, धर्म, जाति और संप्रदायों में आपसी तनातनी थी। इसी अनेकता के कारण भारतीयों की शक्ति संचित नहीं हो पाती थी। सूरदास भविष्यवाणी करता है—"हम हार गए तो क्या ? फिर खेलेंगे; जरा दम लेने दो।"[2] यह स्वराज-आंदोलन की क्रांति की आवाज थी; यह संपूर्ण भारतीय आत्मा का अंतर्नाद थी। देश के हजारों युवक शहीद हो चुके थे। अभी वे दम ले रहे थे और पुनः नए आत्मविश्वास के साथ तैयार हो रहे थे। वे उस भीषण, बर्बर चालाक शक्ति के समक्ष झुक नहीं रहे थे। वे सूरदास के आत्मविश्वास में कह रहे थे—"हम हारे तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, रोए तो नहीं, धांधली तो नहीं की, फिर खेलेंगे, जरा दम ले लें। हार-हार कर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे और एक दिन हमारी जीत अवश्य होगी।"[3] यह आवाज असहयोग आंदोलन की असफलता के बाद की है। असहयोग आंदोलन समाप्त कर दिया गया, लेकिन भारतीय जीवन में राष्ट्रीयता की, स्वतंत्रता की आग जल रही थी। स्वातंत्र्य-आंदोलन के प्रति आशा और घोर विश्वास की भावना दृढ़ हो रही थी। भारतीय युवा एक नए लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सजग, सचेष्ट और कर्तव्यनिष्ठ हो रहे थे। वे जान हथेली पर लेकर भारत-मां को स्वतंत्र करने के लिए तत्पर थे। हिंदू-मुसलमान दोनों एक होकर उस आंदोलन में लगे थे। विनय के साथ एक मुसलमान युवक के शहीद होने पर रानी जाह्नवी कहती है कि क्या कहा ?—मुसलमान है ! कर्त्तव्य के क्षेत्र में हिंदू और मुसलमान का भेद नहीं; दोनों एक ही नाव में बैठे हुए हैं; डूबेंगे तो दोनो डूबेंगे, बचेंगे तो दोनो बचेंगे। यह सच्चा शहीद था। जाह्नवी देश के इस महान आंदोलन को सफल बनाने की आकांक्षी थी। वह विनय का अनुपम त्याग, अपूर्व सेवा, आदर्श जीवन एवं कर्मठता देश के अन्य युवकों में भी चाहती है। इस पुस्तक में प्रेमचंद स्पष्ट करना चाहते हैं कि अंग्रेज सरकार अपनी दमन-नीति से प्रत्येक संघर्ष करने वाले विरोधी व्यक्ति को कुचल डालना चाहती थी। वह भारतीय अर्थ से नित नए ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए भारतीय जनता को गुलाम बनाए रखना चाहती थी। यही अंग्रेजों की नीति थी। युगीन भारतीय राजा अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली बने हुए थे। वे उनके इशारे पर चलते थे। वे उनसे अत्यधिक डरते थे। उनका लक्ष्य अपना सुख-स्वार्थ एवं अंग्रेजों की प्रसन्नता के लिए उनके सुख एवं आराम का सामान जुटाने की तत्परता थी। युगीन जीवन अंग्रेजों और उनके भारतीय एजेंटों के अत्याचार, अन्याय से उत्पीड़ित था। संपूर्ण जन-जीवन में स्वतंत्र होने की मानवीय आकांक्षा विकसित हो रही थी एवं अन्याय के प्रति संघर्ष में सूरदास की आकांक्षा ही मानव जीवन की आकांक्षा थी।

---

1. 2, 3 – रंगभूमि, पृ० 521।

"रंगभूमि" उपन्यास में लेखक ने हिंदू, ईसाई, मुस्लिम तीनों संप्रदायों को एक स्थान पर उपस्थित किया है। भारतीय गांवों में हिंदू-मुस्लिम सदियों से रह रहे हैं। दोनों में अपनापन और एकता थी। दोनों की समस्या एक थी। उपन्यास में धर्म या संप्रदायगत संघर्ष कहीं नहीं है। ईसाई युवती सोफिया हिंदू युवक विनय से प्रेम करती है और धर्म या संप्रदाय से बढ़कर मानवता के प्रेम को महत्व देती है। सभी धर्मों में वह एक ही सत्य को स्वीकार करती है—प्रेम। सोफिया संप्रदाय और धर्म को मनुष्य का वाह्य आवरण मानती है। वह प्रेम और कर्म के महत्व को स्वीकार करती है और कहती है कि समाज ने संप्रदाय एवं धर्म के संकीर्ण विचार से मनुष्यता के प्रेम को विकसित होने नहीं दिया। प्रेमचंद स्वीकार करते हैं कि यह सांप्रदायिक संकीर्णता समाज के अधिकांश व्यक्तियों में है। वे धर्म के मूलभूत सत्य को नहीं समझ पाते हैं और उसके वाह्य रूपों के आधार पर उसे भिन्न मान लेते हैं। हिंदू धर्म जैसे उदार धर्म में भी आज संकुचित भावनाएं आ गई हैं। सदियों पहले अनेकानेक जाति और धर्म इसकी शीतल उदार छाया में पल्लवित होते रहे। लेकिन आज हिंदू धर्म में न तो ईसा के और न मुहम्मद साहब के ही धर्म के लिए स्थान है। अज्ञानी पंडितों एवं पाखंडियों के चक्कर में पड़ कर देश का धार्मिक जीवन अनुदार और संकुचित हो गया है। सांप्रदायिक संकुचित भावना के कारण दो प्रेमी एक नहीं हो सकते, क्योंकि एक राम के संप्रदाय के हैं, दूसरे ईसा मसीह के। प्रेमचंद मानते हैं कि "धर्म का मुख्य स्तंभ भय है।"[1] इस भय और अनिष्ट की शंका को दूर कर दिया जाय तो धर्म अपनी उच्चता में हमारे समक्ष आएगा और वह धर्म मानवता का धर्म होगा।

प्रेमचंद ने "रंगभूमि" में उस धर्म के प्रति निष्ठा और विश्वास व्यक्त किया हैं जहां मानव-मानव में समानता हो, जहां मनुष्य-मनुष्य से प्रेम करता हो। वे मानते हैं कि जहाँ संप्रदाय और धर्म के नाम पर दो प्रेमियों का मिलन न हो सके, जहां धर्म के नाम पर दंगा और मारपीट तथा खून किया जाता है, वह धर्म नहीं, धर्म के नाम पर कलंक है।

प्रेमचंद ने एक ओर जहां अपने साहित्य में जन-जागरण या स्वतंत्र्य-आंदोलन को महत्त्व दिया है, वहां सांप्रदायिक जीवन, उसकी समस्या और संघर्ष पर भी विचार किया है। उनके साहित्य का महत्त्वपूर्ण विषय सांप्रदायिक एकता था। उन्होंने अपने युग-जीवन की राजनीति का अध्ययन गंभीरता से किया था। वे इस बात को समझ रहे थे कि सदियों से साथ रहनेवाले हिंदू-मुस्लिम में एक दूसरे के प्रति वैमनस्य के

1. रंगभूमि, पृ० 63।

भाव जगाए जा रहे थे; उन्हें बार-बार किसी-न-किसी वहाने गलत विचार दिए जा रहे थे; उनकी धार्मिक मान्यताओं की उपेक्षा कराई जा रही थी। अतः यह समस्या अपने मूल रूप में धार्मिक नहीं थी, धार्मिक रंग में रंगी अवश्य जा रही थी। वस्तुतः धर्म के आवरण में यह एक गूढ़ राजनीतिक चाल थी, जिसे हिंदू-मुस्लिम जनता नहीं समझ पा रही थी। यह सांप्रदायिक संघर्ष या वैमनस्य रुपये-पैसे एवं अन्य प्रलोभन देकर वढ़ाया जा रहा था।

प्रेमचंद भारतीय स्वतंत्रता एवं सांप्रदायिक एकता के महान समर्थक थे। उनका विश्वास पूर्ण स्वतंत्रता और विदेशी अत्याचार से मुक्ति में था। उन्होंने चाहे जिस भी समस्या को कथा का मूल आधार बनाया हो, उनका उद्देश्य भारतीय जीवन की स्वतंत्रता, एकता, उसका आर्थिक विकास एवं संपन्नता था। प्रेमचंद मानते थे कि हमें स्वतंत्र होने के लिए मात्र अंग्रेजों से युद्ध करना नहीं है वरन् अपने आंतरिक व्यवधानों, सामाजिक बंधनों से भी संघर्ष करना है। वे स्वतंत्रता को व्यक्ति-विशेष की स्वतंत्रता और आर्थिक सफलता नहीं मानते थे। वे जन-जन की आर्थिक स्वतंत्रता के पक्षपाती थे, जिसके आधार पर गांववासी वृहत् भारतीय जीवन अपनी विपन्नता से मुक्त हो। वे युग-प्रवर्तक एवं भविष्यद्रष्टा कलाकार थे। युगीन जीवन की व्यवस्था में वे क्रांतकारी परिवर्तन के आकांक्षी थे।

इसलिए उन्होंने स्वातंत्र्य-आंदोलन के साथ-साथ युग-जीवन की भीषण विभीषिका-स्वरूप सांप्रदायिक भावनाओं को स्पष्ट किया है। "सेवासदन" में लेखक ने सांप्रदायिक संघर्ष को राजनीति पर आधारित माना है। सारे देश में छोटी-छोटी आर्थिक सामाजिक समस्याओं को सांप्रदायिकता के रंग में रंगा जाता था और हिंदू-मुस्लिम मन में दोनों के प्रति विद्वेष के भाव जगाए जाते थे। धीरे-धीरे सांप्रदायिक विद्वेष सभी वर्गों के मन में अपना आधिपत्य स्थापित करता जाता था। जाने-अनजाने वे अपने-अपने संप्रदाओं की उन्नति की वात सोचने लगे थे। उनके भाव-विचार संकुचित, अनुदार और पक्षपातपूर्ण होते जाते थे। वड़े-वड़े राजनीतिक समाजसुधारक नेता, अध्यापक एवं सरकारी कर्मचारी भी, जो अपने उदार विचारों के लिए विख्यात थे, सांप्रदायिकता की दलदल में फंस गए थे। सांप्रदायिक वैमनस्य का प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया था कि समाज के अधिकांश हिंदू और मुसलमान अपने-अपने स्वार्थ की बात सोचते थे। पढ़े-लिखे व्यक्तियों के विचार संकुचित हो गए थे। सेवासदन में तेगअली ने स्पष्ट किया कि युग जीवन की भीषण ज्वाला—सांप्रदायिकता की ज्वाला—में संपूर्ण समाज जैसे जल रहा था। आदमी आदमी नहीं, संप्रदाय हो गया था। इंसाफ और हक के ऊपर संप्रदाय का प्रभुत्व था। सांप्रदायिकता ने मनुष्य को कितना नीचे गिरा दिया था।

आलोच्य युगीन समाज सांप्रदायिकता की दलदल में फँसा हुआ था; उसके संघर्ष, संघर्ष के क्रूर परिणाम का चित्र प्रेमचंद के साहित्य में अभूतपूर्व सफलता के साथ चित्रित है। जीवन की आर्थिक स्थिति, जिस पर समाज की बुनियाद थी, जिस पर व्यक्ति-व्यक्ति की पहचान होती थी, समाप्त हो गई थी। व्यक्ति आर्थिक तराजू पर नहीं, सांप्रदायिक तराजू पर तौला जा रहा था। "जय महावीर" और "अल्ला हो अकबर" के नारों से आकाश गूँज रहा था। संतों की प्रेमवाणी, मानवता के पाठ को समाज भूल चुका था।

सांप्रदायिक आवेश में आकर भारतीय मुसलमान, जो सदियों से इसी धरती पर रह रहे थे, उस धरती से अलग धरती की कल्पना में लीन थे। सदियों से एक ही धरती पर जन्म लेकर साथ-साथ खेल कर बड़े होनेवाले हिंदू भी मुसलमानों को अपना भाई नहीं, विदेशी समझने लगे थे। दोनों ओर सांप्रदायिक संघर्ष के भाव इतने गहरे और गंभीर थे कि उन्हें लाख हटाना चाह कर भी हटाना पार नहीं लगा रहा था।

ऐसी हिंदू-मुस्लिम मनःस्थिति के चित्रण में लेखक को अपूर्व सफलता मिली है। अपने-अपने स्वार्थों के लिए कुछ व्यक्ति सामाजिक समस्या को सांप्रदायिक समस्या बना रहे थे। प्रेमचंद अपने कथा-साहित्य में एक ओर जहां इस संघर्ष को उपस्थित कर रहे थे वहीं वे इसका समाधान भी प्रस्तुत करते थे। उनका कहना था कि हिंदू-मुसलमान में भेद और विद्वेष पैदा करने वाले सांप्रदायिक विचार गलत हैं। हमें इस सांप्रदायिक विचार को समाप्त करना चाहिए। हम जाति, धर्म, सांप्रदाय से अलग इंसान भी तो हैं; हमें इंसानियत के आदर्श को स्वीकार करना चाहिए।

"कायाकल्प" नामक उपान्यास में लेखक ने इस संघर्ष को उसके गंभीर एवं वीभत्स रूप में अंकित किया है। धर्म और संप्रदाय के नाम पर जो हत्या और बलात्कार के चित्र लेखक ने उपस्थित किए हैं, वे युगीन सत्य थे। यह उपन्यास 1926 में प्रकाशित हुआ। असहयोग आंदोलन की समाप्ति से राजनैतिक उथल-पुथल और हलचल कुछ शिथिल पड़ गई थी। महात्मा गांधी छह वर्ष के लिए जेल भेज दिए गए थे। चित्तरंजन दास की मृत्यु के कारण स्वराज पार्टी का कार्यक्रम भी शांत पड़ गया था। 1925-26 के चुनाव में स्वराज पार्टी की विफलता से देश में और भी अव्यवस्था आ गई थी। कुछ दिनों के बाद गांधी जी अस्वस्थता के कारण जेल से छोड़ दिए गए और वे सक्रिय राजनीति से हट कर रचनात्मक कार्यों में संलग्न हो गए थे। "अखिल भारतीय चर्खा समिति" एवं "ग्रामोद्योग संघ" के कार्यों में वे अधिक सहयोग देने लगे। देश में चारों ओर वैमनस्य और सांप्रदायिक द्वेष का बीज बोया जा रहा था।

1924 में 9-10 सितंबर को कोहाट में भीषण सांप्रदायिक दंगा हुआ। एक ही मुहल्ले में वर्षों साथ रहने वाले दो मित्र, दो पड़ोसी एक दूसरे के दुश्मन बन बैठे। उनका वर्षों का स्नेह संबंध, अभिन्नता, सद्भावना, सहानुभूति, सम्मान और प्रेम अचानक समाप्त हो गया। लेकिन, ऐसा क्यों हुआ, कोई इसे नहीं सोच पाता था।

"कायाकल्प" का लेखक इस समस्या की गहराई में जाकर गंभीरता से सोचता है और उसे लगता है कि युग-जीवन की मर्जी के खिलाफ कोई गैबी ताकत उसे लड़ाती रहती थी। यह अदृश्य शक्ति क्या है? अंग्रेजी कूटनीति, सांप्रदायिक संघर्ष एवं दंगे के कारणों और उसके उद्देश्य को लेखक ने जिस सच्चाई से हमारे सामने रखा, वह अनुपम है।

"कायाकल्प" के ख्वाजा साहब और यशोदानंद को देखिए। वे गाढ़े मित्र, सहयोगी, पड़ोसी एवं उदार विचार के समाजसेवी थे। दोनों वर्षों से साथ-साथ रहते थे। समाजसेवा, मित्रता की उदारता में उनका विश्वास था। सांप्रदायिक उदारता के प्रति उनके विचार प्रौढ़ थे; वे एक दूसरे के भावों, विचारों का सम्मान करते थे। ख्वाजा अहमद कहते हैं—"आपलोग नहीं जानते हो, मेरी इससे गहरी दोस्ती थी। हमदोनों एक ही मकतब में पढ़े, एक ही स्कूल में तालीम पाई, एक ही मैदान में खेले। यह मेरे घर पर आता था, मेरी अम्मां जान इसको मुझसे ज्यादा चाहती थी; इसकी अम्मां जान मुझे उससे ज्यादा चाहती थी, मेरा प्यारा यशोदा, जिसकी गरदन में बांहें डाल कर मैं बागों की सैर किया करता था।"[1] ख्वाजा साहब उस बेरहम की गर्दन मरोड़ने की आकांक्षा करते हैं जिसने उनके मित्र की जान ली। वे स्वीकार करते हैं कि लोग यशोदानंदन को उनका दुश्मन समझते होंगे, क्योंकि इधर कुछ वर्षों से उनमें आपसी विद्वेष के भाव आ गए थे।" खुदा जाने वह कौन-सी ताकत थी जो हम दोनों को बरसरेजंग रखती थी। हम दोनों दिल से मेल करना चाहते थे, पर हमारी मर्जी के खिलाफ कोई गैबी ताकत हमको लड़ाती रहती थी।"[2] वे कहते थे कि "खुदा जानता है, मुझे अपना भाई और बेटा भी इससे ज्यादा अजीज नहीं।"[3] वे दोनों एक दूसरे की रक्षा के लिए अपनी जान दे सकते थे। वे मानते हैं कि वे दोनों इत्तिहाद की कोशिश करते थे और वास्तव में वे स्वीकार करते हैं कि इस बदनसीब कौम की नजात, इत्तिहाद में ही हो सकती है। जब तक हम आपसी प्रेम, भाई-चारे और एक दूसरे की धार्मिक मान्यताओं का सम्मान नहीं करेंगे, हम एक दूसरे के दुश्मन बने रहेंगे।"

लेकिन विवेच्य युगीन जीवन में कहीं भी "इत्तिहाद" की भावना नहीं थी; आदमी आपसी भेदभाव, सांप्रदायिक विद्वेष के कारण विषाक्त वातावरण में जी रहा था, राजनीतिक स्वार्थ के कारण एक दूसरे से दूर होता जा रहा था। देश का प्रत्येक मुहल्ला इस भेदभाव के विषाक्त प्रभाव से आक्रांत था। यह दूरी, यह अलगाव और भेदभाव उनपर आरोपित हो रहा था। बड़े-बड़े सांप्रदायिक नेताओं के भाषणों से लोगों के मन में विरोध के भाव बढ़ रहे थे।

---

1. कायाकल्प, पृ० 261।
2. कायाकल्प, पृ० 261।
3. वही, पृ० 260।

एक ओर हिंदू समाज "शुद्धि आंदोलन" को महत्व दे रहा था, दूसरी ओर मुस्लिम समाज गोहत्या और कुर्बानी के बहाने प्रतिशोध की भावना प्रदर्शित कर रहा था। अतः छोटी-छोटी बातों पर दोनों में आए दिन जूतियां चलती रहती थीं। जरा-जरा सी बातों पर दोनों दलों के सांप्रदायिक व्यक्ति इकट्ठे हो जाते थे और उनमें मारपीट हो जाना साधारण बात थी। प्रेमचंद ने "कायाकल्प" में लिखा है कि आगरे में उन दिनों ऐसी ही स्थिति थी। "निज के रगड़े-झगड़े सांप्रदायिक संग्राम के क्षेत्र में खींच लाए जाते थे। दोनों ही दल मजहब के नशे में चूर थे।"[1] पूरे देश की यही स्थिति थी।

प्रेमचंद एक महान साहित्यकार होने के साथ-साथ निष्पक्ष चिंतक, उदार समालोचक एवं एकता के समर्थक थे। वे बार-बार साहित्य के माध्यम से सांप्रदायिक वैमनस्य और द्वेष की हकीकत को हिंदुओं और मुसलमानों के समक्ष रखना चाहते थे और यह स्पष्ट करना चाहते थे कि उनका आपसी संघर्ष किसी विशेष लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नहीं है। वह मात्र बाह्य और बनावटी थे। लेकिन युगीन संघर्ष की गंभीरता के कारण देश के महान विचारक, राष्ट्रीय नेताओं एवं उदार साहित्यकारों के विचार परिवर्तित हो रहे थे। दोनों ओर बदला लेने की भावना कार्य कर रही थी। इसी प्रकार की परिस्थिति ने दो अभिन्न मित्र ख्वाजा अहमद और यशोदानंदन को एक दूसरे का विरोधी बना दिया था। उनके उदार विचार क्रमशः संकुचित सांप्रदायिक एवं द्वेषपूर्ण होते गए। दोनो अपने-अपने सांप्रदाय के नेता बन बैठे। यशोदानंदन जब बनारस से आगरा लौटे और ख्वाजा अहमद के विचारों, कार्यों एवं गाय की कुर्बानी की बात उन्होंने सुनी तो उन्हें आश्चर्य हुआ। द्वेष के बीज तो दोनों ओर थे, लेकिन इस प्रकार भयंकर रूप में वे बदल जाएंगे इसकी कल्पना नहीं थी। आजतक उनके मुहल्ले में कभी कुर्बानी नहीं हुई थी। "हिंदू और मुसलमान का भेद ही न मालूम होता था।"[2] लेकिन परिस्थिति और वातावरण बदल गया है। यशोदानंदन भी सांप्रदायिकता के जोश में आ जाते हैं और स्वीकार करते हैं कि... "मैं उन आदमियों में नहीं हूं कि गौ की हत्या होते देखूं और शांत खड़ा रहूं।"[3]... ख्वाजा महमूद के स्वर पर कुर्बानी होगी ? "उसके द्वार पर पहले या तो मेरी कुरबानी हो जाएगी या ख्वाजा महमूद की।"[4] चारों ओर संघर्ष का वातावरण था, पुलिस का पहरा था, दंगे होने की पूरी संभावना थी। लेकिन प्रेमचंद ने चक्रधर के उदार विचारों की प्रतिक्रिया

1. कायाकल्प, पृ० 256।
2. कायाकल्प, पृ० 32।
3. वही, पृ० 32।
4. वही, पृ० 31।

में दंगे का रुक जाना दिखाया है। प्रेमचंद कहना चाहते हैं कि हम अपने पड़ोसी, मित्र और भाई की भावनाओं का सम्मान करें तो कोई कारण नहीं है कि हममें आपसी तनाव या संघर्ष हो। साधारण गाय (या जानवर) की हिंसा को आधार मान कर सैकड़ों व्यक्तिओं की हिंसा की गंभीरता को हम नहीं सोचते। चक्रधर कहता है—"अहिंसा का नियम गौओं ही के लिए नहीं, मनुष्य के लिए भी तो है?"[1] लेकिन अपने उतावलेपन में कोई इस महान उद्देश्य की व्यंजना नहीं करता। लेकिन प्रेमचंद संघर्ष के समाधान के लिए इसकी आवश्यकता समझते हैं। चक्रधर की वीरता, गंभीरता, तत्परता और विलक्षण सांप्रदायिक उदारता ने विषाक्त वातावरण एवं होनेवाले भीषण दंगे को शांत कर दिया। चक्रधर ने स्पष्ट किया कि "खुदा बेकसों के ख़ून से नहीं खुश होता। अगर जवांमर्दी दिखानी हो तो किसी शेर का शिकार करो, किसी चीते को मारो।"[2] चक्रधर की बहादुरी, गाय के साथ-साथ जान देने की उनकी आकांक्षा ने, मुसलमानों के मनोभावों को परिवर्तित कर दिया। चक्रधर उन्हें विश्वास दिलाता है कि वह उनकी भावनाओं का, धार्मिक विश्वासों का सम्मान करता है; वह एक ही खुदा का कायल है "वही सारे जहान का खालिक मालिक है।"[3] उसे मुहम्मद साहब को रसूल मानने में कोई एतराज नहीं है। वस्तुतः हिंदू धर्म मानने वाले भी एक ईश्वर में विश्वास करते हैं। उन्हें भी मुहम्मद साहब के उच्च विचारों का सम्मान करने और उसे रसूल मानने में कोई हिचक नहीं है। प्रेमचंद सांप्रदायिक संघर्ष के समाधान के रूप में चक्रधर के उच्च विचारों को अपेक्षित मानते हैं और आशा करते हैं कि हिंदू समाज अल्पसंख्यक मुसलमानों को म्लेच्छ और अछूत न समझें, उनसे इंसान की तरह मिले। चक्रधर और महमूद साहब दो इंसान की तरह गले मिले और संघर्षमय स्थिति शांत हो गई। लेकिन स्थिति की शांति क्षणिक थी; दोनो दल के लोगों के मन में विद्वेष का भाव नित्य नए रूपों में सामने आता रहता था। राष्ट्रीय नेताओं की आवाज ईर्ष्या, द्वेष, विषमता की ज्वाला में सिमट कर रह गई थी। दोनों ओर मन का द्वेष बढ़ रहा था। "ठाकुरद्वारे में ईश्वर-कीर्तन की जगह नबियों की निंदा होती थी, मसजिदों में नमाज की जगह देवताओं की दुर्गति।" ख्वाजा साहब ने फतवा दिया—"जो मुसलमान किसी हिंदू औरत को निकाल ले जाय, उसे एक हजार हजों का सवाब होगा। यशोदानंदन ने काशी के पंडितों की व्यवस्था मंगवाई कि एक मुसलमान का वध एक लाख गौ दानों से श्रेष्ठ है।"[4] इसी तरह के

---

1. कायाकल्प, पृ० 34।
2. वही, पृ० 48।
3. वही, पृ० 40।
4. कायाकल्प, पृ० 257।

वातावरण में कुछ दिनों के बाद होली के दिन अचानक रंग के कुछ छींटों को लेकर भीषण दंगे हो गए और उस दंगे में यशोदानंदन की हत्या हो गई। उनकी पालिता पुत्री अहल्या को ख्वाजा महमूद का पुत्र उठा ले जाता है और बलात्कार की चेष्टा करता है। अहल्या अपने शील की रक्षा के लिए उसकी हत्या कर देती है।

अपने अभिन्न मित्र की हत्या देखकर ख्वाजा साहब का सांप्रदायिक उन्माद, निराशा, पश्चात्ताप और असीम दुःख में परिवर्तित हो जाता है। अहल्या के खो जाने और अपने ही पुत्र द्वारा उस पर बलात्कार की चेष्टा, तथा अहल्या के द्वारा उसकी हत्या से ख्वाजा महमूद साहब को असीम दुःख होता है। जिस लड़की को उन्होंने मेले में पाया था, जिसे अपनी बेटी की तरह वे प्यार करते थे, उसपर धर्म भेद के कारण, एक भाई ने बलात्कार की चेष्टा की। रुदन एवं पश्चात्ताप के आंसू के साथ-साथ सांप्रदायिकता का वैमनस्य समाप्त हो जाता है। वे बार-बार सोचते हैं कि हम प्रेम से रहना चाहते थे, लेकिन कोई अदृश्य शक्ति हमें बार-बार संघर्ष के लिए प्रेरित करती रहती।

प्रेमचंद स्पष्ट करना चाहते हैं कि सांप्रदायिकता की आंधी में जब "सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा" कहने वाले इकबाल साहब के विचार बदल गए, हिंदू-मुस्लिम को भारतमाता की दो आंखें मानने वाले राष्ट्रीय नेता सर सैयद अहमद साहब के विचार परिवर्तित हो गए, तब साधारण व्यक्तियों के विचार-परिवर्तन पर आश्चर्य करना व्यर्थ है। ख्वाजा साहब और यशोदानंदन साधारण आदमी थे; उनके विचार भी सांप्रदायिकता के तूफान में बदल गए तो आश्चर्य क्या ?

सांप्रदायिक संघर्ष को उपस्थित कर उसके वीभत्स रूप को हमारे सामने रखकर लेखक उसके कठोर परिणाम से अवगत कराके हमें उस उलझन से दूर रखना चाहता है। साथ-ही-साथ पश्चात्ताप की भावनावों का विकास दिखला कर प्रेमचंद युग-जीवन को एक आदर्श समन्वय की शिक्षा दे रहे थे। इतने संघर्ष, दंगा, हत्या, फसाद के बाद भी अगर युगीन जीवन को अपनी बेवकूफी, अपनी अज्ञानता का आभास हो जाता तो वह भी चक्रधर और ख्वाजा महमूद साहब की भांति बीती बातों को भूलकर एक होने की चेष्टा करता, और तब, संभवतः भारत का इतिहास कुछ और होता।

प्रेमचंद चाहते थे कि भारतीय धरती पर साथ रहने वाले दो भाइयों के विचार बदल जाएं और वे अपनी गलती समझ कर प्रेम से रहने लगें। प्रेमचंद ऐसे ही भारत का सपना देखते रहे जहाँ ख्वाजा महमूद जैसे उदारु विचार के व्यक्ति हों, जहाँ चक्रधर जैसे उदार धर्म में विश्वास रखने वाला युवक हो, जहाँ यशोदानंदन की पत्नी वागेश्वरी की भांति यथार्थ को समझने वाली महिला हो, जो यह स्वीकार करे कि हिंदू मुस्लिम दोनों को इसी धरती पर साथ-साथ रहना है; फिर व्यर्थ में वे क्यों एक दूसरे की हत्या

करने को व्याकुल हैं; अगर व्यक्ति इस सहज सत्य को समझ लें, तो अवश्य एक-न-एक दिन दोनों संप्रदाय में एकता, प्रेम और भाईचारे का बंधन होगा।

प्रेमचंद स्वीकार करते हैं कि जीवन की गति को अवरुद्ध करने वाली अशांति, दंगों को हम यदि उदारता के प्रेम में परिवर्तित कर पाते तो देश का विकास सहज हो जाता। उन्होंने अपने अन्य उपन्यासों और कहानियों में हिंदू-मुस्लिम पात्रों को साथ-साथ प्रेम से रहते दिखाया है। उन्होंने मुख्यतः उनके जीवन को आर्थिक धरातल पर आधारित अंकित किया है। कर्मभूमि की सकीना एवं अमरकांत तथा सोफिया और विनय के पवित्र प्रेम को मान्यता देने वाले उदार साहित्यकार प्रेमचंद युग-जीवन से सांप्रदायिक संघर्ष हटाकर, जीवन में आर्थिक विकास की प्रेरणा एवं एकता का आदर्श देते हैं।

अपने कथा-साहित्य में लेखक का उद्देश्य एक ओर जहाँ स्वातंत्र्य आंदोलन को उद्वेलित करना था, जिसमें हिंदू-मुस्लिम साथ-साथ भाग ले रहे थे और देश की स्वतंत्रता के लिए जान हथेली पर लेकर चल रहे थे, वहीं सांप्रदायिक संघर्ष की विभीषिका को उपस्थित कर लेखक ने हमारे मन में उसके प्रति घृणा के भाव जागरित कर हमें एकता एवं प्रेम की प्रेरणा दी है। लेखक ने स्वीकार किया है कि सांप्रदायिक संघर्ष जीवन-विकास के लिए अभिशाप है, हमें इस संघर्ष से बचना चाहिए। बेकार की भड़कावे की बातों में आकर दोनों ओर के लोग दंगे के लिए तत्पर हो जाते हैं। इससे उन्हें क्या फायदा होता है? व्यर्थ ही बसे बसाए घर उजड़ जाते हैं। बहनों की मांग का सिंदूर धुल जाता है। कितनी मांओं की गोदें खाली हो जाती हैं। भाई-भाई के खून का प्यासा बन जाता है, और यह सब इसलिए होता है कि हम एक ही ईश्वर को अलग-अलग नाम रूप की कल्पना कर उसकी पूजा करते हैं। ईश्वर के नाम भेद के कारण इंसान-इंसान के खून का प्यासा बनता है। प्रेमचंद ऐसे ही सांप्रदायिक अनुदार व्यक्तियों को यह समझाना चाहते हैं कि ईश्वर एक है, वही हम सभी का खालिक मालिक है, हम सभी उसी की संताने हैं, अतः सभी मनुष्य बराबर हैं। सभी धर्म प्रेम एवं क्षमा की शिक्षा देते हैं। अतः हमें इंसानों से प्रेम करना चाहिए।

वर्षों से हमें गलत इतिहास पढ़ाकर और गलत बातें बता कर इस्लाम के प्रति विद्वेष के भाव जगाए गए हैं। हमें उस इतिहास को नये ढंग से पढ़ना चाहिए और उस सत्य का पता लगाना चाहिए जिसके कारण हमारे मन में गलत भावनाएं भरी गई हैं। प्रेमचंद ने लिखा था कि "हमारे विचार में इसका एक साधन हमारे शिक्षा-पाठ्यक्रम में थोड़ी-सी तबदीली है।"[1] हम साथ-साथ रहकर भी एक दूसरे की रीति-नीति और धर्म के विषय में बहुत कम जानते हैं।

प्रेमचंद ने लिखा कि "इतनी सदियों तक एकसाथ पड़ोस में रहने पर भी हिंदू

1. विविध प्रसंग, भाग-2, पृ० 366।

और मुसलमान एक दूसरे के धार्मिक सिद्धांतों और सच्चाई से इतने अपरिचित हैं !... यह आमतौर पर कहा जाता है कि इस्लाम धर्म तलवार के जोर से फैला और यह कि हजरत मुहम्मद ने अपने सांप्रदाय को आज्ञा दी है कि काफिरों को कत्ल करना हीं स्वर्ग की कुंजी है...। ये बातें कितनी गलत और द्वेष पैदा करने वाली हैं ! हजरत मुहम्मद ने कभी किसी पर हमला नहीं किया। उनके जीवन में ऐसी एक भी मिसाल नहीं मिलती कि उन्होंने प्रचार के लिए या विजय के लिए कभी किसी पर फौजकशी की हो। जब भी कभी उन्होंने तलवार उठाई तो शत्रुओं से अपनी रक्षा के लिए, वह भी उस हालत में, जब और किसी तरह शत्रु अपने अन्याय से बाज न आया। कत्ल करने की जगह उन्होंने सदेव क्षमा की।"[1] वस्तुतः उनका संपूर्ण जीवन तपस्या, त्याग और क्षमा का जीवन था। ऐसे महान पुरुष के नाम पर धर्म की गलत व्याख्या कर लोगों ने जो अर्थ का अनर्थ किया और द्वेष जगाया उसका ज्वलंत अनुभव हमारे देश को भोगना पड़ा। प्रेमचंद स्पष्ट करना चाहते हैं कि इस्लाम समता, शांति और प्रेम का संदेश देता है। उसके प्रारंभिक खलीफा अबुबक्र, उमर, उस्मान, अली इत्यादि ने समता, शांति, प्रेम और एकता का संदेश दिया।

भारत में इस्लाम धर्म के प्रचारक उनके सच्चे खलीफा नहीं थे। सदियों पहले जब इस्लाम अपने उकर्ष पर था व्यापार के माध्यम से भारत में आ चुका था। उस समय भारतीय लोग इस्लाम धर्म का सम्मान करते थे। लेकिन वर्षों बाद जब भारत में इस्लाम आया, तो वह राजाओं के साथ-साथ आया। ये राजा तुर्क तथा मंगोल थे। महमूद गजनी तुर्क वंश का था और बाबर मंगोल जाति का था। इनका मुख्य ध्येय धन लूटना था। ग़जनी ने संभवतः भारत पर 17 बार चढ़ाइयां की और धन लूटता रहा। "महमूद गजनी, मुहम्मद गोरी और बाबर इस्लाम के सच्चे प्रतिनिधि नहीं थे।......अबु बक्र, उमर और अली की धार्मिक तेजस्विता उनमें नहीं थी।"[2] भारतीयों ने इनकी बर्बरता, शक्ति और अन्याय के माध्यम से इस्लाम को पाया। फिर, राजनीतिक कारणों से इनमें आपसी दुराव रहा। साथ-हीं-साथ भारतीय जनता अपनी धार्मिक अनुदारता, अंधविश्वासों और धर्मभीरुता के कारण उनसे मिल नहीं सकी।

इस्लाम विजेताओं का धर्म था। हिंदू विजित जाति थी। अत: इतिहास में दोनों में विरोध होना अनिवार्य था। प्रेमचंद स्वीकार करते हैं कि युग-युग के बाद भी हम उन विरोधों को याद कर अपनी सांप्रदायिकता को बढ़ाते हैं यह गलत है। क्योंकि हम इन अदावतों, विद्वेषों को ताबीज की तरह बांध कर प्रगति नहीं कर सकते हैं। हम गलत इतिहास पढ़कर एक दूसरे के प्रति तरह-तरह की गलत फहमियाँ दिल में भरे

1. विविध प्रसंग, पृ० 411।
2. श्री दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 276।

हुए हैं और उन्हें किसी तरह दिल से नहीं निकालना चाहते, मानों उन्हीं पर हमारे जीवन का आधार हो।"[1] वर्षों तक हिंदू मुस्लिम साथ-साथ प्रेम से रहे। अकबर की उदार नीति और संतों की अमर वाणी के प्रभाव में आकर मध्ययुग में कितने मुसलमान कवियों ने भारतीय संस्कृति को आधार मान कर साहित्य रचना की, कितने कवि राधाकृष्ण के सौंदर्य के उपासक बने। कितने हिंदू कवियों ने एक ईश्वर की स्थापना को स्वीकार किया। कितने हिंदू सैनिक और सेनापति और मंत्री मुस्लिम शासक के प्रिय रहे। सदियों से साथ रहने वाले हिंदू-मुसलमानों में एकता बढ़ी। प्रेमचंद मानते हैं कि हमारा इतिहास साक्षी है, हमारे यहाँ सांप्रदायिक युद्ध पहले कभी नहीं हुआ।

सांप्रदायिक समस्या आधुनिक युग की समस्या है। सन् 1857 के विद्रोह में हिंदू-मुस्लिम दोनों मिलकर एक हो गए थे। उनकी एकता की असीम शक्ति को देखकर अंग्रेज सरकार घबरा गई थी। अतः हमारे मन में गलत विचार, भाव और गलत ऐतिहासिक विवेचन को इस प्रकार स्थापित किया गया कि हम उससे अत्यधिक प्रभावित हो गए। प्रेमचंद स्वीकार करते हैं कि "हमें तो हिंदू-मुसलिम-संस्कृति में कोई ऐसा मौलिक भेद नजर नहीं आता"[2] जिसके आधार पर धार्मिक विद्वेष बढ़ाया जाता है। "शिव और राम और कृष्ण और विष्णु जैसे हमारे देवता हैं, वैसे ही मुसम्मद अली और हुसेन आदि मुसलमानों के देवता या पूज्यपुरुष हैं। हमारे देवता जैसे त्याग, आत्मज्ञान, वीरता और संयम के लिए आदरणीय हैं, उसी भांति मुस्लिम देवता भी हैं अगर हम श्री रामचन्द्र को स्मरणीय समझ सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि हुसैन को उतना ही आदरणीय न समझे।"[3]

प्रेमचंद सांप्रदायिकता के कारण हिंदू-मुस्लिम मन में बैठाए गए गलत विचारों को अपने साहित्य के माध्यम से हटाना चाहते थे। उनके अनेकानेक हिंदू-मुस्लिम पात्र एकता एवं प्रेम के समर्थक हैं, तथा वे उस प्रेम-संबंध को देश की प्रगति के लिए अनिवार्य मानते हैं।

अपनी कहानियों में प्रेमचंद ने जहां स्वातंत्र्य-आन्दोलन एवं विदेशी वास्ता से मुक्त होने का संदेश दिया, वहीं सांप्रदायिक संघर्ष उपस्थित कर उस एकता को अनिवार्य माना है जिससे मानवात्मा का परिष्कार होता है। उन्होंने "जुलूस", "सुहाग की साड़ी", "पत्नी से पति", "इस्तीफा", "समर यात्रा", "होली का उपहार", "जेल", "तावान", "आहुति", "शांति", "शूद्र", "चकमा", "शराब की

1. विविध प्रसंग (भाग 2), पृ० 375।
2. विविध प्रसंग (भाग 2), पृ० 376।
3. वही, पृ० 376।

दुकान", "दुस्साहस", "मैकू", "सत्याग्रह", "लाल फीता" आदि कहानियों में तत्कालीन अंग्रेजों की बर्बरता एवं स्वतंत्रता के संघर्ष का सजीव चित्र उपस्थित किया है। विवेच्य युगीन जीवन में जनक्रांति, विद्रोह एवं अंग्रेजों के अत्याचार का वाहुल्य था। "लाल फीता" कहानी में अपनी मानसिक स्वतंत्रता को महत्त्वपूर्ण मानने वाले मैजिस्ट्रेट हरविलास अपनी वर्षों की नौकरी छोड़ कर स्वतंत्र हो जाते हैं। "जेल" कहानी में मृदुला विदेशी वस्त्रों की दुकान पर धरना देती है और गिरफ्तार हो जाती है। उस समय जेल में अनेकानेक महिलाएं देश रक्षा के लिए गिरफ्तार होती थी। "जुलूस" कहानी में संपूर्ण स्वतंत्रता का जुलूस निकलता है जिसमें वालक, वृद्ध, युवा, सभी साथ दे रहे हैं तथा जो इसके आलोचक हैं वे भी अंत में स्वतंत्रता-संघर्ष के जुलूस में सम्मिलित हो जाते हैं।

"विविध प्रसंग" में "स्वराज से फ़ायदे" नामक निबंन्ध 1921 में असहयोग आंदोलन के समय प्रकाशित हुआ। इसमें स्वावलंवन, आत्मबल, आत्मविश्वास, कर्मठता को लेखक ने महत्व दिया, जिसके आधार पर हम स्वतंत्रता की ओर बढ़ सकते हैं। "संग्राम" नाटक में लेखक ने युग की स्थिति, अंग्रेजों की शासन-नीति एवं उनके व्यवहार को स्पष्ट कर उसके प्रति सजगता का संदेश दिया है। वे साहित्य के माध्यम से युग-जीवन को आगे बढ़ाना चाहते थे।

प्रेमचंद भारत में नव जन-जागरण को सांप्रदायिक एकता के साथ-साथ बढ़ाना चाहते थे। वे हमेशा इस तथ्य को महत्व देते थे कि हिंदुस्तान में रहने वाले हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख और ईसाई सभी हिंदुस्तानी रहें। वे स्वीकार करते थे कि "मजहब या धर्म को हम लोगों ने किस प्रकार मजाक बना रखा है।"[1] मजहब के बारे में उनके विचार ऊँचे थे और वे धर्म को स्वतंत्र व्यक्तिगत वस्तु मानते थे। वैसे, वे स्वयं रस्मी मजहब[2] को पसंद नहीं करते थे। बनारसी दास चतुर्वेदी ने लिखा था कि वे "हिंदू-मुस्लिम एकता के सबसे बड़े हामी थे और दोनों के सांस्कृतिक मेल के लिए उन्होंने जीवन भर परिश्रम किया था।"[3]

अपनी अनेकानेक कहानियों में लेखक ने हिंदू-मुस्लिम एकता को स्पष्ट करने के लिए उनके संघर्ष का चित्रण किया है। "क्षमा" कहानी में धर्म के प्रचार के लिए भीषण संघर्ष का वर्णन है। लेकिन, साथ-ही-साथ, शेख हसन जैसे उच्च विचारक, उदार चिंतक के माध्यम से इस्लाम की व्याख्या कर लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि शरणागत की रक्षा करना रसूलपाक की हिदायत थी। शेख हसन ने अपने प्रिय पुत्र के हत्यारे और

1. प्रेमचंद स्मृति, पृ० 3।
2. वही, पृ० 171
3. वही, पृ० 137।

इस्लाम धर्म के दुश्मन दाउद को क्षमा कर दिया तथा उसे घर पहुँचने के लिए अपनी ऊंटनी दे दी। शेखहसन की उदारता, क्षमाशीलता, सज्जनता के माध्यम से लेखक ने इस्लाम धर्म की उदारता और क्षमाशीलता की व्याख्या की है। लेखक ने इस कहानी में मानव एकता, प्रेम एवं क्षमा को महत्त्व दिया है। "न्याय"[1] कहानी में हज़रत मुहम्मद साहब के उदार व्यक्तित्व और न्याय को स्पष्ट करते हुए धर्म को धैर्य और क्षमा पर आधारित माना है।

"हिंसापरमो धर्मः" कहानी में लेखक ने धर्म के नाम पर संघर्ष का सजीव चित्र अंकित किया है। यह सांप्रदायिक संघर्ष गाँवों की तुलना में शहरों में अधिक था। गाँव में हिंदू-मुस्लिम अपने-अपने ईश्वर और अल्लाह की आराधना मंदिर-मस्जिद के बिना भी कर लेते थे।

जामिद ने शहर में आकर देखा कि वहाँ लोग मंदिर-मस्जिद को बहुत महत्व देते हैं। लेकिन अपनी संकीर्णता में हिंदू शुद्धि के आधार पर मुसलमान को हिंदू और मुसलमान हिंदू स्त्री का अपहरण कर उसे जबरदस्ती मुसलमान बनाने के लिए परेशान हैं। लेखक स्पष्ट करता है कि यह धार्मिक संघर्ष व्यक्ति की अज्ञानता की निशानी है जिसके आधार पर आज कुछ लोग हिंसा को ही परम धर्म मान रहे हैं।

"जिहाद" कहानी में भी धार्मिक संघर्ष का चित्रण है। धर्मांधता एवं पंडित-मुल्लाओं के बहकावे में आकर धर्म के नाम पर जो अधर्म होता था, प्रेमचंद उसके कटु आलोचक हैं। "मुद्दतों से उस प्रांत में हिंदू-मुसलमान साथ-साथ रहते चले आए थे, धार्मिक द्वेष का नाम न था।"[2] लेकिन सदियों से साथ रहने वाले हिंदू-मुसलमानों में भी सांप्रदायिक संघर्ष होने लगा। धार्मिक संकीर्णता के आवेग में व्यक्ति धर्म के मूल तत्त्वों को भूल कर भाई-भाई के खून का प्यासा बन गया। लेखक ने इस कहानी के माध्यम से सत्य की स्थापना की है जिसके आधार पर एक ईश्वर की पुष्टि होती है और यह ईश्वर किसी विशेष संप्रदाय का नहीं होता वरन् मनुष्य मात्र का होता है।

अपने संपूर्ण कथा साहित्य में प्रेमचंद ने जहाँ भी उन्हें अवसर मिला है धर्म को उसकी उदारता में स्वीकार किया है और हमेशा मानवता के धर्म को महत्त्व दिया है। वे सदा एक ही ईश्वर के नाम-भेद पर भाई-भाई के संघर्ष की आलोचना करते हैं। धर्म और ईश्वर के प्रति उदार एवं स्वस्थ विचार देकर वे आनेवाले युग में शांति, सद्-भावना और प्रेम की आकांक्षा करते हैं।

इस प्रकार हम पाते हैं कि प्रेमचंद का संपूर्ण साहित्य सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक उत्थान का साहित्य था। वे युग प्रवर्तक एवं भविष्यद्रष्टा कलाकार थे,

1. न्याय, पृ० 136 (मान० 2)
2. जिहाद, पृ० 173 (मान० 7)

युगीन जीवन-व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन के आकांक्षी थे। वे जिस संपूर्ण क्रांति और सांप्रदायिक एकता का सपना देख रहे थे वह देश में अवश्य आएगी। आनेवाली क्रांति की आवाज को वे पहचानते थे। जमींदारी-प्रथा के उन्मूलन का सपना उन्होंने देखा था; नारी-शिक्षा, नारी-जागरण, विधवा-विवाह आज देश में उनके क्रांतिकारी साहित्य के कारण साधारण बात है। आर्थिक स्वतंत्रता, सांप्रदायिक एकता, विश्वबंधुत्व एवं मानवता की भावना की जो प्रेरणा प्रेमचंद जनजीवन को दे गए हैं, भविष्य भारत उसी ओर प्रगतिशील है।

अष्टम अध्याय

प्रेमचंद के कथा-साहित्य में सांप्रदायिक एकता : प्रयत्न की दिशा

प्रेमचंद का संपूर्ण साहित्य सांप्रदायिक एकता, सांप्रदायिक समन्वय एवं मानव-प्रेम का सहित्य है। उन्होंने अपने संपूर्ण साहित्य में किसी सांप्रदायिक भाव को, जाति-पांति एवं धर्म को महत्व नहीं दिया। वे एक ऐसे आदर्श के समर्थक थे जिसमें मनुष्यता, इंसानियत का महत्व हो। मानव-धर्म में उनका विश्वास था। वे मानवता एवं मानवीय खुशहाली में विश्वास करते थे। मनुष्य-जीवन के विकास एवं प्रगति में उनकी आस्था थी।

प्रारंभ में मुसलमान जव आकर इस देश के शासक बने थे, तव भले उनके अत्याचार और धर्म-प्रचार का जोर था। लेकिन वाद में सूफी एवं संतों के मानवता-वादी सिद्धांत ने एवं अकवर की उदारतावादी नीति ने हिंदू एवं मुसलमानों को एक-दूसरे के निकट ला दिया और उनमें जो सांप्रदायिक तनाव तथा वैमनस्य था, वह समाप्त हो गया। देश में हिंदू-मुस्लिम साथ-साथ प्रेम से रहने लगे। राजकीय जुल्म, कठोरता तथा वाद के मुस्लिम वादशाहों की नीति से जन-साधारण पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था। गांव में अलगू चौधरी और जुम्मन मियां[1] साथ-साथ प्रेम से रहते थे। शहर में मिरजा नईम और कैलाश[2] एवं सलीम और अमरकांत[3] एक साथ प्रेम से पढ़ते थे और दोनों में भाइयों की तरह घनिष्ठता थी, अभिन्न मित्रता थी। धर्म इस भाई-भाई के प्रेम में कभी बाधक नहीं था। जीवन में आशांति नहीं थी। गाँव में हिंदू-मुस्लिम संवंध सांप्रदायिकता की प्रज्वलित ज्वाला के बाद भी, वर्षों तक एकता एवं भाईचारे के प्रेम में बंधा था। लेकिन अंग्रेजों की नीति के कारण धीरे-धीरे इन दोनों सांप्रदायों में तनाव आने लगा। अपनी शासन व्यवस्था की दृढ़ता के लिए, राज्य सत्ता की रक्षा के लिए, अंग्रेजों ने जिस भेद-नीति को प्रश्रय दिया, उससे इन दोनों संप्रदायों में घृणा, वैमनस्य एवं द्वेष के भाव जगने लगे। अंग्रेजों ने राजनीतिक

1. पंच परमेश्वर
2. डिक्री के रुपये
3. कर्मभूमि

धरातल पर धर्म को आधार मान कर मानव-मन में दूसरे मानव के लिए जो द्वेष एवं दुश्मनी का जहर पैदा किया, उसका प्रभाव आज तक इस देश में है। हिंदू-मुस्लिम समस्या का आधार धार्मिक नहीं है, वरन् उसका विशिष्ट राजनीतिक पहलू है, जिसने एकता के किसी भी प्रयत्न को कारगर सिद्ध नहीं होने दिया। यदि राजनीतिक पहलू मूल में नहीं होता तो केवल धर्म के कारण इन दोनों जातियों में इतना वैमनस्य कभी नहीं बढ़ता, सांप्रदायिक द्वेष और घृणा क्रमशः बढ़कर राष्ट्रीय समस्या नहीं बन जाती।

प्रेमचंद ने इस सांप्रदायिक समस्या को वहुत ही गंभीरता से देखा। अपने सभी उपन्यासों में उन्होंने युग की इस वृहत् समस्या को अंकित किया है और समाज को वार-बार सचेत क़रते रहे हैं कि वह धर्म के नाम पर, निर्गुण-सगुण, राम-रहीम के नाम पर मानव-मानव की हत्या की होली न खेले।

अपने साहित्य में उन्होंने यह स्पष्ट करना चाहा है कि राजनीतिक दबाव के कारण इस समस्या को चाहे जितना भी अधिक गंभीर बनाया जाता हो, अगर आदमी इस समस्या को गहराई में जाकर साधे तो समस्या का समाधान हमारे समक्ष निकल जाएगा। 'सेवा सदन' उपन्यास में उन्होंने वताया है कि यह समस्या राजनीतिक है। लागों के मन मे सांप्रदायिक की घृणा को शासक वर्गों ने फैलाया है और यह भावना मात्र साधारण व्यक्तियों में नहीं, वड़े-बड़े शिक्षकों और सरकारी कर्मचारियों में भी पाई जाती है। प्रेमचंद के युग में भारत की यही वास्तविक स्थिति थी। सांप्रदायिकता की भावना बड़े-बड़े नेताओं, पढ़े-लिखे लोगों में जितनी अधिक थी उतनी ग्रामीण किसानों एवं साधारण लोगों में नहीं थी। उनका जीवन आर्थिक ढाँचे पर आधारित था।

समाज में हिंदू और मुस्लिम नारियों के जीवन में भी कोई अन्तर नहीं था। "सेवासदन" में भोली और सुमन का जीवन समाज की दो क्रांतिकारी नारियों का जीवन है। एक मुसलमान है, दूसरी हिंदू, लेकिन दोनों की सामाजिक स्थिति एक ही हैं। दोनों सामाजिक रूढ़ियों से स्वतंत्र होने के लिए संघर्ष करती हैं। मुस्लिम होने पर भी भोली का समाज में वही स्थान है, जो रूढ़िवादी युवती सुमन का। दोनों के जीवन का आर्थिक पक्ष प्रवल है। सामाजिक और आर्थिक धरातल पर भोली, महवूव जान, जोहरा वाई, सुंदरबाई और सुमन, सभी की एक ही स्थिति है। सेवासदन में तेगअली ने मुस्लिम मेम्वरों के विचार-परिवर्तन पर जो कटाक्ष किया है उसके मूल में राजनीति है। देश की हिंदू-मुस्लिम समस्या को इतना उत्तेजित किया गया कि दोनों ओर गलत विचार, गलत सिद्धांत बनाए जाने लगे।

प्रेमचंद ने धर्म को धूर्तों का अड्डा माना है। सुमन कहती है—"आजकल धर्म तो धूर्तों का अड्डा बना हुआ है। इस निर्मल सागर में एक-से एक मगरमच्छ पड़े हुए

हैं। भोले-भाले भक्तों को निगल जाना उनका काम है।"[1] लेकिन इन धार्मिक पंडों, पाखंडियों के कारण समाज और देश का किस प्रकार पतन हो रहा था, वह "सेवासदन" के 30-31 अध्यायों में स्पष्ट है। प्रेमचंद चाहते थे कि राजनीतिक कुचक्रों के द्वारा या विशेषाधिकार के द्वारा जो वैमनस्य की भावना उत्पन्न की जा रही है और जिनमें थोड़े से सेठ महाजनों, साहूकारों एवं जमींदारों का स्वार्थ है, जो सांप्रदायिकता के रंग को और भी गहरा करना चाहते थे, उनका पर्दाफाश किया जाय और सर्वसाधारण को इनकी स्वार्था नीति से परिचित कराया जाय ताकि वे सत्य से अवगत हो कर सुपथ पर आगे बढ़ सकें। "कायाकल्प" उपन्यास में लेखक ने इस समस्या को और भी गम्भीरता से देखा है।

प्रेमचंद के अनुसार देश की राजनीति और कुछ नेताओं का जीवन सरकारी इशारे पर चलता था। सांप्रदायिक भेद-भाव का यह विद्वेष ऊपर से उत्तेजित किया जाता था। एक साथ कॉलेज में पढ़ने वाले अभिन्न मित्र, समाजसेवी उदार विचार वाले यशोदानंदन एवं ख्वाजा महमूद साहब का विचार-परिवर्तन इस सांप्रदायिक विद्वेष के विषेले जहर के फैलाव का अनुपम उदाहरण है। सांप्रदायिक वैमनस्य की उत्तेजना ने एक-दूसरे को एक-दूसरे का दुश्मन बना दिया। दोनों के उदार विचार बदल गए। दोनों अपने-अपने संप्रदाय के नेता बन कर लोगों में विद्वेष की भावनाएँ बढ़ाने लगे। दोनों जिला हाकिम से मिलते थे और अपनी-अपनी राज्य-भक्ति का राग अलापते थे। देश में छोटी-छोटी समस्याओं को लेकर हिंदू-मुसलमानों में लड़ाइयां होती रहती थीं। इन दंगों का कोई विशेष कारण नहीं था; सांप्रदायिक द्वेष ऊपर से थोपा जाता था। लेकिन शासन इस मार-पीट, झगड़े और हत्या को तटस्थ भाव से देखता था। असीम शक्तिशाली ब्रिटिश शासक इस साधारण उलझन को सुलझाने का प्रयास करने के बजाय अपनी नीतियों से उनमें ईर्ष्या एवं द्वेष के भाव उकसाया करते थे।

"कायाकल्प" उपन्यास में प्रेमचंद ने दिखाया है कि आगरे में गाय की कुरबानी को लेकर भयंकर सांप्रदायिक भावनाएँ उद्वेलित हुई। यहां तक कि शांति एवं प्रेम से रहने वाले और हिंदू-मुस्लिम एकता के समर्थक ख्वाजा महमूद साहब भी धार्मिक उत्तेजना के शिकार होते हैं। प्रेमचंद लिखते हैं -"अगर महमूद में सचमुच काया-पलट हो गया है तो यही कहूँगा कि धर्म से ज्यादा द्वेष पैदा करने वाली वस्तु संसार में नहीं है।"[2] लेकिन धार्मिकता के जोश और सांप्रदायिकता के उद्वेग में यशोदानंदन भी परिवर्तित होने लगते हैं और कहते हैं—"ख्वाजा महमूद के द्वार पर कुरबानी होगी! उनके द्वार पर इसके पहले या तो मेरी कुरबानी हो जाएगी या ख्वाजा महमूद की।"[3]

---

1. सेवा सदन, पृ० 120।
2. कायाकल्प, पृ० 31।
3. कायाकल्प, पृ० 31।

इस प्रकार एकसाथ रहने वाले दो मित्र और पड़ोसी एक दूसरे के दुश्मन बन जाते हैं। दोनों संप्रदायों में धार्मिक पाखंडों को लेकर उत्तेजना बढ़ती जाती है और अंत में दंगे में यशोदानंदन की मृत्यु हो जाती है। उनकी मृत्यु से ख्वाजा महमूद साहब को अपने मित्र को खोने का सदमा होता है और वे इस दंगे का कारण जानना चाहते हैं तो अनुभव करते हैं कि "मैंने इत्तिहाद की कोशिश की, अब भी मेरा यह ईमान है कि इत्तिहाद से ही इस बदनसीब कौम की नजात होगी। यशोदा भी इत्तिहाद का उतना ही हामी था जितना मैं, शायद मुझसे भी ज्यादा, लेकिन खुदा जाने वह कौन-सी ताकत थी जो हम दोनों को बरसरे जंग रखती थी। हम दोनों दिल से प्रेम करना चाहते थे पर हमारी मर्जी के खिलाफ कोई गैबी ताकत हमको लड़ाती रहती है।"[1] यह गैबी ताकत और कहीं से नहीं, शासक वर्ग से आई थी, जो देश में रहने वाले दो संप्रदायों में फूट डाल कर अपनी शासन-शक्ति का विस्तार चाहते थे। प्रेमचंद हिंदू एवं मुसलमानों को यह बतलाना चाहते थे कि विदेशी प्रभाव उनकी कूटनीति के चक्कर में आकर हम जो मारपीट करते हैं, वह कितना व्यर्थ है। अगर हम दोनों संप्रदायों के धार्मिक विश्वासों पर ध्यान दें तो हमें अपनी मूर्खता का पता चलेगा। दोनों के धार्मिक भावों में मूलतः एकता है, दोनों उसी सत्य की ओर बढ़ना चाहते हैं, लेकिन इंसान धर्म के मूल सत्य को नहीं देखता, धर्म के ऊपरी पाखंडों में फंस कर संघर्ष में विश्वास रखता है। इसी के फलस्वरूप "कायाकल्प" में ख्वाजा महमूद साहब के पुत्र की हत्या यशोदानंदन की पालिता पुत्री अहल्या करती है क्योंकि वह उसका अपहरण करता है और उसके साथ बलात्कार की चेष्टा करता है। इस तरह दो पड़ोसी, जो शांति से रहना चाहते थे, गैबी ताकत के आगे विवश थे। यह गैबी ताकत शिक्षित जनसमुदाय एवं नेताओं के द्वारा समाज में लोगों से घृणित काम कराती थी। धर्म के नाम पर कितनी हत्याएं, अन्याय होते थे। अंत में ख्वाजा महमूद साहब के विचार परिवर्तित हो जाते हैं और उन्हें पुत्र की मृत्यु पर दुःख होता है। वे स्वीकार करते हैं कि उसे उसके कार्यों का फल मिला। उपन्यास में सांप्रदायिक संघर्ष का दुःखांत वर्णन पढ़ कर पाठकों को सांप्रदायिकता के प्रति घृणा होती है।

ख्वाजा साहब महसूस करते है और कहते हैं कि धर्म के नाम पर मनुष्य-मनुष्य का यह झगड़ा व्यर्थ है। ईश्वर ऐसे झगड़े को कभी पसंद नहीं करता है। धर्म हमें प्रेम का संदेश देता है। वह घृणा और वैमनस्य का संदेश कभी नहीं देता। लेकिन दोनों कोमों में कुछ ऐसे लोग हैं जिनकी इज्जत दोनों को लड़ाते रहने पर ही कायम है। मेरा तो यह कौल है कि हिंदू रहो, चाहे मुसलमान रहो, खुदा के सच्चे बंदे रहो। सारी खूबियां किसी एक ही कौम के हिस्से नहीं आती; न सब मुसलमान पाकीजा हैं न सब हिंदू देवता, न सभी हिंदू काफिर हैं, न सभी मुसलमान मोमिन। जो आदमी दूसरी

1. कायाकल्प, पृ० 261।

कौम को जितनी नफरत करता है, समझ लीजिए कि वह खुदा से उतनी ही दूर है ।"[1] प्रेमचंद कहना चाहते हैं कि मनुष्यता के प्रेम में ही ईश्वर का वास है । इन तथ्यों को स्पष्ट कर वे सांप्रदायिक एकता का, साहित्य के माध्यम से, सतत प्रयास करते हैं ।

'कर्मभूमि' उपन्यास में लेखक का मुख्य ध्येय सांप्रदायिक समस्याओं का निरूपण है । वे प्रारंभ से ही सलीम और अमरकांत को अभिन्न मित्र और भाई की तरह एक साथ पढ़ते हुए दिखलाते हैं । दोनों के विचारों, मतों एवं धर्म को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं उनमें धर्म के कारण कहीं कोई अलगाव नहीं है। दोनों धर्म के वाह्याडम्बर को समझते हैं । दोनों का प्रेम, स्नेह और ममत्व धर्म के ऊपर है। इसी प्रेम को और अधिक गंभीर करने और निकट लाने के लिए प्रेमचंद ने अमर और सकीना के प्रेम को वर्णित किया हैं । लेखक स्पष्ट करना चाहता है कि प्रेम धर्म का मूल तत्व है, धर्म प्रेम का वाधक नहीं है वह प्रेम एवं एकता को वढ़ाने वाला है । हमने जिसे धर्म माना है वह रूढ़ि या व्यर्थ की मान्यता है, जिसके आधार पर आदमी-आदमी से प्रेम नहीं कर सकता, जिसके आधार पर किसी का छुआ हुआ पानी पीते ही जाति और धर्म चला जाता है । ऐसे धर्म को धर्म मानना हमारी अज्ञानता का प्रतीक है । प्रेमचंद हमारे ऐसे धार्मिक विश्वास में क्रांतिकारी परिवर्तन लाना चाहते हैं, उनके अनुसार धर्म का अर्थ मनुष्यता का प्रेम, मनुष्यता का वंधन, मनुष्यता की एकता का प्रकार है। प्रेम का मंत्र ही ईश्वर का मंत्र है । ऐसे पवित्र प्रेम को समाज, धर्म और जाति के आधार पर विकृत रूप में मान्यता देता है, यह हमारी अज्ञानता है । हिंदू धर्म में तो और भी रूढ़ि और कट्टरता आ गई है । उसके लिए धर्म का मूल तत्व रूढ़ियों के आवरण में इस प्रकार छिप गया है कि वाह्य आचरण ही धर्म रह गया है । वस्तुतः ऐसे धर्माडंबरों से धर्म को बाहर निकालना ही क्रांतिकारी प्रेमचंद का मुख्य ध्येय था । वह सकीना और अमरकांत के पवित्र प्रेम का वर्णन कर हमें उसी आदर्श धर्म की ओर ले जाने की चेष्टा करते है, जिसके आधार पर अमरकांत कहता है कि "मैं प्रेम के सामने मजहब की हकीकत नहीं समझता, कुछ भी नहीं ।"[2] सलीम अपने अभिन्न मित्र अमरकांत के ऊंचे और पाकीजा इन्कलाबी खयाल की कद्र करता है । लेकिन समाज की हालत देख कर वह कहता है समाज में ऐसे भले आदमियों की कमी भी नहीं है, जो इस मुआमले को मजहवी रंग देकर तुम्हारे पीछे पड़ जाएंगे ।"[3] अमर परवाह नहीं करता वह कहता है—"मैं यह सब जानता हूं सलीम, लेकिन अपनी आत्मा को समाज का गुलाम नहीं वनाना चाहता । नतीजा जो कुछ भी हो, उसके लिए तैयार हूँ । यह मुआमला मेरे

1. कायाकल्प, पृ० 427 ।
2. कर्मभूमि, पृ० 96 ।
3. वही, पृ० 98 ।

और सकीना के दरमियान है। सोसाइटी को हमारे बीच दखल देने का कोई हक नहीं।''[1]

प्रेमचंद समाज को एक नए धर्म का क्रांतिकारी संदेश देना चाहते थे, ताकि दोनों धर्मों में एकता की स्थापना हो सके। अपने सभी उपन्यासों में प्रेमचंद ने हिंदुओं और मुसलमानों के विश्वास को अंधरूढ़ियों और पुरानी जर्जर मान्यताओं से ऊपर उठाकर उनमें एकता लाने का प्रयास किया है। अमरकांत और सलीम में धार्मिक रूढ़ियों के लिए स्थान नहीं है। दोनों में आत्मिक प्रेम एवं स्नेह है। कहीं धर्म के कारण कोई अलगाव या दूरत्व की भावना नहीं है। इन दोनों के प्रेम के साथ लाला अमरकांत जैसे कट्टर अंधविश्वासों में आस्था रखने वाले, प्राचीन मान्यताओं को धर्म का मूल तत्व मानने वाले में भी धार्मिक जागर्ति एवं क्रांतिकारी विचार पैदा कर लेखक ने हिंदू-मुस्लिम एकता का अनुपम आदर्श उपस्थित किया है।

प्रेमचंद ने हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए "कर्मभूमि" में जो चरित्र निर्मित किया है, वह हमारे समाज का ही चित्र है। समाज में कुछ लोग धर्म के मूल विषय को समझते है और एक-दूसरे के धर्म का सम्मान करते हैं। लेकिन कुछ लोग रुढ़िवादी, संकुचित दायरे में रहने वाले पाखंडों में विश्वास करते है और धर्म के वाह्य रूप में ऐसे उलझे रहते हैं कि धर्म के वास्तविक तत्व को समझ नहीं पाते। लेकिन सेठ अमरकांत धर्म के बाह्याडंबर को समझ जाते हैं और तब "सारा धर्म-ज्ञान उन्हें पाखंड-सा प्रतीत होता है।''[2] अंत में वे सलीम के साथ बैठ कर धार्मिक उदारता से खाते हैं और यह मजाक करते है "मैं मुसलमान नहीं हुआ, तुम हिंदू हो गए।''[3] छुआछूत एवं पाखंडों में विश्वास रखने वाले सेठ लाला अमरकांत का हृदय परिर्वातित कर प्रेमचंद ने धार्मिक उदारता का अपूर्व विकास दिखाया है। धर्म कोई कच्चा धागा नहीं कि किसी के छूने मात्र से चला जाएगा। धर्म का संबंध तो आतमा का संबंध है।

प्रेमचंद ने हिंदू-मुस्लिम एकता का जो संदेश दिया वह बहुत ही मार्मिक है। साथ ही इस बात को उन्होंने इतनी सरलता से समझाना चाहा है जिससे लोगों के हृदय पर इसका प्रभाव पड़े। लेकिन उनके युग में, राजनीतिक षड्यंत्र के कारण, लोगों ने सांप्रदायिक एकता का संदेश समझा नहीं।

प्रेमचंद सांप्रदायिक एकता का संदेश साहित्य के माध्यम से दे रहे थे। साहित्य का उद्देश्य स्थायी होता है, वह युग-युग के लिए होता है। साहित्य का प्रभाव जनमानस को आलोकित करता है। आज नहीं तो कल समाज उनके सत्य-संदेश से अवश्य

1. वही, पृ० 97।
2. कर्मभूमि, पृ० 337।
3. वही, पृ० 344।

प्रभावित होगा। जितने लोग उनके साहित्य का अध्ययन-मनन करेंगे, सभी उनके महत् विचार से प्रभावित होंगे। "कायाकल्प" में चक्रधर कहता है "जब तक हम सच्चे धर्म का अर्थ न समझेंगे, हमारी यही दशा होगी। मुश्किल यह है कि जिन महान् पुरुषों से अच्छी धर्म-निष्ठा की आशा की जाती है, वे अपने अशिक्षित भाइयों से भी बढ़कर उद्दंड हो जाते हैं। मैं तो नीति को धर्म समझता हूँ, और सभी संप्रदायों की नीति एक-सी है। अगर अंतर है तो बहुत थोड़ा। हिंदू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, सभी सत्कर्म और सद्विचार की शिक्षा देते हैं। हमें कृष्ण, राम, ईसा, मुहम्मद, बुद्ध, सभी महात्माओं का समान आदर करना चाहिए। वे मानव-जाति के निर्माता हैं। जो इनमें से किसी का अनादर करता है या उसकी तुलना करने बैठता है, वह अपनी मूर्खता का परिचय देता है। बुरे हिंदू से अच्छा मुसलमान उतना ही अच्छा है जितना बुरे मुसलमान से अच्छा हिंदू। देखना यह चाहिए कि कैसा आदमी है। संसार का भावी धर्म सत्य, न्याय और प्रेम के आधार पर बनेगा। हमें अगर संसार में जीवित रहना है तो अपने हृदय में इन्हीं बातों का संचार करना पड़ेगा।"[1] अपने इस कथन से प्रेमचंद ने समाज को धर्म की उदारता की शिक्षा देनी चाही है। वे यह समझाना चाहते हैं कि धर्म का मूल अर्थ मानव-प्रेम है।

"रंगभूमि" में प्रेमचंद ने हिंदू-मुस्लिम ही नहीं, हिंदू और ईसाई के संबंध का विवेचन कर यह स्पष्ट करना चाहा है कि हिंदू, मुस्लिम और ईसाई जो अपने-अपने धर्म को भिन्न समझ कर एक-दूसरे से अलग रहते हैं, अपने आप को एक-दूसरे से अलग समझते हैं, वह गलत है। धर्म मनुष्य-मनुष्य में दूरत्व या अलगाव का मंत्र नहीं देता है, वह प्रेम और एकता का संदेश देता है। इस उपन्यास की नायिका सोफिया ईसाई धर्मावलंबी युवती है। उसका जन्म एक कट्टर ईसाई धर्म में आस्था रखनेवाले घर में हुआ है। उसकी मां ईसू और उनके सिद्धांतों को छोड़ अन्य धार्मिक सिद्धांतों को मान्यता नहीं देती है। हिंदुस्तान में जन्म लेकर भी उसे उन हिंदुस्तानियों से घृणा है, जो ईसाई नहीं हैं। वह अपने-आप को अन्य हिंदुस्तानियों से पवित्र एवं ऊंचा मानती है, क्योंकि वह ईसा के पवित्र मत में विश्वास रखती है। लेकिन सोफिया ऐसी कट्टर, संकुचित विचारों वाली मां की छत्रछाया में पल कर भी अपनी धार्मिक उदारता में अद्वितीय है। उसके लिए धर्म आत्मा से संबंधित हैं। बाह्य दबाव से थोपा गया धर्म उसे स्वीकार नहीं है। वह आरम्भ से ही धार्मिक कट्टरता एवं संकुचित धार्मिक विचारों का विरोध करती है जिनको श्रीमती सेवक अत्यावश्यक और श्रेष्ठ मानती हैं। वह सभी धर्मों में विश्वास रखती है। हिंदू धर्म एवं दर्शन के प्रति वह आकर्षित होती है। हिंदू धर्म की उदारता से प्रभावित होकर धर्म का गहन अध्ययन करती है। धर्म एवं संप्रदाय की संकुचित सीमा से मुक्त होकर वह एक हिंदू युवक से प्रेम करती है

1. कायाकल्प, पृ० 227।

और हिंदू धर्म एवं दर्शन की उदारता की महत्ता को स्वीकार करती है। वह यह भी अनुभव करती है कि प्रेम मानवता का चिर-संचित आदर्श है। धर्म का बंधन प्रेम की पवित्रता को तोड़ नहीं सकता। "प्रेम के लिए धर्म की विभिन्नता कोई बंधन नहीं है।"[1] "प्रेम अभय का मंत्र है; प्रेम का उपासक संसार की समस्त चिंताओं और बाधाओं से मुक्त हो जाता है।"[2] वह संप्रदाय और धर्म को मनुष्य का वाह्य आवरण मानती है। उसकी उदार धार्मिक निष्ठा, अपूर्व प्रेम एवं सहृदयता देख कर रानी जाह्नवी जैसी जाति-मर्यादा एवं धार्मिक बंधन को महत्व देनेवाली मां का हृदय भी परिवर्तित हो जाता है और वह भी उसे अपनी पुत्र वधू बनाने के लिए तत्पर हो जाती है।

प्रेमचंद कहते हैं कि लोग धर्म के बाह्य स्वरूप को अपना कर उसे ही धर्म का मूल सत्य समझ लेते हैं और आदमी से आदमी को दूर रहने की शिक्षा देते हैं। हिंदू धर्म जैसा उदार धर्म भी अब अपने संकुचित सीमा-बंधन में बँध कर दूसरे धर्म के व्यक्ति को अपनाने में हिचकता है। अज्ञानी, पाखंडियों एवं पंडितों के चक्कर में धर्म की उदारता समाप्त हो गई। और जाह्नवी देवी जैसी उदार महिला भी स्वीकार करती है कि "यदि धार्मिक बाधा न होती तो उन्होंने मिस्टर सेवक के पास विनय के विवाह का संदेश कभी का भेज दिया होता।"[3] सोफिया के पिता मिस्टर सेवक स्वीकार करते हैं कि "धर्म-विरुद्ध होने की मुझे जरा भी परवाह न थी। धर्म हमारी रक्षा और कल्याण के लिए है। अगर वह हमारी आत्मा को शांत और देह को सुख नहीं प्रदान कर सकता तो मैं उसे पुराने कोट की भांति उतार फेंकना पसंद करूंगा। जो धर्म हमारी आत्मा का बंधन हो जाय, उससे जितनी जल्दी हम अपना गला छुड़ा लें, उतना ही अच्छा।"[4]

वस्तुतः जो धर्म मानव-मानव के प्रेम का समर्थक हो, वही धर्म है। वही धर्म मानवता का रक्षक और युग-जीवन को नया आलोक दे सकेगा। 'रंगभूमि' में प्रेमचंद ने लिखा है—"साहित्यक धर्म-निरूपण ने सोफिया को सांप्रदायिक संकीर्णताओं से मुक्त कर दिया था। उसकी दृष्टि में भिन्न-भिन्न मत केवल एक ही सत्य के भिन्न-भिन्न नाम थे। उसे अब किसी से द्वेष न था, किसी से विरोध न था। जिस अशांति ने कई महीनों तक उसके धर्म-सिद्धांत को कुंठित कर रखा था, वह बिल्कुल विलुप्त हो गई थी। अब प्राणी-मात्र उसके लिए अपना था।"[5]

1. रंगभूमि, पृ० 93।
2. वही, पृ० 93।
3. रंगभूमि, पृ० 87।
4. वही, पृ० 511।
5. रंगभूमि, पृ० 429।

प्रेमचंद का जीवन-दर्शन उसी एक सत्य की ओर इंगित करता है जिसको प्रत्येक धर्म भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित करता है। जो मानव-मानव को एक मानता हो, वही धर्म सच्चा है। जब हम उस सच्चे धर्म से परिचित हो जाएँगे तब प्राणी-मात्र हमारे लिए अपना हो जायेगा। कहीं कोई धार्मिक विरोध नहीं होगा। आदमी-आदमी से प्रेम करेगा। 'कर्मभूमि' उपन्यास में प्रेमचंद का धर्म-विषयक विचार, अमरकांत का उग्र एवं क्रांतिकारी विचार बन गया है, जिसके आधार पर लेखक क्रांति में ही देश का उद्धार मानता है—"ऐसी क्रांति में, जो सर्वव्यापक हो, जीवन के मिथ्या आदर्शों का, झूठे सिद्धांतों, परिपाटियों का अंत कर दे, जो एक नए युग की प्रवर्तक हो, एक नई सृष्टि खड़ी कर दे, जो मिट्टी के असंख्य देवताओं को तोड़-फोड़ कर चकनाचूर कर दे। जो मनुष्य को धन और धर्म के आधार पर टिकने वाले राज्य के पंजे से मुक्त कर दे।"[1] गजनवी भी मानता है कि "मजहब का दौर खत्म हो रहा है।" इंसान, इंसान के रूप में पहचाना जाएगा। अपने अन्य उपन्यासों और कहानियों में भी प्रेमचंद ने मानवता के आदर्श को साहित्य का आदर्श माना है। उन्होंने जाति-पांति, धर्म-संप्रदाय को कहीं महत्त्व नहीं दिया। जीवन के सत्य को साहित्य के माध्यम से जन-जीवन में प्रचारित किया। "मुक्तिधन" कहानी में लेखक ने एक आदर्श मुस्लिम पात्र रहमान की सृष्टि की है जो मुसलमान होकर भी एक गाय को घर की लक्ष्मी मानता है और उसे कसाइयों के हाथ नहीं बेचना चाहता है। रहमान की इंसानियत, उसका आदर्श संपूर्ण मुस्लिम समाज के लिए एक महान् आदर्श उपस्थित करता है। इस कहानी का दाऊदयाल भी एक आदर्श हिंदू है। दोनों एक-दूसरे के धर्म के आदर्शों का सम्मान करते हैं।

"क्षमा" कहानी में प्रेमचंद ने इस्लाम धर्म के एक सच्चे उदार मुसलमान शेख हसन की उदारता का वर्णन किया है। मुसलमानों ने स्पेन में राज्य-स्थापना एवं धर्म के प्रचार के लिए अनेक अत्याचार किए। उनके अपूर्व जोश एवं अत्याचार से वहां ईसाई-धर्मावलंबी परेशान हो उठे। दाऊद नाम का एक विद्वान् साहसी ईसाई अपने धर्म में अपूर्व विश्वास रखता था और अपने धर्म की रक्षा करना चाहता था। वह मानता था कि धर्म मनुष्य की आंतरिक आकांक्षा या भावना है, उसे अत्याचार एवं डर से परिवर्तित नहीं किया जाना चाहिए। वह मानता है कि "इस्लाम ने धर्म के नाम पर जितना रक्त बहाया है, उसमें उसकी सारी मस्जिदें डूब जाएंगी।"[2] उसे अरब के इस्लाम-प्रेमियों से घृणा है। उसने एक दिन द्वंद्व युद्ध में जमाल नामक एक अरब मुसलमान को मार डाला। चारों ओर हाहाकार मच गया। सारे मुसलमान उसके खून के प्यासे हो गए। दाऊद भागता-भागता जमाल के बूढ़े पिता शेख हसन के

---

1. कर्मभूमि, पृ० 94।
2. क्षमा (मानसरोवर), पृ० 204।

आश्रय में पहुंचा और उससे शरण मांगी। शेख हसन सच्चे इस्लाम धर्म में विश्वास करने वाला एक उदार व्यक्ति था। उसने कहा—"अब तू मेरी शरण में आ गया, तो तुझे मुझसे कोई शंका न होनी चाहिए। हम मुसलमान हैं; जिसे एक बार अपनी शरण में ले लेते हैं, उसकी जिंदगी-भर रक्षा करते हैं।"[1] लेकिन उसे जब मालूम होता है कि दाऊद इस्लाम-विरोधी एक विद्रोही ईसाई है और उसके पुत्र का हत्यारा है तब उसके मन में भीषण द्वंद्व होता है। लेकिन शरणागत की रक्षा करना रसूलपाक की हिदायत है—"जो अपनी पनाह मे आए, उस पर हाथ न उठाओ। मैं नहीं चाहता कि नबी के हुक्म को तोड़ कर दुनिया के साथ अपनी आकबत भी बिगाड़ दूं।"[2] दाऊद कहता है—"मैं केवल आपके बेटे का घातक ही नहीं, इस्लाम का दुश्मन हूं। मेरी जान लेकर आप जमाल के खून का बदला ही न लेंगे, बल्कि अपनी जाति और धर्म की सच्ची सेवा भी करेंगे।"[3] लेकिन जमाल का बूढ़ा पिता एक सच्चा मुसलमान है और धर्म की गंभीरता को समझता है। वह कहता है कि "मैंने तुम्हें माफ किया। मैं जानता हूं, मुसलमानों के हाथ ईसाइयों को बहुत तकलीफें पहुंची, मुसलमानों ने उन पर बड़े-बड़े अत्याचार किए। उनकी स्वाधीनता हर ली है। लेकिन यह इस्लाम का नहीं, मुसलमानों का कसूर है। विजय-गर्व ने मुसलमानों की मति हर ली है। हमारे पाक नबी ने यह शिक्षा नहीं दी थी, जिस पर आज हम चल रहे हैं। वह स्वयं क्षमा और दया का सर्वोच्च आदर्श हैं। मैं इस्लाम के नाम बट्टा न लगाऊंगा। मेरी ऊंटनी ले लो और रातों-रात, जहां तक भागा जाय, भागो। एक क्षण के लिए भी न ठहरना। जाओ, तुम्हें खुदा-ए-पाक घर पहुँचावें। बूढ़े शेख हसन और उसके बेटे जमाल के लिए खुदा से दुआ किया करना।"[4] दाऊद शेख हसन की उदारता और इस्लाम धर्म की महानता से इतना प्रभावित हुआ कि उसका हृदय परिवर्तित हो गया। तब से वह इस्लाम धर्म का सम्मान करने लगा।

इस कहानी से लेखक ने समाज में धर्म के नाम पर हत्या और अत्याचार का विरोध किया है। सच्चा धर्म प्रेम, दया, सद्भावना, सहानुभूति, सहृदयता और स्नेह पर आधारित होता है। इस कहानी में शेख हसन ने धर्म की जो व्याख्या की है, वही धर्म का मूल है। इस कहानी में मानव-प्रेम की व्याख्या ही भरी है।

"डिक्री के रुपये" कहानी में प्रेमचंद ने हिंदू-मुस्लिम-भाईचारे और प्रेम का वर्णन किया है। नईम और कैलाश दोनों घनिष्ठ मित्र थे। दोनों कॉलेज में साथ-साथ

1. वही, पृ० 208।
2. क्षमा (मानसरोवर), पृ० 209।
3. वही, पृ० 209।
4. वही पृ० 211।

पढ़ते थे। दोनों में निःस्वार्थ एवं विशुद्ध प्रेम था। लेकिन जीवनपथ पर दोनों अभिन्न मित्र दो रास्ते पर चलने लगे। एक सरकारी उच्च पदाधिकारी हो गया, दूसरा एक समाचार-पत्र का प्रकाशक। दोनों के दो आदर्श हो गए। दोनों अपने-अपने आदर्श के साथ संघर्ष करते हैं। सरकारी पदाधिकारी नईम कोर्ट में जीत जाता है और कैलाश को 20 हजार की डिक्री के रुपये देने का दंड मिलता है। लेकिन नईम अपने मित्र से मिलता है और बिना रुपये लिए उसे बीस हजार की रसीद दे देता है। उसके मन में कैलाश के प्रति वही प्रेम है, जो कॉलेज के दिनों में था। मित्रता का शाश्वत प्रेम, धर्म, संप्रदाय एवं जाति के वैमनस्य के रंग से नहीं रंगता। दोनों मित्र फिर से मिलते हैं। ऐसा लगता है कि उनके बीच कोई विरोध था ही नहीं। दोनों मित्रों में आपसी प्रेम इतना है कि कहीं जाति, धर्म और संप्रदाय का विरोध नहीं दर्शित होता। प्रेमचंद ऐसे ही आदर्श प्रेम के पुजारी थे। वे हिंदू-मुस्लिम-भाईचारे का यही आदर्श देखना चाहते थे। गांव में अलगू चौधरी और जुम्मन मिया[1] इसी प्रेम के आदर्श के प्रतीक थे। यही भ्रातृत्व का प्रेम भारतीय जीवन का लक्ष्य था। जैसे शैव, शाक्त, वैष्णव और बौद्ध साथ-साथ रहते हैं, वैसे ही हिंदू-मुसलमान भी साथ-साथ रह सकते हैं।

'हिंसा परमो धर्मः'[2] कहानी में प्रेमचंद ने धर्म की असाधारण व्याख्या की है और साधारण शब्दों में धर्म के आदर्श को उपस्थित किया है। जामिद एक नेक इंसान था। इंसान के रूप में एक महान् त्यागी, लोगों की मदद करनेवाला, लोगों का बोझ हलका करने वाला, बेफिक्र, मस्त और दीवाना था। किसी गरीब पर अत्याचार होते देखकर चुप नहीं रह सकता था। "फिर चाहे कोई उसे मार ही डाले, वह हिमायत करने से बाज न आता था।" जामिद शहर आया और नगर में मंदिरों-मस्जिदों की संख्या देखकर बहुत खुश हुआ। उसे लगा, शहर के लोगों का धार्मिक विश्वास गंभीर और विलक्षण है। उसकी दृष्टि में मजहब का जितना सम्मान था उतना और किसी सांसारिक वस्तु का नहीं। जामिद के लिए ईश्वर एक है। ठाकुरजी सबके ठाकुर हैं क्या हिंदू, क्या मुसलमान। वह ईश्वर के नाम-भेद पर विश्वास नहीं करता था। लेकिन नगर में जब उसने धार्मिक संकीर्णता का अनुभव किया तब वह गांव के शांत वातावरण में वापस लौटने के लिए आकुल-व्याकुल हो उठा। वहां धर्म में प्रेम, सहानुभूति एवं भाईचारे का प्रेम था। प्रेमचंद ने इस कहानी में युग-जीवन की 'धार्मिक संकीर्णता का अनुपम चित्र प्रस्तुत किया है। अपने-अपने धर्म को महान् मानने वाले लोग धार्मिक संकीर्णता में, आपसी स्वार्थ में इस प्रकार संलग्न हैं कि धर्म का मूल मंत्र, धर्म का शाश्वत सनातन सत्य, वे भूल बैठे हैं। एक मुसलमान को शुद्ध कर उसे हिंदू बनाना चाहता है, दूसरा

1. पंच परमेश्वर।
2. हिंसा परमो धर्मः (मारसरोवर भाग-5), पृ० 82।

हिंदू स्त्री को मुसलमान बनाने के लिए परेशान है। लेकिन दोनों को मानव बनाने की चेष्टा कोई नहीं करता।

लोगों ने धर्म के आदर्श पर कितने आवरण डाल दिए कि आज हमें इसके मूल तत्व पर पहुंचाने का आधार ही विलुप्त-सा जान पड़ता है। इस्लाम को लोगों ने ताकत और जुल्म का धर्म मान लिया है। वस्तुतः इस्लाम भी अन्य धर्मों की भांति शांति, प्रेम एवं सौहार्द का धर्म है। उसमें भी वही उदारता, सज्जनता और मानवता है, जिसके आधार पर मनुष्य परोपकार का जीवन व्यतीत करता है। जामिद इस्लाम धर्म को मानने वाला एक सच्चा इंसान है। वह धर्म को मानवता के विकास के लिए स्वीकार करता है और प्रेम को मूल मंत्र मानता है। उसके लिए हिंदू और मुसलमान जैसे संप्रदाय के वंधन का कोई अर्थ नहीं है। उसके लिए राम रहीम में अंतर नहीं है। उसके लिए धर्म के नाम दो हो सकते हैं, लेकिन धर्म का मूल मंत्र एक है। लेखक सोचता है कि फिर आपसी द्वेष का कारण क्या है? फिर, हम एक दूसरे की हत्या और अत्याचार क्यों करते हैं? धर्म को एक आत्मिक विश्वास की तरह क्यों नहीं स्वीकार करते? धर्म को हिंसा की, द्वेष की, वैमनस्य की एवं अशांति की ज्वाला क्यों वना दिया है? प्रेम से आप्लावित धर्म को हमने हिंसा से क्यों रंग दिया है?

प्रेमचंद ने युग-समाज को एक महान् संत की भांति अपूर्व ज्ञान का आलोक दिया है। "कायाकल्प" में चक्रधर कहता है—"में एक खुदा का कायल हूं। वही सारे जहान का खालिक और मालिक है।[1] सभी का जन्मदाता वही है—उसे हम चाहे जिस भी नाम से पुकारें, जिस भी भाषा में उसकी उपासना करें। संतों के इस महान आदर्श को लेखक ने "हिंसा परमोधर्मः" नामक कहानी में विलक्षण रूप से उद्भासित किया है और कहा है कि हिंदू और मुसलमान दोनों अज्ञानी, अशिक्षित, संकुचित और रूढ़ियों के शिकार जान पड़ते हैं। दोनों धर्म के मूल सत्य से बहुत दूर चले गए हैं और धर्म को हिंसा, दुश्मनी, वैमनस्य एवं घृणा के आधार पर पाना चाहते हैं। "जिहाद" कहानी में लेखक ने लिखा है, "मुद्दतों से उस प्रांत में हिंदू और मुसलमान साथ-साथ रहते चले आए थे। धार्मिक द्वेष का नाम था। एक मुल्ला ने जाने कहां से आकर अनपढ़, धर्मशून्य पठानों में धर्म का भाव जागरित कर दिया। वह शेरों की तरह गरज कर कहता, खुदा ने तुम्हें इसलिए पैदा किया कि दुनिया को इस्लाम की रोशनी से रोशन कर दो, दुनिया से कुफ्र का निशान मिटा दो। एक काफिर के दिल को इस्लाम के उजाले से रोशन कर देने का सवाब सारी उम्र के रोजे, नमाज और जकात से कहीं ज्यादा है। जन्नत की हूरें तुम्हारी बलाएं लेंगी, खुदा तुम्हारी पेशानी पर बोसा देगा। और सारी जनता यह आवाज सुनकर मजहब के नारों से मतवाली हो जाती है।"[2] इस धार्मिक उत्तेजना के कारण धर्म की विभिन्नता का कुफ्र और इस्लाम

1. कायाकल्प, पृ० 39-40।
2. जिहाद (मानसरोवर भाग-7), पृ० 173।

का अंतर उत्पन्न किया जाता है। उसके बाद धार्मिक अत्याचार शुरू होता है। मंदिर गिराए जाते हैं। जबरदस्ती इस्लाम की दीक्षा दी जाने लगती है। धार्मिक उन्माद में वे कोई भी धर्म-निरपेक्षता की बात सुनना नहीं चाहता, ये खजाचंद की धर्म की मार्मिक व्याख्या को भी समझ नहीं पाते हैं। वह कहता है, "मैं उस धर्म को मानता हूं, जिसकी बुनियाद अक्ल पर है। आदमी में अक्ल ही खुदा का नूर (प्रकाश) है, और हमारा ईमान हमारी अक्ल…"[1] धर्मांधता में उनलोगों ने खजाचंद की हत्या कर दी। लेकिन अंत में उन्हें अपने कार्य पर पश्चात्ताप होता है। प्रेम और ईश्वर की आस्था उनके हृदय को परिवर्तित करती है। उनमें दया और क्षमा की भावना उत्पन्न होती है। धर्म का उतावलापन समाप्त हो जाता है। "न्याय" कहानी में प्रेमचंद अबुलहास से कहलाते हैं—"मैं धार्मिक स्वाधीनता का पक्षपाती हूं। मैं तुम्हारे धार्मिक विषयों में कभी हस्तक्षेप न करूंगा।"[2] इस कहानी में लेखक ने इस्लाम धर्म की महत्ता एवं मुहम्मद साहब की क्षमा, धैर्य, न्यायप्रियता, उदारता एवं त्याग का वर्णन करते हुए इस्लाम की उदारता, क्षमाशीलता एवं न्यायप्रियता का वर्णन किया है। साथ ही, स्पष्ट किया है कि मुहम्मद साहब धर्म-प्रचार में जबरदस्ती नहीं करना चाहते थे; वे व्यक्ति की आस्था, विश्वास और आत्मा के परिवर्तन में विश्वास करते थे।"

प्रेमचंद कहते थे कि "साहित्य में जो सबसे बड़ी खूबी है, वह यह कि वह हमारी मानवता को दृढ़ बनाता है, हममें सहानुभूति और उदारता के भाव पैंदा करता हैं। जिस हिंदू ने "कर्बला" के मार्के की तारीख पढ़ी है, असंभव है कि उसे मुसलमानों से सहानुभूति न हो। उसी तरह जिस मुसलमान ने रामायण पढ़ी है, उसके दिल में हिंदू मात्र से हमदर्दी पैंदा हो जाना यकीनी है।"[3] हमें अपनी शिक्षा और साहित्य के माध्यम से दोनों धर्मों के अच्छे गुणों का ज्ञान होना चाहिए। जब हम दोनों धर्मों के सत्य को पहचान जाएंगे तब फिर हममें सांप्रदायिक वैमनस्य उद्वेलित नहीं होंगे। "हमें इस सांप्रदायिकता से संग्राम करना है—सहिष्णुता, विश्वास, धैर्य और सेवा के शस्त्रों से। इसी में राष्ट्र का कल्याण है।"[4]

प्रेमचंद धर्म को व्यक्तिगत विश्वास मानते थे। वे जबरदस्ती धर्म-परिवर्तन के कार्य को निंदनीय समझते थे। वे धर्म को उसकी उदारता में समझने-समझाने का प्रयास करते थे। वे धर्म की कट्टरता को समाप्त कर मनुष्य में मनुष्यता की उदार भावना को जागरित करना चाहते थे। उन्होंने अपने संपूर्ण कथा-साहित्य में सांप्रदायिक एकता और मानव-प्रेम का संदेश दिया है।

---

1. वही, पृ० 179।
2. न्याय (मानसरोवर भाग-2), पृ० 141।
3. प्रेमचंद : जीवनी, कला और कृतित्व, पृ० 264।
4. विविध प्रसंग 2, पृ० 382।

नवम अध्याय

प्रेमचंद के कथा-साहित्य में सांप्रदायिक एकता के प्रतिनिधि चरित्र

प्रेमचंद ने अपने कथा-साहित्य में कुछ ऐसे महान चरित्रों का सृजन किया है, जो उदार सांप्रदायिक एकता के संदेशवाहक एवं मानव-प्रेम के परिपोषक हैं। ऐसे चरित्रों में धर्म और जाति के प्रति, परंपरागत मान्यताओं के प्रति, विद्रोह का स्वर है। वे जीवन को संकीर्ण मान्यताओं में बँध कर विनष्ट होने देना नहीं चाहते। प्रेमचंद-युग का भारत सांप्रदायिक संघर्ष का भारत था। यह संघर्ष भारत पर इस प्रकार आरोपित किया गया था कि अच्छे पढ़े लिखे लोग भी मानने लगे थे कि "हिंदू संस्कृति तथा मुस्लिम संस्कृति दो भिन्न संस्कृतियां है और भारत में दो राष्ट्र हैं— हिंदू राष्ट्र और मुस्लिम राष्ट्र। कुछ सांप्रदायिक हिंदू नेता वर्षों से भारत में रहनेवाले मुसलमानों को विदेशी एवं विधर्मी मानते थे। इसी प्रकार कुछ मुसलमान नेता भी अपने स्वार्थवश मक्का, मदीना एवं टर्की से अपना सांस्कृतिक संबंध मानते थे। दोनों ओर के सांप्रदायिक नेता यह भूल गए कि बंधुत्व, समता, संस्कृति तथा राष्ट्रीय एकता का आधार नस्ल तथा धर्म नहीं, वरन् मातृभूमि है।"[1] मातृभूमि की महत्ता को युगीन सांप्रदायिक नेताओं ने महत्व नहीं दिया। समाज स्वार्थी नेताओं और मुल्ले, मौलवी तथा पंडे पुरोहितों की अनुदार धार्मिक संकीर्णता में फंसा था। प्रेमचंद ने ऐसे ही युग में अपने साहित्य के माध्यम से उदार राष्ट्रीय पात्रों का निर्माण किया है।

चक्रधर

सांप्रदायिक एकता के प्रतिनिधि एवं महान संदेशवाहक चरित्रों में सबसे पहले हम चक्रधर के चरित्र की समीक्षा करेंगे। चक्रधर हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए बलिदान होने की कामना करने वाला, गांधी के आदर्शों से अनुप्राणित, सुशील, गंभीर, संयमी एवं उच्च विचार का एक आदर्श युवक है, जो मानता है कि संसार का भावी धर्म सत्य, न्याय और प्रेम पर आधारित होगा और उसके बल पर समाज प्रगति की ओर अग्रसर हो सकेगा। वह सांप्रदायिक एकता का महान् संदेशवाहक है। वह जन-

1. हिंदी उपन्यास : समाज शास्त्रीय विवेचन, पृ० 270।

जन में एकता और प्रेम का विश्वास पैदा करना चाहता है। धर्म, जाति और संप्रदाय का जाल फैला कर लोगों को ऊपरी सतही बातों में उलझाने वाले कुछ प्रतिक्रिया वादी, स्वार्थी व्यक्तियों के षड्यन्त्र से या चाल से जो सांप्रदायिकता का भीषण तांडव नृत्य होने वाला था, उसे चक्रधर अपनी सुमधुर संवेदनाओं से और धर्म के आध्यात्मिक पक्ष के सहज विश्लेषण से परिवर्तित कर देता है। वह आजाद रहकर समाज की सेवा करना चाहता है। "दीनों की सेवा और सहायता में आनंद और आत्म गौरव"[1] के अनुभव की कल्पना करता है। शादी-विवाह के प्राचीन मान्य सिद्धांतों से हटकर वह एक क्रांतिकारी सिद्धांत में विश्वास करता है। जब श्री यशोदानंदन ने उसे बताया कि अहिल्या उनकी पुत्री नहीं, तब भी चक्रधर माता-पिता का विरोध एवं लोक-निंदा के भय को छोड़ और सामाजिक बंधन को तोड़ अहिल्या जैसी अनुपम सौंदर्यमयी, उच्च चरित्र की कन्या को पत्नी बनाने के लिए तैयार है। चक्रधर निर्भीक एवं दृढ़ विचारों का व्यक्ति है। वह मानता है कि कर्त्तव्य और न्याय की तराजू पर माता-पिता की रूढ़िवादी इच्छा का बलिदान किया जा सकता है।

आगरा पहुंच कर सांप्रदायिक दंगे के भीषण वातावरण को देख कर चक्रधर ने दोनों संप्रदायों को शांत करने की कोशिश की। उसने कहा "अहिंसा का नियम गौओं ही के लिए नहीं, मनुष्यों के लिए भी तो है।"[1] सांप्रदायिक वैमनस्य की जड़ घृणा से इस प्रकार सींची गई थी कि वर्षों से उस मुहल्ले में शांति से रहनेवाले हिंदू-मुसलमान एक-दूसरे से बदले और प्रतिशोध की भावना से भर गए थे। विरोधियों ने चक्रधर पर पत्थर चलाए, लेकिन चक्रधर पत्थर की मार खाकर भी उत्तेजित नहीं हुआ। लोगों को एकता का संदेश देने वाले चक्रधर को लोगों ने धर्मद्रोही कहा। लेकिन तब भी चक्रधर धीर, वीर की तरह शांति और एकता के प्रयास में अडिग रहा। यहां तक कि सेवा समिति के 15 वर्ष के तपस्वी सेवक यशोदानंदन भी लोगों की आलोचना सुनकर मैदान छोड़कर भाग गए। चक्रधर उस उत्तेजित भीड़ में अकेला लोगों को समझाता रहा। उसने मुसलमानों को समझाया और कहा कि "इस्लाम की जो इज्जत मेरे दिल में है, वह मुझे बोलने के लिए मजबूर कर रही है। इस्लाम ने कभी दूसरे मजहब वालों की दिलजारी नहीं की, उसने हमेशा दूसरों के जजबात का एहतिराम किया है।"[3] लेकिन चक्रधर की बातों का प्रभाव जब उत्तेजित भीड़ पर नहीं पड़ा तब चक्रधर ने कहा "एक गरीब बेकस जानवर को मारना बहादुरी नहीं। खुदा बेकसों के खून से नहीं खुश होता, अगर जवांमर्दी दिखानी है तो किसी शेर का शिकार करो, किसी

---

1. कायाकल्प, पृ० 4।
2. कायाकल्प, पृ० 34।
3. वही, पृ० 37।

चीते को मारो।"[1] लेकिन इन बातों का प्रभाव भी जब उन लोगों पर नहीं पड़ा तब चक्रधर गाय के साथ अपनी कुरबानी की आकांक्षा करता है। लोग उसके अपार धैर्य, अपूर्व वीरता और अद्भुत अहिंसा प्रेम को देखकर अवाक् रह गए। लोगों ने जब उसे मुसलमान बनने के लिए आमंत्रित किया तो उसने कहा कि वह एक खुदा का कायल है। "वही सारे जहान का खालिक और मालिक है। फिर और किस पर ईमान लाऊँ?"[2] मुसलमान उसके विचारों को सुनकर अत्यधिक प्रभावित हुए। ख्वाजा महमूद ने दिलेर चक्रधर को गले लगा लिया। लोगों ने नौजवान चक्रधर की हिम्मत और जवांमर्दी की तारीफ करते हुए गाय को छोड़ दिया। इस प्रकार चक्रधर के त्याग और बलिदान की भावना से भीषण सांप्रदायिक दंगा, हत्या एवं घृणा का तांडव नृत्य समाप्त हो गया। चक्रधर का सभी धर्मों में विश्वास है। वह स्वीकार करता है कि इस्लाम में ऐसी कोई बात नही जो हिंदुओं को मान्य नहीं है। वास्तव में धर्म के मूल तत्त्व में कहीं कोई अंतर नहीं हैं। वह एक महान संत की भांति यह स्पष्ट करता है कि संपूर्ण विश्व का निर्माता एवं पालन कर्त्ता एक ही है। हिंदू, मुस्लिम, ईसाई सभी का आराध्य वही है। वह कहता है—"मैं तो नीति को ही धर्म समझता हूं और सभी संप्रदायों की नीति एक-सी है।... हिंदू, मुसलिम, ईसाई, बौद्ध सभी सत्कर्म और सद्विचार की शिक्षा देते हैं। हमें कृष्ण, राम, ईसा, मुहम्मद बुद्ध सभी महात्माओं का समान आदर करना चाहिए। वे मानव जाति के निर्माता हैं। जो इनमें से किसी का अनादर करता है या उनकी तुलना करने बैठता है, वह अपनी मूर्खता का परिचय देता है। बुरे हिंदू से अच्छा मुसलमान उतना ही अच्छा है जितना बुरे मुसलमान से अच्छा हिंदू। देखना यह चाहिए कि वह कैसा आदमी है, न कि यह कि वह किस धर्म का आदमी है।"[3] वह मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखना चाहता है। वह उस वीर युवती से विवाह करता है, जो एक मुसलमान के घर रहती है और अपने सम्मान की रक्षा में एक मुस्लिम युवक की हत्या करती है। समाज इस युवती का चाहे बहिष्कार करे, चक्रधर उसे यह कहते हुए स्वीकार करता है कि यह उसकी अग्नि परीक्षा थी। वह अब और भी उज्ज्वल, पवित्र और निर्मल हो गई है। वह गांधी की तरह सत्य, अहिंसा, प्रेम के सिद्धांतों को महत्वपूर्ण मानता है।

प्रेमचंद ने चक्रधर के कार्यों और उन्नत विचारों के आधार पर हिंदू-मुस्लिम समस्या का समाधान ढूंढ़ना चाहा है। चक्रधर हिंदू-मुस्लिम एकता का प्रतीक है। वह यह मानता है कि जैसे हिंदू शांति और प्रेम चाहते हैं, वेसे ही मुसलमान भी शांति और प्रेम के हिमायती हैं। लेकिन उन्हें लोग गलत बातें बतलाकर बहकाते रहते हैं।

---

1. वही, पृ० 38।
2. कायाकल्प, पृ० 40।
3. वही पृ० 227।

वह हिंदू-मुस्लिम दोनों का निष्पक्ष हिमायती है और सांप्रदायिक एकता के लिए सब कुछ करने को तैयार रहता है ।

महमूद साहब और यशोदानंदन

"कायाकल्प" के आदर्श पात्रों में हम ख्वाजा महमूद साहब एवं यशोदानंदन के चरित्र को भी ले सकते हैं । प्रारंभ से दोनों सांप्रदायिक एकता के समर्थक थे । धर्म के प्रति इनके विचार उदार थे। लेकिन किसी अज्ञात दैवी कारणों से बचपन के ये दोनों प्रिय मित्र दो संप्रदायों के प्रतीक बन गए । ख्वाजा साहब कहते हैं कि "मेरी इससे कितनी गहरी दोस्ती थी ! दोनों एक ही मकतब में पढ़े, एक ही स्कूल में तालीम पाई । एक ही मैदान में खेले । यह मेरे घर आता था, मेरी अम्मांजान इसको मुझसे ज्यादा चाहती थी। इसकी अम्मांजान मुझे इससे ज्यादा । यह मेरा प्यारा यशोदा है, जिसकी गर्दन में बाँहें डाल कर मैं बागों की सैर किया करता था ।"[1] दोनों ने प्रयाग में सूर्यग्रहण मेले में साथ-साथ सेवा समिति में लोगों के लिए सेवा का कार्य किया था। दोनों में आत्मिक संबंध था । दोनों देश की प्रगति, हिंदू-मुस्लिम-एकता को मानते थे । यशोदानंदन भी कहते हैं, "दुनिया कुछ कहे, पर मुझे ख्वाजा महमूद पर कभी शक न होगा ।"[2] अगर महमूद में सचमुच यह कायापलट हो गया है, तो मैं यही कहूंगा कि "धर्म-जैसी द्वेष पैदा करने वाली वस्तु संसार में नहीं । और कोई ऐसी शक्ति नहीं जो महमूद में द्वेष के भाव पैदा कर सके ।"[3] दोनों वर्षों से साथ-साथ देश-सुधार के लिए कार्य कर रहे थे । यशोदानंदन जब दो-तीन दिन बाद बनारस से आगरा लौट कर आते हैं और उन्हें यह पता चलता है कि इस बीच ख्वाजा साहब मौलवी दीन मुहम्मद साहब के भाषणों से प्रभावित होकर सांप्रदायिक नेता हो गए और मुसलमानों के साथ मिल कर गाय की कुर्बानी का आयोजन कर रहे हैं तो उनके इस विचार-परिवर्तन पर उन्हें महा आश्चर्य हुआ । वे महमूद साहब को फरिश्ता मानते थे। सांप्रदायिक संघर्ष के वे नेता हो सकते हैं, यह उनको विश्वास नहीं हो रहा था । हिंदू-मुस्लिम एकता के पक्के समर्थक महमूद सांप्रदायिक भेद-भाव में पड़ कर गाय की कुर्बानी का आयोजन कर सकते हैं, यह वे असंभव समझते थे । लेकिन परिस्थिति और बाह्य प्रभाव ने दोनों को दो दल का नेता बना दिया । राजनीतिक भेद-नीति के कारण दोनों आदर्श नेता अपनी कमजोरियों के शिकार हो गए। यशोदानंदन भी युगीन सांप्रदायिक विचारों के पोषक हो गए । वे हिंदू समाज और संप्रदाय के नेता बन गए।

---

1. कायाकल्प, पृ० 261 ।
2. वही, पृ० 30 ।
3. वही, पृ० 31 ।

गोहत्या की वात सुन कर सांप्रदायिकता के जोश में आकर बोले— "मैं उन आदमियों में नहीं हूँ कि गौ की हत्या होते देखूं और शांत खड़ा रहूं ।"[1] "उनके द्वार पर इसके पहले या तो मेरी कुर्बानी हो जायगी या ख्वाजा महमूद की ।"[2] उन्होंने महमूद साहब से कुर्बानी का कारण पूछा । उस मुहल्ले में पहले कभी सांप्रदायिक संघर्ष नहीं हुआ था । साथ ही महमूद साहब भी सांप्रदायिकता को महत्त्व नहीं देते थे । लेकिन परिस्थिति ने उन्हें भी सांप्रदायिक बना दिया; वे कहते हैं "कुर्बानी करना हमारा हक है । अब तक आपके जज़बात का लिहाज करते थे, अपने माने हुए हक को भूल गए थे । लेकिन अब आपलोग अपने हकों के सामने हमारे जज़बात की परवा नहीं करते, तो कोई वजह नहीं कि हम अपने हकों के सामने आपके जज़बात की परवा करें । मुसलमानों की शुद्धि करने का आपको पूरा हक हासिल है । लेकिन कम-से-कम पांच सौ वरसों में आपके यहां शुद्धि की कोई मिसाल नहीं मिलती । आप लोगों ने एक मुर्दा तक को जिंदा किया है । इसीलिये न कि मुसलमानों की ताकत और असर कम हो जाय । जब आप हमें जेर करने के लिए नए-नए हथियार निकाल रहे हैं, तो हमारे लिए इसके सिवा और क्या चारा है कि हम अपने हथियारों को दूनी ताकत से चलाएँ ।"[3] दोनों नेता अपने-अपने धर्म के संकुचित विचारों में उलझे हुए थे । चक्रधर स्वीकार करता है कि दोनों नेता धर्मांधता के चक्कर में पड़ गए थे । "जब तक धर्म को न समझेंगे, हमारी यही दशा रहेगी । मुश्किल यह है कि जिन महान पुरुषों से अच्छी धर्म-निष्ठा की आशा की जाती है, वे अपने अशिक्षित भाइयों से भी बढ़ कर उद्दण्ड हो जाते हैं ।"[4] इसी तनाव के कारण मुहल्ले में भीषण दंगा हुआ । यशोदानंदन की सांप्रदायिक दंगे में हत्या हो गई । सांप्रदायिक दंगे की शांति के लिए यशोदानंदन शहीद हो जाते हैं । ख्वाजा साहब को भी अपूर्व सदमा होता है । वे सांप्रदायिक दंगे का वीभत्स रूप देखकर परेशान हो उठे । यशोदा को खोकर उनके मन की सारी कलिमा धुल गई । पश्चात्ताप के आँसू निकलने लगे । लोगों के बहकावे एवं गैबी ताकत के समक्ष कमजोर पड़े उनके दिल को जो धक्का लगा, इससे फिर उस मुहल्ले में कभी इस प्रकार का सांप्रदायिक वैमनस्य नहीं हुआ । ख्वाजा साहब लोगों को समझाते हुए कहते हैं, तुम "समझते होगे यह मेरा दुश्मन था । खुदा जानता है, मुझे अपना भाई और बेटा भी इससे ज्यादा अजीज़ नहीं ।"[5] यशोदानंदन की पत्नी को वे भाभी की तरह प्यार करते थे । उनकी लड़की अहल्या की खोज में परेशान हो कर वे कहते हैं

1. कायाकल्प, पृ० 32 ।
2. वही, पृ० 31 ।
3. वही, पृ० 33 ।
4. कायाकल्प, पृ० 227 ।
5. वही, पृ० 260-61 ।

"भाभी से मेरी तरफ से अर्ज कर देना, मुझसे मलाल न रखें। यशोदा नहीं है, लेकिन महमूद है। जब तक उसके दम में दम है, उन्हें कोई तकलीफ नहीं होगी। कह देना, महमूद या तो अहल्या को खोज निकालेगा या मुँह में कालिस लगा कर डूब मरेगा।"[1] उन्हें पता चला कि अहल्या उन्हीं के घर में उन्हीं के बेटे की कैद में है और उनका पुत्र अहल्या पर बलात्कार करना चाहता है और उस वीर युवती ने उसकी हत्या कर दी, तो वे उस पर खुश ही हुए। उन्होंने उदारता से स्वीकार किया कि वह इसी योग्य था, इंसानियत के दरजे से गिरा हुआ कमबख्त जालिम था। वह अहल्या के शौर्य और शालीनता की तारीफ करते हैं। वह एक उदार व्यक्ति थे। चक्रधर ने उनकी उदात्त आत्मा की आवाज और उदारता को देख कर कहा—"आपका-सा इंसाफपरवर, हकपरस्त आदमी इस वक्त दुनिया में न होगा।"[2] ख्वाजा साहब ने यशोदानंदन के मृत शरीर को प्रेम से कंधा लगाना चाहा था। वे उस निर्मम बेरहम कातिल को मार कर अपने एक हिंदू दोस्त के प्रेम का बदला लेना चाहते थे।"[3] उन्होंने अहल्या की शादी के लिए पांच हजार रुपये अलग कर रखे थे। उसे उन्होंने कन्यादान के समय दे दिया। वैमनस्य की प्रचंड अग्नि जो लोगों ने उनके मन में लगाई थी वह शांत पड़ गई। उन्होंने यह अनुभव किया कि हम हिंदू-मुसलमान एक ही धरती पर रहते हैं, एक साथ खेलकूद कर पलते हैं, फिर क्यों बाहर के प्रभाव में आकर अपने ही भाई और मित्र के खून के प्यासे हो जाते हैं। उनके इस अनुभव ने उन्हें एक उदार व्यक्ति बना दिया। वे वागीश्वरी के लिए हमेशा उदार और सहृदय रहे। वे अपने उच्च आदर्श की राह से भटके पथिक हो गए थे। लेकिन अंत में वे सांप्रदायिक एकता के महान समर्थक बन गए।

वागीश्वरी

"कायाकल्प" की वागीश्वरी श्री यशोदानंदन की पत्नी है। वह सहृदय, दया की मूर्ति, प्रेम की स्निग्ध जलधार की तरह है। वह अपने पति और पालिता पुत्री को अत्यंत प्यार करती है। उनके लिए वह सभी प्रकार से त्याग करने को उद्यत रहती है। यशोदानंदन की मृत्यु के उपरांत वह एक आदर्श पतिव्रता की भांति साधना-तपस्या में जीवनयापन करती है। उसके उच्चादर्श अतुलनीय हैं। वह अपने आदर्शों पर सदा अडिग रहती है। सांप्रदायिक एकता की वह प्रबल समर्थक है। वह बार-बार अपने पति को समझाती है। कहती है—"न मुसलमानों के लिए दुनिया में कोई दूसरा ठौर-

---

1. वही, पृ० 260।
2. कायाकल्प, पृ० 261।
3. वही, पृ० 266।

ठिकाना है, न हिंदुओं के लिए। दोनों इसी देश में रहेंगे और इसी देश में मरेंगे। फिर आपस के क्यों लड़े मरते हैं ? न तुम्हारे निगले वे निगले जाएंगे न उनके निगले तुम निगले जाओगे। मिलजुल कर रहो।"[1] अपने इस कथन के आधार पर वह देश की हिंदू-मुस्लिम समस्या का विवेचन करती है और युग और समाज को हिंदू-मुस्लिम एकता, शांति और प्रेम का कातर संदेश देती है।

अमरकांत

"कर्मभूमि" का प्रमुख पात्र अमरकांत सांप्रदायिक वैमनस्य या जातिधर्म के आधार पर मनुष्य-मनुष्य के भेद को स्वीकार नहीं करता। बचपन से वह सलीम के साथ बड़े प्रेम से रहता है। सलीम एक मुसलमान युवक है। उसके साथ खाने-पीने और छुआ-छूत का खयाल वह बिलकुल नहीं करता है। वह धर्म, जाति और वर्ग के ऊपर की चीज—इंसानियत—में विश्वास करता है। अमरकांत एक हिंदू घर में पला है। उसका पिता भले धर्म के संकुचित व्यावहारिक तथ्यों को महत्वपूर्ण मानता है, लेकिन वह हिंदू धर्म के इन संकुचित व्यावहारिक संकीर्ण तथ्यों को स्वीकार नहीं करता। उसके विचार उदार एवं निष्पक्ष हैं। वह सलीम को अपना अभिन्न मित्र मानता है। अमर-कांत का व्यक्तित्व कई प्रबल प्रतिरोधों पर आधारित है। उसकी मां की मृत्यु बाल्य-काल में हो जाती है और वह मां की ममता एवं उस मधुर अपनत्व का जीवन-भर भूखा रहता है। "जिंदगी की वह उम्र जब इंसान को मुहब्बत की सबसे ज्यादा जरूरत होती है, बचपन है। उस वक्त पौधे को तरी मिल जाय, जिंदगी-भर के लिए उसकी जड़ें मजबूत हो जाती हैं। मेरी माता का उसी जमाने में देहांत हुआ और तब से मेरी रूह को खुराक नहीं मिली। वही भूख मेरी जिंदगी है।....दुनिया में सबसे बदनसीब वह है, जिसकी मां मर गई हो।"[2] यही कारण है कि वह पिता से ढीठ था। "पिता और पुत्र में स्नेह न था। पिता-पुत्र के स्वभाव में आसमान-जमीन का अंतर था। पिता को पूजा-पाठ में विशेष आस्था थी; पुत्र उसे ढोंग समझता था। पिता परले सिरे के लोभी थे, लड़का पैसे को ठीकरा समझता था।"[3] उसमें धन के प्रति मोह नहीं था। उसके पिता की व्यापारिक-व्यावहारिक बुद्धि से उसके आदर्शवादी व्यक्तित्व का विरोध शुरू से चलता है। जिस कार्य से आत्मा को चोट पहुंचे, उसे वह मान्य नहीं समझता। राष्ट्र प्रेम उसका सबसे बड़ा साध्य है। वह गांधी जी के आदर्श में आस्था रखनेवाला सुधारवादी, चरखा और खादी के प्रचार का समर्थक है। वह कर्म में विश्वास करता है,

1. कायाकल्प, पृ० 260।
2. कायाकल्प, पृ० 134।
3. कर्मभूमि, पृ० 10।

"न्यायवाद का पुजारी है।"[1] वह सिर पर गट्ठर लेकर कपड़ा बेचना अनुचित एवं अमर्यादित नहीं मानता। वह देश की प्रगति के लिए, किसानों के सुधार के लिए तथा गांव में नव जागर्ति के लिए कार्य करता है। उसकी प्रेरणा एवं आदर्श से प्रभावित होकर गांव के चमार मांस-मदिरा का त्याग करते हैं। उस अछूत त्याज्य जनजीवन में नई रोशनी, नया आलोक देकर, वह उसमें आत्मबल, सहिष्णुता, उदारता, अहिंसा एवं सत्य के प्रति अपूर्व प्रेम उद्वेलित करता है। वह जाति-पांति का बंधन नहीं मानता। इतना ही नहीं, उसके लिए हिंदू और इस्लाम धर्म में भी अंतर नहीं है। वह धर्म को जीवन का बाह्य आवरण मानता है और स्वीकार करता है कि सभी धर्मों के तत्त्व एक हैं। वह कहता है कि "मेरा अपना ईमान यह है कि महजब आत्मा के लिए बंधन है। मेरी अक्ल जिसे कबूल करे, वही मेरा मजहब है, बाकी सब खुराफात।"[2] "मैं प्रेम के सामने मजहब की हकीकत नहीं समझता, कुछ भी नहीं।"[3] वह एक मुस्लिम लड़की सकीना से प्रेम करने लगता है और उसे "अस्मत और वफा की देवी"[4] मानता है। वह उससे विवाह भी करने को तैयार है। वह ऐसे समाज से विद्रोह चाहता है, जो दो धर्मवालों की मुहब्बत में बाधक है। वह समाज में एक अभूतपूर्व क्रांति लाना चाहता है—"ऐसी क्रांति जो सर्वव्यापक हो, जीवन के मिथ्या आदर्शों का, झूठे सिद्धांतों का, परिपाटियों का अंत कर दे, जो एक नए युग का प्रवर्तक हो, एक नई सृष्टि खड़ी कर दे, जो मिट्टी के असंख्य देवताओं को तोड़-फोड़कर चकनाचूर कर दे, जो मनुष्य को धन और धर्म के आधार पर टिकनेवाले राज्य के पंजे से मुक्त कर दे।"[5] वह कहता है—"मैं अपनी आतमा को समाज का गुलाम नहीं बनाना चाहता।"[6] लेकिन वह समाज से पूर्ण विद्रोह नहीं कर पाता, आगे होनेवाली बदनामी और हलचल से डर जाता है।

सलीम

"कर्मभूमि" उपन्यास का सलीम एक उदार और असांप्रदायिक प्रेम में आस्था रखने वाला आदर्श पात्र है। वह प्रारंभ में उग्र स्वभाव का युवक है। मुन्नी पर बलात्कार करने वाले गोरों को वह पीटता है और सरकार के विरुद्ध क्रांतिकारी कार्यों

---

1. कर्मभूमि, पृ० 122।
2. वही, 98।
3. कर्मभूमि, पृ० 96।
4. वही, पृ० 133।
5. वही, पृ० 93-94।
6. वही, पृ० 97।

में अमरकांत और डॉ० शांतिकुमार के साथ सहयोग करता है, लेकिन जब अफसर बनता है तब वह किसानों का दमन करता है। बाद में अमरकांत से प्रभावित होकर वह किसानों की वास्तविक रिपोर्ट सरकार को भेजता है। वह किसानों की वास्तविक दयनीय स्थिति से परिचित होकर उससे अत्यंत प्रभावित होता है। सरकार ऐसे व्यक्ति को सरकारी पद पर रखना खतरनाक समझती है, जो अपने देशवासियों की स्थिति से प्रभावित होकर उनके लिए, उनकी खुशहाली के लिए कार्य करे, जो किसानों का हमदर्द और शुभचिंतक हो। अतः वह सरकारी पद से हटा दिया जाता है। सलीम सरकारी नौकरी से हटते ही किसान आंदोलन का नेतृत्व करने लगता है। फलस्वरूप, जेल जाता है। देश की स्वतंत्रता की आकांक्षा उसके अंतर में भी वैसे ही आंदोलित है, जैसे अमरकांत के हृदय में। उसके अनुसार राष्ट्रीय आंदोलन को क्रांतिकारी होना चाहिए, तभी वह सफल होगा। उसका विश्वास था कि अहिंसा और हृदय-परिवर्तन का सिद्धांत प्रभावशाली नहीं है। वह अमरकांत से कहता हे "आप आजादी चाहते हैं, मगर उसकी कीमत नहीं देना चाहते।"[1] "हम जितना ही दवते जाते हैं, उतना वह लोग शेर होते हैं।"[2]

सलीम के हृदय में जाति, वर्ग एवं सांप्रदायिक विभिन्नता के भाव नहीं हैं। वह अमरकांत से भाई की तरह प्रेम करता है और उसकी हमेशा मदद करता है। वह एक सच्चा मित्र है। वह अमरकांत के धार्मिक संस्कारों का सम्मान करता है और उनके लिए हिंदू से खाना बनवाता है। प्रेमचंद सलीम के व्यक्तित्व को स्पष्ट कर यह वतलाना चाहते हैं कि उस युग के भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम में हिंदू और मुसलमान दोनों सक्रिय रूप से भाग ले रहे थे और दोनों में अपनत्व और प्रेम था। किंतु अनेक पढ़े-लिखे हिंदू और मुसलमान धर्म की कट्टरता और रूढ़ि को समाज में मुख्यता देकर हिंदू मुसलमान दोनों को एक दूसरे के प्रति भड़का रहे थे। सलीम धर्म के आडम्बर और सामाजिक विडम्बना को अच्छी तरह समझता है और अमरकांत को बार-बार इसके प्रति सतर्क करता है। स्कूल में धर्म विषयक विवाद पर अमरकांत के उग्र तथा क्रांतिकारी विचार को वह युग-जीवन के लिए आदर्श मानता है, लेकिन वह जानता है कि राजनीतिक धरातल पर सांप्रदायिक प्रेम युगीन समाज को मान्य नहीं है। वह धर्म के गूढ़ सत्य को समझता है तथा सामाजिक रूढ़ियों के प्रति सतर्क है। वह जानता है कि आज का समाज सांप्रदायिक समन्वय और एकता का कायल नहीं है। वह अमरकांत को बार-बार समझाता है कि सांप्रदायिक प्रेम के संवंध को लोग "मजहवी रंग देकर तुम्हारे पीछे पड़ जाएँगे।"[3] उसकी "पाक मुहब्बत" को समाज स्वीकार नहीं कर

1. कर्मभूमि, पृ० 371।
2. वही, पृ० 372।
3. वही, पृ० 88।

सकता। हिंदू-मुस्लिम समस्या को लेकर "सारे शहर में तहलका पड़ जाएगा, जनाब। भोचाल आ जाएगा — शहर ही नहीं, सूबे-भर में, बल्कि शुमाली हिंदुस्तान भर में; आप हैं किस फेर में ! जान से हाथ धोना पड़े तो ताज्जुब नहीं।"[1] वह जानता है कि धर्म को सामने रख कर समाज के स्वार्थी और रूढ़िवादी लोग देश में हिंदू-मुस्लिम प्रेम के संबंधों को लेकर दंगे करा देंगे सांप्रदायिक विद्रोह उपस्थित कर देंगे।

गजनवी

सलीम की तरह गजनवी भी एक उदार दिल का, साफ, परोपकारी चरित्र है, जो हिंदू-मुस्लिम एकता का पक्ष लेता है। वह मानता है कि देश के हिंदू और मुसलमान दोनों स्वराज चाहते हैं, क्योंकि दोनों की जन्मभूमि भारत है। वह स्वीकार करता है कि "स्वराज हम भी चाहते हैं, मगर इन्कलाब की सूरत में नहीं। हालांकि कभी-कभी मुझे भी ऐसा मालूम होता है कि इन्कलाव के सिवा हमारे लिए दूसरा रास्ता नहीं है।"[2] वह भारत में रहने वाले हिंदू मुसलमानों की एकता का कायल है। दोनों के स्नेह-संबंध से ही देश की प्रगति हो सकती है। लेकिन आज तो "गलत तवारीखें पढ़-पढ़ कर दोनों फिरके एक दूसरे के दुश्मन हो गए हैं।"[3] दोनों को गलत इतिहास पढ़ाया गया है, एक दूसरे के प्रति द्वेष के भाव भरे गए हैं। मुसलमान डरते हैं कि स्वराज के बाद हिंदू कौम उनसे पुरानी अदावतें लेगी और उन्हें तंग करेगी। उनका नाम-निशान मिटा देगी। लेकिन गजनबी मानता है कि मुसलमानों के मन में बोए गए ये द्वेष भाव गलत हैं हिंदू और मुसलमान दोनों इस देश में वर्षों से रहते आ रहे हैं; मात्र धर्म के कारण उन्हें उनकी जन्मभूमि से अलग नहीं किया जा सकता। वस्तुतः धर्म का प्रश्न दोनों को गुमराह करने के लिए उठाया गया है। वास्तव में देश के सामने आज जो समस्या है, वह आर्थिक है। देश में समाज का बंटवारा अमीर और गरीब के रूप में होना चाहिए और "मजहब शख्सी चीज होनी चाहिए।"[4] आदमी अपने-अपने धर्म से नहीं, अपनी आर्थिक स्थिति से पहचाना जाना चाहिए।

"कर्मभूमि" उपन्यास में प्रेमचंद ने हिंदू-मुस्लिम, सांप्रदायिक एकता के संबंध को प्रेमयता एवं घनिष्ठता के साथ अंकित किया है। समरकांत जैसा व्यापारी सेठ, जो धर्म की रूढ़ियों में विश्वास करता है और उन्हें ही धर्म का मूल तत्त्व समझता है। उसके विचार भी अमरकांत-सलीम की मित्रता एवं परिवार वालों के क्रांतिकारी

---

1. कर्मभूमि, पृ० 97।
2. वही, पृ० 311-12।
3. वही, पृ० 311-312।
4. कर्मभूमि, पृ० 312।

आदर्शों के समक्ष परिवर्तित हो जाते हैं और वह अंत में सलीम के साथ प्रेम से खाता हुआ मजाक करता है, "मैं मुसलमान नहीं हुआ, तुम हिंदू हो गए।"[1]

पठानिन

धर्म को कट्टरता से मानने वाले समरकांत पठानिन से अपना स्नेह संबंध-बनाए रखते हैं और उसे पांच रुपया मासिक देते हैं। वह पठानिन के पति के साथ सोहार्द-पूर्ण संबंध रखते हैं। पठानिन भी उस परिवार से अपना प्रेमपूर्ण संबंध रखती है और सुखदा के बच्चों के लिए शुभकामनाएं एवं वस्त्र उपहार में लाती है। गरीब होते हुए उसकी उस परिवार के साथ किए गए प्रेम और त्याग की भावना अपूर्व है। वह कहती है कि उसके लिए संसार में लाला समरकांत जैसे सहयोगी, सहायता करने वाला हमदर्द दूसरा नहीं है। उसके पति भी लाला समरकांत के लिए अपनी जान कुर्बान करने को तैयार रहते थे। थे तो मामूली नौकर, लेकिन लाला ने उन्हें हमेशा स्नेह और सम्मान दिया। प्रेमचंद इस मानवीय प्रेम-संबंध को दृढ़ करना चाहते हैं। सुखदा भी पठानिन का सम्मान करती है, उसके पांव छूती है और उससे प्रेम से बातें करती है। उसकी ताबीज को स्वीकार करती है। पठानिन भी उस घर को अपना समझती है। उसे वरबाद होते नहीं देखना चाहती; वह यह नहीं चाहती कि सकीना अमरकांत से विवाह कर ले और लाला समरकांत का घर बर्बाद हो, सुखदा का जीवन तबाह हो। वह कहती है—"जिसका जिंदगी भर नमक खाया, उसका घर उजाड़ कर अपना घर बनाऊं ? यह शरीफों का काम नहीं।"[2] उसी प्रकार सकीना और सुखदा का संबंध आत्मीय है। सकीना अमरकांत के प्रेम में तन्मय है, फिर भी वह सुखदा के लिए त्याग करने को तैयार है। वह कहती है—"बहन, मेरे लिए इससे बड़ी खुशी की बात नहीं हो सकती कि आप और वह फिर मिल जाएं, आपस का मन-मुटाव दूर हो जाए; मैं उस हालत में और भी खुश रहूँगी। मैं उसके साथ न गई, इसका यही सबब था।"[3] हिंदू-मुस्लिम नारियों में आर्थिक विषमता के बावजूद रागात्मक धरातल पर एक-सा मानसिक चिंतन एवं स्नेह-संबंध मानवतावादी दृष्टि से प्रशंसनीय है। इन संबंधों को सुदृढ़ एवं सहज दिखाकर प्रेमचंद मानवीय प्रेम-संबंध को सुदृढ़ बनाने का प्रयास करते हैं। साथ ही, वे सांप्रदायिक प्रेम एवं एकता के संबंध को अधिक घनिष्ठ, व्यापक एवं जीवन के लिए अनिवार्य बनाना चाहते हैं।

1. कर्मभूमि, पृ० 344।
2. कर्मभूमि, पृ० 194।
3. वही, पृ० 196।

सकीना

"कर्मभूमि" की मुख्य पात्री सकीना तत्कालीन समाज को सांप्रदायिक एकता का संदेश देती है। वह कहती है कि प्रेम के लिए धर्म की मान्यता आवश्यक नहीं। आदमी का आदमी से प्रेम होना स्वाभाविक है। समाज--धर्म और जाति को आधार मानकर उसे रोकना क्यों चाहता है? वह प्रेम को पवित्र और स्वर्गीय निधि मानती है। वह अमरकांत के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग करने को तैयार है। वह कहती है, "मेरे कारण आपकी रुसवाई हो, उसके पहले में जान दे दूंगी, मैं आपकी जिंदगी में दाग न लगाऊँगी।"[1]

सकीना प्रेम, सेवा, आत्मसंयम एवं त्याग की अनुपम मूर्ति है। प्रेम के लिए समाज की उपेक्षा एवं आलोचना तथा दादी की फटकार झेलती हुई वह प्रेम के कठिन धरातल पर अटल रहती है। वह परंपरागत रूढ़ि, जाति, पांति एवं संप्रदाय के बंधन और विवाह की प्राचीन मान्यता के प्रति विद्रोह करती है। उसके प्रेम की गंभीरता और शांति, दृढ़ व्यवितत्व की शालीनता से सभी प्रभावित होते हैं। सुखदा भी उसके त्याग, सेवा, दया, अपूर्व संयम और प्रेम की उदात्त भावना के समक्ष पराजित अनुभव करती है। सकीना के प्रेम में यौवन की उद्दाम चंचलता या उच्छृंखलता नहीं हैं। वह जीवन की प्रयेत्क परिस्थिति में शांत रहती है। प्रेम के धरातल पर उसका दृढ़, शांत व्यक्तित्व दर्शनीय है। वह कहती है, "मैं भी जब तक जिंदगी है, इस मुहब्बत के चिराग को अपने दिल के खून से रोशन रखूंगी।"[2] वह मुहब्बत को अपना इनाम मानती हैं।[3] वह अपनी पाक मुहब्बत को वर्षों अपने संयम से सींचकर अपूर्व बनाती है उसके अपूर्व संयम, त्याग एवं सेवा की भावना को देखकर सलीम उसे पूजा की वस्तु मानता है और उसके साथ विवाह करने को तैयार होता है। लेकिन सकीना अपने पवित्र प्रेम की ज्योति जलाए अमरकांत के लिए जीवन-भर तपस्या करना चाहती है। वह मानती है, "असली मुहब्बत वह है, जिसकी जुदाई में भी विलास है, जहां जुदाई है ही नहीं, जो अपने प्यारे से एक हजार कोस पर होकर भी अपने को उसके गले में मिला हुआ देखती है।"[4] अगर अमरकांत स्वयं उसे छोड़ दे तो दूसरी बात है। वह सुखदा और अमरकांत के जीवन को सुखमय बनाने के लिए भी त्याग करने को तैयार थी। इसीलिए वह अंत में उन दोनों के मिलाप पर खुश होती है और सलीम से शादी करना

---

1. कर्मभूमि, पृ० 101।
2. वही, पृ० 101।
3. वही, पृ० 101।
4. कर्मभूमि, पृ० 102।

मंजूर करती है। वास्तव में वह सांप्रदायिक प्रेम और एकता की स्निग्ध और अद्वितीय प्रतिमा है।[1]

"रंगभूमि" उपन्यास में भी प्रेमचंद ने अनेक पात्रों का सृजन किया है जिसका सिद्धांत मानवतावादी है। कुछ चरित्र ऐसे भी हैं, जो प्रारंभ में कट्टर धार्मिक रूढ़ियों को महत्व देते हैं, लेकिन बाद में उनके विचार उदार हो गए है। ये भी मानवीय प्रेम में धर्म के बंधन को व्यर्थ समझते हैं।

सोफिया

सांप्रदायिक एकता एवं मानव-प्रेम में विश्वास रखनेवाली "रंगभूमि" उपन्यास की नायिका सोफिया एक ईसाई युवती है। वह कट्टर ईसाई धर्म को मानने वाले एक ऐसे परिवार में और विशेषकर ऐसे अनुदार विचारों वाली मां की छत्रछाया में पल कर बड़ी हुई है जिसकी दृष्टि में अपने सिद्धांतों के सिवा अन्य धार्मिक मतों का कोई महत्व नहीं। सोफिया की मां का जन्म हिंदुस्तान में ही हुआ है, फिर भी उसे हिंदुस्तानियों से घृणा है। वह अपने आपको अन्य हिंदुस्तानियों से पवित्र एवं उच्च मानती है, क्योंकि वह ईसा के पवित्र एवं महान दर्शन में विश्वास करती है। लेकिन सोफिया ऐसे कट्टर धार्मिक सिद्धांत में आस्था रखने वाली अनुदार मां की बेटी होकर भी, अपने उदार, महत्तम विचार-दर्शन एवं धार्मिक उदारता के कारण, हमारे समक्ष एक विलक्षण व्यक्तित्व के साथ उपस्थित होती है।

सोफिया की उच्च शिक्षा उसमें आध्यात्मिक गंभीरता लाती है। उसका गंभीर धार्मिक चिंतन एवं विवेचन उसे धर्म के संकीर्ण बंधन से ऊपर उठा देता है। वह प्रारंभ से ही धार्मिक कट्टरता एवं बाह्य आडंबरों में विश्वास नहीं करती। वह उन संकीर्ण संकुचित धार्मिक दायरों का विरोध करती है जिनको श्रीमती जॉन सेवक अत्यावश्यक और अनिवार्य समझती है। वह धर्म एवं संप्रदाय की संकुचित सीमा को तोड़ एक हिंदू युवक से प्रेम करने लगती है और हिंदू धर्म एवं दर्शन की उदारता की ओर आकर्षित होती है। अपने अध्ययन, मनन और विवेचन के साथ-साथ वह अनुभव करती है कि प्रेम मानवता का चिर संचित आदर्श है, धर्म के बंधन प्रेम की पवित्र मर्यादा को तोड़ नहीं सकते। वह संप्रदाय और धर्म को मनुष्य का बाह्य आवरण मानती है। वह धर्म को नहीं, कर्म को मुक्ति का आधार मानती है।"[2] वह अनुभव करती है कि धार्मिक अनुदारता के कारण प्रत्येक धर्म अपने को विशेष ऊँचा एवं महान मानता है। इंसान को इंसान होने के नाते नहीं, धर्म के कारण

1. रंगभूमि, पृ० 422।
2. रंगभूमि, पृ० 27।

पहचाना जाता है। यह धार्मिक अनुदारता का दोष है, जिसके कारण व्यक्ति में विचार-स्वातंत्र्य का सम्मान करने की क्षमता नहीं रहती। हिंदू धर्म में मूर्तियों के अस्तित्व पर उसे पहले बार-बार संदेह होता था, लेकिन दार्शनिक अध्ययन ने उसके इस संदेह को मिटा दिया।

सोफिया एक हिंदू युवक विनय सिंह से प्रेम करती है। वह उस साधु प्रकृति के त्यागमूर्ति, दुस्साहसी पुरुष की प्रेमिका बन कर प्रसन्न है। वह कहती है—"यह मेरे लिए गौरव की बात है। ऐसे साधुप्रकृति, ऐसे त्यागमूर्ति, ऐसे सदुत्साही पुरुष की प्रेम-पात्री बनने में लज्जा नहीं।"[1] वह प्रेम के लिए धर्म की विभिन्नता[2] का बंधन स्वीकार नहीं करती। प्रेम को वह ईश्वर का स्वरूप मानती है। वह उससे डरना नहीं चाहती, क्योंकि "प्रेम अभय का मंत्र है। प्रेम का उपासक संसार की समस्त चिंताओं और बाधाओं से मुक्त हो जाता है।"[3] धर्म के बंधन को वह सामाजिक रूढ़ि मानती है। समाज रूढ़ि और संकीर्ण मान्यताओं के आधार पर, दो प्रेम करने वाले इंसानों को एक दूसरे से मिलने देने से रोक देता है, उनके हृदय के उद्‌गारों को कुचल डालता है, उनके अरमानों को छिन्न-भिन्न कर डालता है। सोफिया सोचती है—"अगर मैं राजपूतानी होती तो रानी सहर्ष मुझे स्वीकार करती; पर मैं ईसा की अनुचरी होने के कारण त्याज्य हूं। ईसा और कृष्ण में कितनी समानता है, पर उनके अनुचरों के कितनी विभिन्नता! कैसा अनर्थ है! कौन कह सकता है कि सांप्रदायिक भेदों ने हमारी आत्मा पर कितना अत्याचार किया हैं।"[4] "रंगभूमि में एक ओर सोफिया की माँ अपने धर्म, अंग्रेज जाति और अपनी सभ्यता, संस्कृति को महान समझती है और दूसरी ओर रानी जाह्नवी अपने धर्म और संस्कृति को महान मानती है।" वह हिंदू धर्म पर जान देती है।"[5] वह मिसेज सेवक को हिंदुत्व की गरिमा समझाती हुई कहती है कि "ईसा बुद्ध-काल में भारत आए थे और जो कुछ उन्होंने यहां सीखा, उसी का प्रचार पश्चिम में, किया।"[6] ऐसे कट्टर धार्मिक भावना वाले दो परिवारों के युवक-युवती धर्म के बंधन को त्याग कर प्यार के पवित्र बंधन में बंध जाते हैं। सोफिया हिंदू धर्म से अत्यधिक प्रभावित है। वह मानती है, हिंदू धर्म की उदारता में सभी धर्मों के लिए स्थान है, जहाँ आस्तिक, नास्तिक, बौद्ध, शाक्त, वैष्णव—सभी एक साथ मिल कर रह सकते हैं।[7] वहां अन्य धर्म भी उस उदार धर्म एवं संस्कृति की छत्रछाया में पल्लवित हो सकते हैं।

1, 2. रंगभूमि, पृ॰ 93।
3. रंगभूमि, पृ॰ 93।
4. वही, पृ॰ 95।
5. वही, पृ 286।
6. वही, पृ॰ 158।
7. रंगभूमि, पृ॰ 151।

वह स्पष्टत: कहती है—"मैं भी हिंदू धर्म पर जान देती हूँ। जो आत्मिक शांति मुझे और कहीं न मिली, वह गोपियों की प्रेम-कथा में मिल गई। वह प्रेम का अवतार, जिसने गोपियों को प्रेमरस का पान कराया, जिसने कुब्जा का डोंगा पार लगाया, जिसने प्रेम के रहस्य दिखाने के लिए संसार को अपने चरणों से पवित्र किया, उसी की चेरी बनकर जाऊँगी तो वह कौन सच्चा हिंदू है, जो मेरी उपेक्षा करेगा ?"[1] अंत में ऐसा ही होता है : सोफिया के अपूर्व साहस, संयम, धैर्य, सेवा और त्याग से प्रसन्न होकर रानी जाह्नवी उसे पुत्रवधू बनाने को तैयार हो जाती है। रानी जाह्नवी का सांप्रदायिक संकीर्णता का कच्चा धागा सोफिया के प्रेम की उज्ज्वलता और त्याग के अपूर्व तेज से टूट जाता है। इस प्रकार प्रेमचंद सांप्रदायिक बंधनों को तोड़ मनुष्य को मनुष्य के साथ प्रेम एवं एकता से रहने का संदेश देते हैं। वे मानव-प्रेम को धर्म के बंधनों से परे मानते थे। विनय और सोफिया का प्रेम धर्म के बंधनों से परे एकनिष्ठ प्रेम है। लेकिन, इतना सब कुछ होते हुए भी, सोफिया को उदार व्यक्तित्व विजातीय विवाह और दांपत्य जीवन की प्रसन्नता के लिए चिंतित है। उसका हृदय एक अज्ञात भय, एक अव्यक्त शंका से आच्छन्न है।[2] प्रेमचंद ने यहाँ भी कर्मभूमि की तरह दो संप्रदायों में विवाह संपन्न नहीं कराया। "रंगभूमि" के नायक-नायिका आत्महत्या कर लेते हैं। लेकिन दोनों के उदार व्यक्तित्व एवं धार्मिक निष्पक्षता से भारतीय जन-समाज को सांप्रदायिक समन्वय, प्रेम एवं एकता का संदेश मिलता है।

विनय

"रंगभूमि" उपन्यास का नायक विनय अपनी क्षत्राणी मां के आदर्शों से अनुप्राणित सेवाधर्म में विश्वास करनेवाला आदर्श युवक है। उसका संपूर्ण व्यक्तित्व जाह्नवी के राजपूती आदर्शों पर इस प्रकार आधारित है कि वह अपनी मां के आदर्शों से हटकर कोई महत्वपूर्ण कार्य करने में हिचकता है। जाह्नवी उसे धर्मशील, साहसी, जन्म का विरागी, संयमी, पूर्वजन्म का ऋषि मानती है।[3] प्रेम एवं विवाह के संबंध में भी वह अपनी माँ के आदर्शों के समक्ष नतशिर है। वह धर्म, जाति एवं सांप्रदायगत विभिन्नताओं में विश्वास नहीं करता, सांप्रदायिक एकता में विश्वास करता है। वह सोफिया से, जो एक ईसाई युवती है, प्रेम करता है, लेकिन इस विषय में कोई क्रांतिकारी कदम उठा नहीं पाता, क्योंकि वह अपनी माँ के मातृत्व के समक्ष विनीत है। सोफिया को वह उपासना की वस्तु समझता है। इसीलिए उसे पूर्णता से प्राप्त करने में

1. रंगभूमि, पृ॰ 286।
2. वहीं, पृ॰ 483।
3. वही, पृ॰ 85।

हिचकता है। वह कहता है—"तुम मेरे लिए आदर्श हो, तुम्हारे प्रेम का आनंद मैं कल्पना ही द्वारा ले सकता हूं।.... तुम्हें पाकर मेरा जीवन नीरस हो जाएगा। मेरे लिए उद्योग और उपासना की कोई वस्तु न रह जाएगी।"[1]

दोनों का प्रेम वस्तुत: आदर्श है। प्रेमचंद "प्रेम" को अदर्श रूप में रखना चाहते थे। यही कारण है कि "कर्मभूमि" के अमरकांत-सकीना तथा "कायाकल्प" के मनोरमा चक्रधर का विवाह नहीं होता। इन प्रेमी-प्रेमिकाओं के जीवन में प्रेम, त्याग, संयम, धैर्य बलिदान और सेवाभाव मुख्य हैं। प्रेम को प्रेमचंद ने शारीरिक नहीं, आत्मिक आनंद के रूप में स्वीकार किया है, जिसमें स्वार्थ तथा शारीरिक तुष्टि की आवश्यकता नहीं स्वीकार की गई। लेकिन सोफिया-विनय तथा सकीना-अमरकांत के आदर्श प्रेम के माध्यम से प्रेमचंद सांप्रदायिक एकता का अनुपम संदेश देते हैं। "रंगभूमि" का नायक विनय भी धर्म की महानता एवं गंभीरता को समझता हुआ यह समझता है कि मनुष्यता का प्रेम एवं सांप्रदायिक एकता मनुष्य-जीवन के आदर्श हैं। वह सांप्रदायिक एकता में विश्वास करता है और प्रेम को मानव-जीवन में दिव्य एवं अनुपम मानता है। लेकिन इस क्रांतिकारी विचार को साकार करने के लिए वह कोई शक्तिशाली, क्रांतिकारी कदम नहीं उठाता, क्योंकि वह अपनी मां के ममत्व को तोड़ना नहीं चाहता। अंत में वह राजपूत वीरों की भांति मानरक्षा के लिए आत्महत्या कर लेता है।

जाह्नवी

"रंगभूमि" में रानी जाह्नवी प्राचीन भारतीय सभ्यता-संस्कृति में विश्वास रखनेवाली एक आदर्श नारी है। वह प्राचीन भारतीय आदर्श, राजपूती वीरता एवं भारतीय गौरव-गरिमा से प्रभावित है। वह हिंदू धर्म को संसार का सर्वश्रेष्ठ धर्म समझती है और सोफिया के विधर्मी होने के कारण उसके गुणों से प्रभावित होकर भी उससे वैवाहिक संबंध को व्यावहारिक नहीं मानती। वह सोफिया को अपनी पुत्री की तरह प्यार करती है। वह उसे बड़े स्नेह से अपने पास रखती है। वह कहती है "तुम सोफी नहीं, स्त्री के रूप में विनय हो। कुंवर साहब तो तुम्हारे ऊपर मोहित हो गए हैं। यदि धार्मिक बाधा न होती तो (मुस्कुराकर) उन्होंने मिस्टर सेवक के पास विनय के विवाह का संदेश कभी का भेज दिया होता।"[2] रानी जाह्नवी जातिप्रेम से परिपूर्ण एक वीर क्षत्राणी है। वह देश की दशा पर चिंतित है। वह वीर पुत्र चाहती है, जो देश के लिए शहीद हो सके। उसका संपूर्ण जीवन त्याग, संयम और देश-सेवा में लगा हुआ है। वह कर्त्तव्य के पथ को जीवन का साध्य समझती है।

---

1. रंगभूमि, पृ० 287।
2. रंगभूमि, पृ० 87।

रानी जाह्नवी प्रारंभ में संकुचित धर्म एवं संप्रदाय में विश्वास करती थी, लेकिन, बाद में, सोफिया के त्याग, संयम और धैर्य से प्रभावित होकर उसे पुत्रवधू बनाने के लिए तैयार हो जाती है और स्वयं मिस्टर सेवक के पास जाकर यह संबंध निश्चित करती है। इस प्रकार संस्कारों के बंधन में बद्ध रानी जाह्नवी की उदारता एवं सोफिया जैसी युवती को पुत्रवधू के रूप में स्वीकार करने की आकांक्षा, युग-समाज के लिए, एक महान एकता का प्रकाश-स्तंभ है।

इसी प्रकार रंगभूमि के जॉन सेवक के चरित्र में भी विकास दिखाया गया है। प्रारंभ में, धर्म के प्रति जॉन सेवक के विचार संकुचित थे। धर्म और व्यापार, उसकी दृष्टि में, अलग-अलग है। "कर्मभूमि" के समरकांत का जीवन भी संकुचित धर्म में उलझा था। समरकांत को गंगास्नान और पूजा-पाठ, व्रत-उपवास तक सीमित मानता है। धर्म का वास्तविक ज्ञान दोनों इन को नहीं है। परंपरागत धर्म को ही ये धर्म समझते हैं। जॉन सेवक भी चर्च जाना, बाइबिल पढ़ना आदि कार्यों को धर्म समझता है। व्यापार में समरकांत चोरी की चीजें खरीदता है और जॉन सेवक विभिन्न प्रकार के साम-दाम से सूरदास-जैसी महान आत्मा को तरह-तरह से सताता है। लेकिन जीवन-विकास के क्रम में दोनों के विचार में परिवर्तन होते हैं। लाला समरकांत अपने पुत्र अमरकांत के त्याग, सेवा एवं उदारता से प्रभावित होकर धर्म के मूल सत्य को समझने लगते हैं, और मानते हैं कि धर्म मनुष्य का अपना आत्मविश्वास है, किसी के छूने या किसी के साथ बैठकर खाने से धर्म नहीं जाता। वह सलीम के साथ प्रेम से मिलते हैं एवं उसके साथ उदारता से खाना खाते हैं। वह धर्म की प्राचीन मान्यता में सुधार लाना चाहते हैं।

इसी प्रकार जॉन सेवक भी सोफिया और विनय के प्रेम से प्रभावित होकर अंत में यह स्वीकार करते हैं कि "धर्म हमारी रक्षा और कल्याण के लिए है। अगर वह हमारी आत्मा की शांति और देह को सुख नहीं प्रदान कर सकता तो मैं उसे पुराने कोट की भांति उतार फेंक देना पसंद करूँगा। जो धर्म हमारी आत्मा का बंधन हो जाय, उससे जितनी जल्दी अपना गला छुड़ा लें, उतना ही अच्छा।"[1] वे धर्म को आत्मा का बंधन नहीं, आत्मविकास का साधन मानते हैं। समरकांत और मिस्टर जॉन सेवक दोनों अंतर्विरोधी जीवन-मूल्यों में विश्वास करते हैं। दोनों का सुधार होता है और दोनों ही धर्म को उदारता से समझने का प्रयास करते हैं।

प्रेमचंद ने अपने कथा-साहित्य में सांप्रदायिक एकता के संदर्भ में मुख्यत: दो प्रकार के चरित्रों का निर्माण किया है। कुछ चरित्र प्रारंभ से ही उदार हैं और उनका मानव-प्रेम में विश्वास है; उनके लिए धर्म, जाति, संप्रदाय व्यर्थ की बातें हैं। ऐसे उदार पात्र प्रारंभ से अंत तक सांप्रदायिक प्रेम और एकता के पक्षपाती हैं। दूसरे प्रकार

1. रंगभूमि, पृ० 511।

के चरित्रों का विकास होता है। वे प्रारंभ में कट्टर संकुचित धर्म को मानते हैं, जाति-संप्रदाय में विश्वास रखते हैं। लेकिन व्यावहारिक जीवन में उनकी पुरानी आस्था टूटती है। वे उदार धर्म की ओर क्रमशः आकर्षित होते हैं। वे मानवजीवन के सुख-शांति एवं कल्याण की कामना करते हैं। वे बीच में भटक तो जाते हैं, पर अंत में सांप्रदायिक एकता के महान समर्थक एवं मानवता के पुजारी बन जाते हैं।

कादिर मियां

"प्रेमाश्रम" उपन्यास में प्रेमचंद ने एक मुस्लिम आदर्श पात्र की सृष्टि की है। कादिर मियां लखनपुर गांव का रहनेवाला है। लखनपुर गांव मुख्यतः हिंदुओं का गांव है। उसमें कुछ मुसलमान भी रहते हैं। हिंदु-मुसलमान यहां प्रेम से रहते हैं। उस गांव के हिंदुओं और मुसलमानों का नेतृत्व कादिर मियां करता है। कादिरमियां एक आदर्श व्यक्ति है। गांव में कादिरमियाँ का बड़ा सम्मान है। वह किसानों के अधिकारों के लिए संघर्ष करता है। वह मानवतावादी सिद्धांतों में विश्वास करता है। उसके सक्रिय नेतृत्व के कारण गाँव में जागरण आता है। सत्य और धर्म में उसका अटूट विश्वास है। वह कहता है, "अगर सच कहने के लिए जेल भी जाना पड़ा तो सच से मुंह न मोड़ो।"[1] कादिर मियाँ को हिंदुओं से बड़ा प्रेम है। वह हिंदू धर्म का गीत गाता है "मैं अपने राम को रिझाऊं।"[2] वह अपने भजनों में हिंदू-मुस्लिम भाव को प्रश्रय नहीं देता। कादिर मियां गांव के लोगों की रात-दिन चिंता करता हैं। सभी को सुपथ का निर्देश करता है और सभी से प्रेम रखता है। उसके लिए आदमी-आदमी में कोई अंतर नहीं है। हिंदू-मुसलमान का भेदभाव उसके मन में नहीं उठता। इंसानीयत के धर्म में वह आस्था रखता है। डपट सिंह के वेटे के मृत शरीर को कंधा देता है। उसे हिम्मत और सांत्वना देता है। उसके मन में परोपकार, प्रेम एवं सद्भावना का अजस्र स्रोत प्रवाहित होता रहता है। गांव में हिंदू-मुस्लिम स्नेह और भातृत्व, धर्म पर नहीं, मिट्टी पर आधारित है। दोनों एक ही मिट्टी, एक ही संघर्षमय धरती पर रहते हैं। अतः दोनों भाई-भाई हैं। प्रेमचंद कादिर मियां के व्यक्तित्व के निर्माण के माध्यम से गांव के सामुदायिक प्रेम, एकता एवं सौहार्द को प्रस्तुत कर हमारे समक्ष आदर्श भाईचारे एवं सांप्रदायिक एकता का संदेश देते हैं। भाईचारे के प्रेम के लिए धर्म का भेद कोई बाधा नहीं है। आदमी अपने धर्म में रह कर भी भाई-भाई-सा रह सकता है।

प्रेमचंद के युग के गांवों में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच प्रेम का सहज व्यवहार था। लोग कादिरमियां को फरिश्ता समझते थे। गाँव के सारे हिंदू-मुसलमान

1. प्रेमाश्रम, पृ० 95।
2. वही, पृ० 14।

किसान जमींदार के अन्याय-अत्याचार से परेशान थे। मनोहर और बलराज गांव के जमींदार के विरुद्ध संघर्ष शुरू करते हैं, जिसका नेतृत्व कादिर मियां करता है। "समस्त इलाके में कोई विद्रोही था तो मनोहर था और उसका बंधु था तो कादिर।"[1] गांव के जमींदार के कारिंदे गौस खां ने "कादिर का नाम शैतान रख छोड़ा था।"[2] पर यह उस नीतिकुशल, उदार और दयालु कादिर मियाँ से डरता था। कादिर मियां को जड़ी-बूटियों का अच्छा ज्ञान था। गांव के लिए वही वैद्य, हकीम और डाक्टर था। उससे गांव के लोगों को उसके प्रति विशेष श्रद्धा थी। उसके हृदय में "राग और द्वेष का स्थान न था।"[3] वह गांव के उद्दण्ड नवयुवकों को अनिष्टकारी कार्यों एवं हिंसात्मक कार्यों से रोकता है। वह लोगों को सुपथ की ओर ले जाता है। लोगों की मदद करना उसका साध्य था "दीन-रक्षा उसका लक्ष्य था, किंतु क्रोध और द्वेष को उभार कर नहीं, वरन् सद्व्यवहार तथा सत्य प्रेरणा से।"[4] गांव के विद्रोही नेता मनोहर से उसे भाईचारे का प्रेम और सच्ची सहानुभूति थी। वह बलराज के लड़के को लड़के की तरह प्यार करता था, उसे "हिम्मत का जवान"[5] कहता था। मनोहर भी कादिर मिथां से प्रेम करता था, उसकी सहायता करता था। कादिर मियां जान बचाने के लिए फरेब करना महापाप समझता था। वह मात्र दयालु, गंभीर, संयमी और सीधा-सादा ही नहीं, व्यवहारकुशल और तीव्रबुद्धि भी था। सारे गाँव में एकता रखने के प्रयास में उसकी व्यवहारपटुता का एवं विलक्षण बुद्धि का कोई जवाव नहीं था। विलासी के अपमान की कथा सुनकर वह झट मनोहर के पास जाकर धैर्य एवं शांति का संदेश देता है। लेकिन जब मनोहर विलासी के अपमान के. प्रतिशोध में गौस खां की हत्या करता है, तो अपने पुत्र को समझाते हुए कहता है, कादिर भरोसे का आदमी है, उसकी बातों का बुरा मत मानना। मनोहर को कादिरमियां पर बड़ा भरोसा है। कादिरमियां भी वलराज के लिए सब कुछ करने को तत्पर रहता है। वह उसके साथ जेल जाता है और काले पानी की सजा पाकर भी वह धैर्य की मूर्ति बना रहता है। बलराज एवं डपट सिंह की आलोचना का खंडन करते हुए वह मनोहर की तारीफ करता हुआ कहता है, "बेचारे ने तुम लोगों के लिए, तुम्हारे हक की रक्षा करने के लिए, यह सब कुछ किया। उसकी हिम्मत और जीवट की तारीफ तो नहीं करते, और उसकी बुराई करते हो। हम सब कायर हैं, वही एक मर्द है।"[6] जेल में

1. प्रेमाश्रम, पृ० 45।
2. वही, 45।
3. वही, पृ० 46।
4. वही, पृ० 46।
5. वही, पृ० 95।
6. प्रेमाश्रम, पृ० 219।

भी वह प्रसन्न रहता है। गांव के कितने ही कठोर, निर्मम एवं धूर्त व्यक्तियों का उसके विलक्षण व्यक्तित्व के प्रभाव से हृदय-परिवर्तन हो जाता है और अंत में लखनपुर गांव एक आदर्श गाँव बन जाता है, जहां प्रेम एवं भाईचारे का भाव और भी बढ़ता है और गाँव में रामराज स्थापित होता हैं। प्रेमचंद ने कादिर मियाँ का चरित्र-निर्माण कर सांप्रदायिक प्रेम और एकता का अपूर्व उदाहरण हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार गोदान में भी प्रेमचंद ने गांवों के हिंदू-मुस्लिम पात्रों की एकता के अनुपम चित्र प्रस्तुत किए हैं।

उपन्यासों के अतिरिक्त प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में भी ऐसे चरित्रों का निर्माण किया है, जो सांप्रदायिक एकता एवं प्रेम के आकांक्षी हैं और युग-जीवन को सांप्रदायिक समन्वय का, प्रेम का, एकता का संदेश देते हैं। ये पात्र यह बतलाते हैं कि हमारा समाज अज्ञानियों की भांति धार्मिक अंधविश्वासों से इस प्रकार जकड़ा है कि धर्म की एकता एवं सत्य के महत्त्व को समझ नहीं पाता।

रहमान

"मुक्तिधन" कहानी के दो पात्र हिंद्रू और मुसलमान हैं। दोनों अपनी-अपनी सीमा में महान हैं। आदर्श हिंद्रू और आदर्श मुसलमान में विशेष अंतर नहीं है। दोनों में वैसी ही दया, क्षमा, त्याग और प्रेम की महिमा है। दाऊदयाल अगर आदर्श हिंद्रू का प्रतिनिधित्व करता है तो रहमान एक गरीब आदर्श मुसलमान का प्रतीक है। रहमान अपनी गाय कसाइयों के हाथ नहीं बेचता, क्योंकि उसे उस गाय से बड़ा प्रेम है। वह उसके घर की लक्ष्मी है।

गरीब मुसलमान किसान रहमान का गाय के प्रति अपूर्व प्रेम दर्शनीय है। यह एक आदर्श है उन मुसलमानों के लिए, जो गाय का दूध तो पीते हैं, लेकिन उसे वह सम्मान नहीं दे पाते, जो मानवता का धर्म है।

दाऊदयाल

इस कहानी के दूसरे पात्र हैं दाऊदयाल—दया, सज्जनता एवं प्रेम के प्रतीक। दाऊदयाल रहमान की इंसानियत, उसकी सज्जनता पर उसे बार-बार कर्ज देते हैं। वे गरीब रहमान के व्यक्तित्व से इतने प्रभावित होते हैं कि उसके कर्ज के रुपये वापस नहीं लेते और उससे प्रेम से मिलते हैं। इन चरित्रों के आधार पर प्रेमचंद मानवता के आदर्श के साथ हिंदू-मुस्लिम प्रेम और भाईचारे का वर्णन करते हैं। दोनों

---

1. वही, पृ० 421।

एक-दूसरे के धर्म एवं धार्मिक सिद्धांतों का सम्मान करते हैं और प्रेम से रहते हैं। प्रेमचंद समाज में इसी प्रकार के आदर्श सांप्रदायिक समन्वय के पोषक हैं।

शेखहसन

"क्षमा" कहानी में बूढ़े शेख हसन के माध्यम से प्रेमचंद एक आदर्श मुस्लिम पात्र हमारे समक्ष उपस्थित करते हैं। शेख हसन एक महान उदार व्यक्ति है। धर्म में उसकी गूढ़ आस्था है। वह स्वीकार करता है कि धर्म व्यक्ति की आंतरिक आस्था और विश्वास पर आधारित है; उसे अत्याचार, डर एवं शक्ति से परिवर्तित नहीं किया जाना चाहिए। वह शरण में आए हुए दाऊद को क्षमा ही नहीं करता, वरन् उसकी जान बचाने के लिए अपनी ऊंटनी देकर उसके रातों-रात भाग जाने की व्यवस्था करता है। शेख हसन इस्लाम-धर्म का सच्चा पुजारी है और धर्म की गंभीरता को समझता है। दाऊद के यह कहने पर कि वह मात्र इस्लाम का दुश्मन नहीं है, उसके बेटे जमाल का हत्यारा भी है, उसे मार कर शेख हसन मात्र पुत्र की हत्या का प्रतिशोध ही नहीं लेगा, अपनी जाति, धर्म एवं समाज की सच्ची सेवा भी करेगा, वह कहता है—"मैंने तुम्हें माफ किया। मैं जानता हूं कि मुसलमानों के हाथ ईसाइयों को बहुत तकलीफें पहुँची। मुसलमानों ने उन पर बड़े-बड़े अत्याचार किए हैं, उनकी स्वाधीनता हर ली है। लेकिन यह इस्लाम का नहीं, मुसलमानों का कसूर है। विजयगर्व ने मुसलमानों की मति हर ली है। हमारे पाक नबी ने यह शिक्षा नहीं दी थी जिस पर आज हम चल रहे हैं। इस्लाम के नाम पर बट्टा न लगाऊँगा।"[1] शेख हसन धर्म की सच्ची व्याख्या प्रस्तुत करता है। धर्म के नाम पर देश जीतने वाले मुसलमान सैनिक थे, उच्छृंखल, शक्तिशाली और क्रूर थे। धर्म की गंभीरता, करुणा, दया, क्षमा, प्रेम, सद्भावना का आदर्श उनका नहीं था। शेख हसन कहता है कि इस्लाम के पैगंबर उदार, क्षमाशील, प्रेमी और इंसानियत के प्रेम के प्रचारक थे। रसूले-पाक हजरत मोहम्मद का धर्म कभी हत्या, अत्याचार एवं घृणा का प्रचार करनेवाला नहीं था। दाऊद शेख के उदार व्यक्तित्व से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसका हृदय परिवर्तित हो गया और धर्म के रहस्यों को, उसके गूढ़ सत्य को, समझ कर वह इस्लाम एवं मुसलमानों का सम्मान करने लगा। शेख हसन के चरित्र का निरूपण कर प्रेमचंद ने इस्लाम धर्म की गंभीर व्याख्या की है। अपने पुत्र के हत्यारे को छोड़ देना उसके महान त्याग को उद्भाषित करता है। वह क्षमा का एक अनुपम आदर्श हमारे समक्ष रखता है। शेख हसन के चरित्र के माध्यम से प्रेमचंद ने मानव-प्रेम एवं सांप्रदायिक एकता की शिक्षा दी है।

1. क्षमा (मानसरोवर), पृ० 211।

नईम

"डिक्री के रुपए"—नामक कहानी में लेखक ने हिंदू-मुस्लिम दो मित्रों के मनोभावों का उद्‌घाटन किया हैं। मिर्जा नईम और कैलाश के चरित्रचित्रण से प्रेमचंद ने आदर्श मित्र के चरित्र निर्मित किए हैं। मिर्जा नईम एवं क़ैलाश दोनों वड़े घनिष्ठ मित्र थे। दोनों में विशुद्ध प्रेम था। दोनों साथ-साथ पढ़े और वड़े हुए। दोनों कालेज के बाद जीवन-पथ के दो रास्तों पर चलते हैं। नईम सरकारी पदाधिकारी है और कैलाश एक समाचारपत्र का प्रकाशक। उसका उद्देश्य समाज और देश की सेवा है। दोनों में एक बात को लेकर संघर्ष होता है। सरकारी पदाधिकारी जीत जाता है। कैलाश अंत में पराजित हो जाता है और उस पर बीस हजार रुपये की डिक्री होती है। क़ैलाश अपने सत्य की पराजय पर परेशान और चिंतित है, लेकिन नईम अपने मित्र कैलाश से जब मिलता है तब उसके मन में कैलाश के प्रति वही प्रेम, वही सद्‌भाव, वही सम्मान है, जो कालेज के दिनों में था। वह बीस हजार की रसीद वैसे ही हंसी-मजाक में लिख देता है। मित्रता का प्रेम शाश्वत प्रेम सिद्ध होता है। उसमें कहीं कोई कलुष, जाति, वर्ग, संप्रदाय या पद का अभिमान नहीं है। दोनों मित्र प्रेम से ऐसे मिलते हैं, जैसे उनमें कोई विरोध ही न था।

इस कहानी में प्रेमचंद ने मित्रता के आदर्श को एवं हिंदू-मुस्लिम भाईचारे को प्रस्तुत किया है। प्रेमचंद ऐसे ही आदर्श प्रेम के पुजारी थे। वे हिंदू-मुस्लिम एकता को इसी प्रकार भाईचारे के प्रेम में आवद्ध देखना चाहते थे।

जामिद

"हिंसा परमो धर्मः" कहानी में जामिद के चरित्र के माध्यम से प्रेमचंद ने एक महान व्यक्ति की सृष्टि की है। वह लोगों की मदद करनेवाला, लोगों का बोझ हलका करनेवाला वेफिक्र मस्त था।" उसे न किसी से दोस्ती थी, न किसी से दुश्मनी, जो जरा हंस कर बोला, उसका वेदाम का गुलाम हो गया। वेकाम का काम करने में उसे मजा आता था। गांव में कोई वीमार पड़े, वह रोगी की सेवा-शुश्रूषा के लिए हाजिर है। कहिए तो आधी रात को हकीम के घर चला जाय। "मुमकिन न था कि किसी गरीब पर अत्याचार होते देखे और चुप रह जाय। फिर चाहे कोई उसे मार ही डाले, वह हिमायत करने से बाज न आता था।"[1] लोग उसे दीवाना समझते थे। जब गांव के लोगों ने उसे धिक्कारा और उसे अच्छी तरह जीवनयापन की शिक्षा दी तो वह गाँव से एक शहर में चला गया।

---

1. हिंसा परमो धर्मः (मानसरोवर, भाग 5), पृ० 82।

जब वह शहर आया तो अनेकानेक मंदिर-मस्जिदें उसने देखीं। उसे शहर के प्रति आकर्षण हुआ। वहाँ धर्म का महात्म्य देखकर जामिद आश्चर्यचकित और आनंद से प्रफुल्लित हो उठा। "उसकी दृष्टि में मजहब का जितना सम्मान था, उतना और किसी सांसारिक वस्तु का नहीं। वह सोचने लगा—ये लोग कितने ईमान के पक्के, कितने सत्यवादी हैं। इनमें कितनी दया, कितना विवेक, कितनी सहानुभूति होगी! तभी तो खुदा ने इन्हें इतना माना है।...यहाँ के सभी प्राणी उसे देवता तुल्य मालूम होते थे।"[1] वह शहर में आकर प्रसन्न था। उसके लिए ईश्वर-ईश्वर में कोई भेद नहीं था। उसके लिए ठाकुर जी सबके ठाकुर थे—क्या हिंदू, क्या मुसलमान—सभी के निर्माता, सभी के पालनकर्त्ता। संतों की भांति उसका विश्वास ईश्वर के एक रूप पर था, जिस एक सत्य तक सभी अपने-अपने धर्म द्वारा पहुँचना चाहते हैं। लेकिन जामिद ने शहर में आकर अनुभव किया कि हिंदू-मुस्लिम धर्म के नाम पर लोग धर्म के सत्य को भूल कर अपने-अपने स्वार्थ में लगे हैं। हिंदू शुद्धि द्वारा मुसलमान को शुद्ध कर हिंदू बनाना चाहता है और मुसलमान एक विवाहित स्त्री के साथ जबरदस्ती कर उसे मुसलमान बनाने के लिए आतुर हैं। एक, दूसरे धर्म के बूढ़े गरीब पर अत्याचार इसलिए करता है कि वह बूढ़ा कमजोर, असमर्थ, शक्तिहीन व्यक्ति दूसरे धर्म में विश्वास रखता है। जामिद को यह समझ में नहीं आता है कि यह धर्म-परिवर्तन, यह शुद्धि, यह अत्याचार, यह बलात्कार किसलिए किया जाता है, जब सभी के ईश्वर एक हैं और हम सभी उसी की आराधना करना चाहते हैं। जामिद को शुद्धि का महत्त्व और धर्मपरिवर्तन का आधार व्यर्थ जान पड़ता है। वह अनुभव करता है कि शहर के सारे लोग अज्ञानी, अधार्मिक और अशिक्षित हैं। उन्हें धर्म-तत्त्व का ज्ञान नहीं है। उससे तो अच्छा उसका गांव था, जहां मंदिर-मस्जिद नहीं थे। मुसलमान लोग एक चबूतरे पर नमाज पढ़ लेते थे। हिंदू एक वृक्ष के नीचे पानी चढ़ा कर खुश हो लेते थे, क्योंकि ईश्वर हर जगह है। उसका निवास कण-कण में है। उसे धर्म, संप्रदाय, मंदिर-मस्जिद में बांध कर हमने उसके साथ अन्याय किया है। साथ ही साथ हमने मानवता के आदर्श को तोड़ दिया है। हमने धर्म के शाश्वत सत्य को, उसके मूलमंत्र को, भूलकर उसे संकीर्ण विचारों से इस प्रकार आच्छन्न कर दिया है कि धर्म के सनातन तत्त्व को इंसानियत के प्रति प्रेम को—हम भूल बैठे हैं। जामिद सोचता है कि संपूर्ण समाज, हिंदू समाज हो या मुसलमान समाज, सभी ने अपने-अपने स्वार्थ से धर्म को मार-पीट, हत्या, बलात्कार और घृणा का आधार बना लिया है। शहर के इस वैमनस्य एवं दुश्मनी के वातावरण में जामिद का मन नहीं लगा और वह गाँव वापस चला आया।

1. हिंसा परमो धर्मः (मानसरोवर, भाग 5), पृ० 83।

जामिद के चरित्र के माध्यम से प्रेमचंद ने संतों के आदर्शों को प्रस्तुत किया है। उनका संदेश है कि ठाकुर जी सभी के ठाकुर जी हैं। उनके नाम, रूप-रंग के परिवर्तित करने से क्या होगा ? ठाकुर जी तो वही रहेंगे। हम अपनी अज्ञानता में उन्हें विभिन्न नाम-रूप में इस प्रकार बांध रखते हैं कि उनका दिव्य रूप धुंधला हो जाता है। अगर हम एक ईश्वर में आस्था और विश्वास रखें तो सांप्रदायिक वैमनस्य, द्वेष, घृणा और हिंसा नहीं होगी। मनुष्य-जीवन सुखमय और प्रगतिशील होगा। "कायाकल्प" का चक्रधर भी यही कहता है, "मैं एक खुदा का कायल हूँ, वही सारे जहान का खालिक और मालिक है।"[1] उस प्रभु को, उसके ऐश्वर्य को, भूल कर धर्म के नाम पर अपने को नेता एवं ज्ञाता समझने वाले धार्मिक पंडे, पुरोहित, मुल्ला और मौलवी हमें गुमराह करते है, हमें अधार्मिक बातें बतलाते हैं और हमारे जीवन में धर्म को लेकर अनेकानेक संघर्ष उपस्थित करते-कराते रहते हैं। "जिहाद" कहानी में खजाचंद का कहना है, "मैं उस धर्म को मानता हूँ, जिसकी बुनियाद अक्ल पर है। आदमी में अक्ल ही खुदा का नूर (प्रकाश) है और हमारा ईमान हमारी अक्ल।[2] जाहिर है कि धर्मांधता में हम ईश्वर के दिव्य स्वरूप को भूल कर, उसे अलग-अलग नाम-रूप में बाँध कर न जाने क्या-क्या अधार्मिक कार्य करते हैं। "फातिहा" कहानी में लेखक ने सरदार और तूरया के आधार पर जातिहीन समाज के निर्माण का संकेत दिया है। तूरया के अपूर्व प्रेम, त्याग और विलक्षण वीरता से प्रभावित होकर सरदार ने कहा--"नाजिर--तूरया को मैं तुमसे मांगता हूँ। मैं इसके साथ विवाह करूँगा।"[3] जवाब में नाजिर कहता है, "लेकिन आप हिंदू हैं और हमलोग मुसलमान।" सरदार[4] ने हंसकर कहा, "पलटनियों की कोई जाति-पाँति नहीं है।"[5]

"न्याय" कहानी में प्रेमचंद ने हजरत मुहम्मद और उनकी पुत्री जेनब एवं उसके पति अबुल आस के चरित्र के आधार पर इस्लाम धर्म की उदारता और न्याय-प्रियता का वर्णन किया है। हजरत मुहम्मद इंसान के रूप में महान धैर्य, क्षमा, प्रेम एवं न्याय की मूर्ति थे। वे धर्म को आत्मा का परिष्कार मानते थे। वे जबरदस्ती धर्म-परिवर्तन में विश्वास नहीं रखते। वे नए धर्म के दिव्य ज्ञान को प्रेम, स्नेह एवं सद्भावना से प्रचारित कर लोगों को अधर्म के अंधकार से हटाकर ज्ञान के दिव्य आलोक में ले जाना चाहते थे। वे न्याय को पक्षपातरहित मानते थे। हजरत मुहम्मद की पुत्री जेनब नए धर्म के आलोक में आत्मा का उपकार करने के लिए अपने पति

---

1. कायाकल्प, पृ० 39।
2. जिहाद (मानसरोवर, भाग-7), पृ० 179।
3. फातिहा (मानसरोवर, भाग-3), पृ० 205।
4. वही।
5. वही।

अबुल आस को छोड़कर अपने पिता के घर चली आती है। उसे अबुल आस से असीम प्रेम था। अबुल आस ईमानदार, दयाशील, सरल एवं उदार व्यक्ति था। धार्मिक कट्टरता उसमें नहीं थी। वह धर्म को व्यक्ति का विश्वास मानता था। उसने कहा था "मैं धार्मिक स्वाधीनता का पक्षपाती हूँ। मैं तुम्हारे धार्मिक विषयों में कभी हस्तक्षेप न करूँगा।"[1] प्रेम के अखंड, अपूर्व बंधन में बँधकर जेनब और अबुल आस अंत में मिल जाते हैं।

इस प्रकार प्रेमचंद अपने कथा-साहित्य में अनेकानेक पात्रों का निर्माण कर उनके व्यक्तित्व के माध्यम से धर्म की सही और मानवतावादी व्याख्या प्रस्तुत कर मानव-जीवन में प्रेम, एकता एवं भाईचारे का घनिष्ठ संबंध देखना चाहते थे। वे एक महान संत की भांति मानवता के प्रेम में आस्था एवं विश्वास रखते थे।

---

1. 'न्याय' कहानी (मानसरोवर, भाग-2), पृ० 141।

दशम अध्याय

सांप्रदायिक एकता को प्रेमचंद की देन

उपान्यास-सम्राट् प्रेमचंद का युग तत्कालीन जीवन के लिए एक क्रांति का समय था। प्राचीन परंपराओं को त्याग कर प्रेमचंद ने नए आदर्शों और नए विश्वासों को कथा-साहित्य में स्थान दिया। उनके पहले कथा-साहित्य मनोरंजन, उत्सुकता, जिज्ञासा और रहस्यों का साहित्य था, जिसमें व्यक्ति काल्पनिक इंद्रजालों में और रहस्यों में खो जाता था। लेकिन ऐसे कथा-साहित्य को पढ़ने से व्यक्ति का आत्मिक तथा बौद्धिक विकास नहीं हो सकता था। साहित्य तब मात्र मनोरंजन का आधार था।

प्रेमचंद ने सबसे पहले कथा-साहित्य में उपयोगिता के महत्त्व को स्वीकार किया और सहज-सरल भाषा में साधारण जनजीवन की समस्याओं को कथा-साहित्य का विषय बनाया। प्रेमचंद ने कल्पनाओं के इंद्रधनुष से कथा-साहित्य को हटा कर मानव-मन को यथार्थ जीवन से संबंधित किया। इससे युग-जीवन को एक नया संदेश कथा-साहित्य के माध्यम से मिलने लगा और युगीन समस्याएं कथा-साहित्य में इस रूप में आने लगीं, जिससे उस युग के जीवन और समाज को एक नया पथ मिला।

प्रेमचंद ने अपने साहित्य में सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक अन्याय की तीव्र आलोचना की है। वे साहित्य को "जीवन की आलोचना"[1] मानते हैं। उनके विचार से साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है।"[2] "वह (साहित्य) मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बांधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है– चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है।"[3] यह साहित्य "मानवीय अनुभूतियों की तीव्रता" बढ़ाकर "हमारे जीवन को स्वाभाविक और स्वाधीन बनाता है। दूसरे शब्दों में, उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है।"[4] प्रेमचंद ने अपने संपूर्ण साहित्य में मन के इसी संस्कार को महत्त्वपूर्ण माना है। यह संस्कार मन के दानवीय विचारों को परिष्कृत करता है और पूर्ण मानव बनने की प्रेरणा देता है। "वह हमारी वफादारी,

1. प्रेमचंद—कुछ विचार, पृ० 7।
2. वही।
3. प्रेमचंद—कुछ विचार, पृ० 10।
4. वही, पृ० 14।

सचाई, सहानुभूति, न्यायप्रियता और समता के भावों की पुष्टि करता है। जहाँ ये भाव हैं, वहीं दृढ़ता और जीवन है, जहां इनका अभाव है, वहीं फूट, विरोध, स्वार्थपरता है, द्वेष, शत्रुता और मृत्यु है।"[1] अतः उनके विचार से यह आवश्यक है कि साहित्य में "उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता के भाव हों, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश।"[2] प्रेमचंद मानते हैं कि "साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है। उसका दरजा इतना न गिराइए। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली सचाई भी नहीं है बल्कि उसके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है।"[3] इसीलिए उनका साहित्य मात्र युग-जीवन की आलोचना नहीं है, वह भविष्य जीवन के लिए प्रकाश-स्तंभ भी है, क्योंकि उनका संपूर्ण साहित्य मानवहित, सुरक्षा एवं मानव-कल्याण के प्रति सचेष्ट है। उनके संपूर्ण साहित्य में मानवीय गुणों की प्रतिष्ठा है। उन्होंने अपने संपूर्ण साहित्य में कहीं भी किसी धर्म, संप्रदाय या वाद की प्रतिष्ठा नहीं की। "प्रेमचंद पूर्णतः मानवतावादी थे; वे कभी भी किसी एक वाद की ओर नहीं झुके। उन्होंने तो उनमें से वही ग्रहण किया, जो मानवतावाद के लिए हितकर था।"[4] धर्म के विषय में अपना मत स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं, "मुझे रस्मी मजहब पर कोई एतकाद नहीं है, पूजा-पाठ और मंदिरों में जाने का भी मुझे शौक नहीं। शुरू में मेरी तबीयत का यही रंग है। आज लोगों की तबीयत तो मजहबी होती है, आज लोगों की लामजहबी। मैं मजहबी तबीयत रखनेवालों को बुरा नहीं कहता, लेकिन मेरी तबीयत रस्मी मजहब की पाबंदी को बिलकुल गवारा नहीं करती।"[5] उनका कहना था, "मैं इंसान हूँ, और जो इंसानियत रखता हो, इंसान का काम करता हो, मैं वही हूँ और उन्हीं लोगों को चाहता हूँ।"[6] हिंदू-मुस्लिम एकता की दिशा में कोई भी कदम उठाया जाता, तो वह बड़े प्रसन्न होते। ख्वाजा हसन निजामी ने भगवान कृष्ण पर एक पुस्तक लिखी। प्रेमचंद बहुत खुश हुए। जिस प्रकार एक मुस्लिम ने एक हिंदू महा-पुरुष को मुसलमानों के सामने रखने का प्रयत्न किया, उसी प्रकार प्रेमचंद इस्लामी इतिहास के बारे में हिंदी में लिखना चाहते थे।"[7] वे चाहते थे कि हिंदू और मुस्लिस एक-दूसरे के इतिहास, धर्म, संस्कृति और महान पुरुषों के विषय में जानें। प्रेमचंद

1. वही, पृ० 13।
2. वही, पृ० 25।
3. वही, पृ० 20।
4. डा० रघुवर दयाल वार्ष्णेय—प्रेमचंद और उनकी उपन्यास कला, पृ० 246।
5. श्रीमती शिवरानी देवी—प्रेमचंद घर में, पृ ...।
6. वही।
7. मदन गोपाल—कलम का मजदूर, पृ० 148-49।

ने कभी हिंदू और मुस्लिम को अलग ढंग से नहीं सोचा। उन्होंने हमेशा समाज को उसके यथार्थ रूप में देखा और समाज के ठेकेदारों की आलोचना की। अगर मुल्लाओं-मौलवियों की आलोचना की भी तो पंडितों और पुरोहितों को कहाँ छोड़ा। उनके लिए दोनों पाखंडी थे। दोनो धर्म की आड़ में हिंदू-मुस्लिम संप्रदायों को धर्म का गलत अर्थ बताते थे, उन्हें रूढ़ियों, झूठी मान्यताओं में उलझाए रखना चाहते थे। उनकी कहानी "हिंसा परमोधर्मः" में और "मंदिर और मस्जिद" में दोनों फिरका-परस्तों की तीव्र आलोचना की गई है। "मंदिर और मस्जिद" जब उर्दू पत्रों में छपी तो मुस्लिम समाचार पत्रों ने बावेला मचाया। प्रेमचंद ने निगम को लिखा "इस मजमून में किसी को शिकायत का क्या मौका है? फिरकापरस्तों की जेहनीयत का पर्दाफाश किया गया है। बिला किसी रुओरिआयत के एक तरफ हिंदू पंडितों और पुजारियों की मजहब परवरी का नज्जारा है, दूसरी जानिब मौलवियों की जो मजहब के पर्दे में अपनी अपनी नफसपरवरी के शिकार हो रहे हैं। अगर कुछ लोगों को बुरा लगता है तो मेरा क्या अख्तियार है।"[1] प्रेमचंद चन्द लोगों की प्रसन्नता के लिए नहीं लिखते थे। उनका साहित्य जन-जन के लिए था। इसीलिए उन्होंने जनभाषा में लिखा। वे चाहते थे कि उनका साहित्य साधारण जनसमाज तक पहुँचे। उनके लिए साहित्य जीवन-विकास का साधन था। उन्होंने लिखा था, "साहित्य सामाजिक आदर्शों का स्रष्टा है। जब आदर्श ही भ्रष्ट हो गया तो समाज के पतन में बहुत दिन नहीं लगते।"[2] मनुष्य स्वाभाव से देवतुल्य है। जमाने के छल-प्रपंच या और परिस्थितियों के वशीभूत होकर वह अपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है"[3]—वे मनुष्य में इसी देवत्व की प्रतिष्ठा करना चाहते थे। वे साहित्य के माध्यम से मनुष्य के अंदर छिपे हुए उसके सुषुप्त रामत्व की भावना को जागरित कर उसमें सद्‌गुणों का विकास करना चाहते थे, जिससे समाज का सुधार हो सके। इसीलिए वे समाज के कटु आलोचक थे। समाज की आलोचना कर वे समाज की अंध-रूढ़ियों, अंधविश्वासों एवं पुरातन विडंबनाओं को समाप्त करना चाहते थे और मानव-जीवन में नूतन आदर्शों के प्रति जागरूकता लाना चाहते थे। उनके पहले उपन्यास "असहारे पाविद" में काशी के पंडों की आलोचना की गई है। इसके अतिरिक्त प्रेमचंद ने विभिन्न सामाजिक समस्याओं की आलोचना की है; जांति-पांति, छूत-अछूत, नारी-जीवन की अवस्था एवं उनकी विविध समस्याएं, ग्रामीण जीवन की विविधता, किसानों-मजदूरों की स्थिति, पूंजीपतियों, जमींदारों का शोषण, अंग्रेजी राज्य की छत्रछाया में भारतीय जीवन की घुटन, अंग्रेजों की द्वेष नीति के

1. मदन गोपाल -कलम का मजदूर—प्रेमचंद, पृ० 152।
2-3. प्रेमचंद-- कुछ विचार, पृ० 97।

कारण देश की आंतरिक अशांति आदि अनेकानेक विषयों को अपना कथा-साहित्य में समाविष्ट किया है। इन विषयों में कथाकार प्रेमचंद मानवीय आदर्शों को भी प्रतिष्ठित करते रहे हैं।

इन समस्त समस्याओं के साथ जीवन की एक महान समस्या सांप्रदायिकता की थी। भारतीय जन-जीवन में अंग्रेज अपनी सफलता एवं शासन-व्यवस्था के स्थायित्व के लिए हिंदू और मुसलमानों में विषमता का विष बो रहे थे। यह विष भारतीयों को कई तरह से दिया जा रहा था, जिसके कारण देश में जहां-तहां सांप्रदायिक दंगे हो रहे थे। धर्मांधता और बहकावे में आकर आदमी-आदमी के खून का प्यासा हो गया था। प्रेमचंद व्यक्ति के मन में जमे इस विष को निकालना चाहते थे। इस सांप्रदायिक समस्या को दूर करने के लिए सदा प्रयास करते। वस्तुत: वे एक महान संत थे। कबीर, दादू, अकबर, दारा शिकोह, नानक और महात्मा गांधी की तरह उन्होंने भी मानवधर्म का प्रचार किया और हमेशा युग को एकता का अमर संदेश देते रहे।

हिंदू-मुस्लिम समस्या प्रेमचंद के युग की एक महान जटिल समस्या थी। उसकी जटिलता, संघर्ष एवं द्वंद्व ने युग को आकुल-व्याकुल कर दिया था। अच्छे-अच्छे विद्वान भी क्षणिक स्वार्थ और गलत प्रचार के कारण गुमराह हो जाते थे। 19वीं शताब्दी एवं 20वीं शताब्दी के पूर्वार्ध का भारतीय इतिहास हिंदू-मुस्लिम संघर्षों का इतिहास है। लोग सांप्रदायिक वैमनस्य, ईर्ष्या और द्वेष के कारण इतने गिर गए थे कि अपने ही भाई, मित्र एवं सहृदय के खून के प्यासे हो गए थे। युग-प्रवर्तक प्रेमचंद अपने साहित्य के माध्यम से संकुचित सांप्रदायिक विचारों के प्रचारकों की आलोचना करते थे और मानव-जीवन को धर्म के मूल अर्थ के प्रति सजग एवं सचेष्ट करना चाहते थे। वे इतिहास के तथ्य को तर्क के चश्मे से देखते थे। वे उस गलत इतिहास को भुलाकर नए इतिहास का सूत्रपात करना चाहते थे, जिससे सांप्रदायिकता सदा के लिए समाप्त हो जाए और एकता तथा प्रेम की निर्झरिणी समाज में प्रवाहित हो। वे मानते थे कि सभी धर्म एक ही सत्य की ओर हमें ले जाना चाहते हैं। हम चाहे जिस भी धर्म को मानें, हमें इंसानियत को उसके ऊपर स्वीकार करना चाहिए।

भारतीय जीवन और साहित्य में प्रारंभ से ही विविधता में एकता का संदेश दिया गया है। सदियों से मानवतावादी साहित्यकारों ने धर्म की व्यापक व्याख्या की और उसे उदारता की वस्तु माना। इसीलिए भारत में आनेवाली अनेकानेक जातियां भारतीय धर्म, संस्कृति एवं कला में घुलमिल गई। मध्ययुगीन सूफी और संत कवियों ने भी उसी उदारता को, उसी मानवधर्म को मानवधर्म की मान्यता दी। उन्होंने सांप्रदायिक वैमनस्य को, सांप्रदायिक विचारों को संपूर्ण मानवता के विनाश का कारण स्वीकार किया। संकीर्ण धार्मिक विचार व्यक्ति की नासमझी, उसके अविवेक, उसकी अशिक्षा के कारण ही विकसित होते हैं। इन सूफी-संतों मे मुल्लाओं, मौलवियों, पंडितों, पंडों, पुरोहितों को पाखंडी कहा और बार-बार उनके संकुचित विचारों की

कटु आलोचना की। इसी प्रकार प्रेमचंद ने भी अपने साहित्य के सांप्रदायिक वैमनस्य को उद्वेलित करने वाले तथा संकुचित धार्मिक रूढ़ियों को फैलाने वाले पंडितों और मौलवियों की कठोर आलोचना की। उन्होंने लिखा, हिंदू जाति का सबसे घृणित कोढ़, सबसे लज्जाजनक कलंक, यही टके-पंथी दल है, जो एक विशाल जोंक की भांति उसका खून चूस रहा था। हमारी राष्ट्रीयता के मार्ग में यही सबसे बड़ी बाधा है।"[1]

प्रेमचंद मानते थे कि साहित्यकार का कर्त्तव्य मात्र साहित्य-रचना नहीं है, साहित्य-रचना के साथ युगजीवन को एक क्रांतिकारी संदेश देना भी है। वे लिखते हैं, "हमारा स्वराज केवल विदेशी जुए से अपने को मुक्त करना नहीं है, बल्कि सामाजिक जुए से भी, उस पाखंडी जुट से भी, जो विदेशी शासन से कहीं अधिक घातक है।"[2] वे आगे कहते हैं, "पाखंड, धूर्तता, अन्याय, बलात्कार और ऐसी ही अन्य दुष्प्रवृत्तियों के प्रति हमारे अंदर जितनी ही प्रचंड घृणा हो, उतनी ही कल्याणकारी होगी।"[3] उन्होंने उन पंडे-पुजारियों और उन मौलवियों पर भी गहरा व्यंग्य किया है, जो धर्म को संकुचित दायरे में बंद करते हैं। उन्होंने कभी भी उस साहित्य को अथवा उन विचारों तो मान्यता नहीं दी, जिनके द्वारा गलत बातों का प्रचार कर देश में सांप्रदायिक वैमनस्य और भेदभाव को उभारा जाता था।

मध्ययुग के क्रांतिकारी संत कबीर नानक, रैदास आदि संतों ने भी उच्च विचारों का प्रचार किया और व्यक्ति को धर्म के संकीर्ण वातावरण से ऊपर उठाने का प्रयास किया। कबीर ने कहा था, "ढाई अक्षर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय।" प्रेम का मंत्र मानव-धर्म का मंत्र है। इसी मंत्र में सम्राट अकबर का विश्वास था। इस सद्भावना, सद्विचार और प्रेम के धर्म को दाराशिकोह ने भी स्वीकारा था। इसी मानव धर्म को लोक-कल्याण के लिए महात्मा गाँधी ने स्वीकार किया था। वे अपने जीवन में इसी प्रेम और एकता का संदेश देते रहे। इसी प्रेम और एकता को अबुल कलाम आजाद ने जीवन के लिए आवश्यक माना था।

प्रेमचंद ने भी इसी मानव-धर्म को सांप्रदायिक प्रेम तथा एकता के लिए उपयोगी माना था। अपने कथा-साहित्य में उन्होंने सांप्रदायिक एकता का सतत प्रयास किया। वे हिंदू-मुस्लिम एकता के सच्चे समर्थक थे। और देश के लिए तथा मानव-विकास के लिए इसे सबसे अधिक महत्व देते थे। वे कहते थे कि चाहे जैसे भी हो, हमें सबसे पहले अपनी आपसी विषमता, द्वेष और शत्रुता दूर करनी होगी, क्योंकि यह बनावटी द्वेष समाज के लिए कोढ़ है। वे व्यावहारिक जीवन में भी धर्म, जाति तथा संप्रदाय को महत्व नहीं देते थे। उनके बहुतेरे मित्र और शुभचिंतक मुस्लिम तथा ईसाई थे।

1-2. जागरण 8-1-1934 से उद्धृत: प्रेमचंद और गोर्की, पृ० 156।

3. हंस, दिसम्बर 1933 से उद्धृत "कलम का मजदूर, प्रेमचंद", पृ० 255।

हिंदुस्तान कई जातियों एवं कई धार्मिक मतों में विश्वास रखने वालों का देश है। अनेक जातियां यहाँ शांति से रहती आई हैं, जिन्होंने इसे अपनी जन्मभूमि या मातृभूमि के रूप में स्वीकार कर लिया। मुसलमान भी यहां सदियों से रहते आए हैं। भारत उनकी ही जन्मभूमि है, उनकी भी मातृभूमि है। इसकी उन्नति, इसका विकास उनका विकास है। लेकिन अंग्रेजों द्वारा बोए विष ने सांप्रदायिक संघर्षों को प्रज्वलित किया। वस्तुत: हमारे इतिहास में भी बहुत-सी गलत बातों का समावेश हो गया है। हमें उन गलत बातों से ऊपर उठना होगा। प्रेमचंद कहते हैं—"हमें तो हिंदू-मुस्लिम संस्कृति में कोई मौलिक भेद नहीं नजर आता।...शिव और राम, कृष्ण और विष्णु जैसे हमारे देवता हैं वैसे ही मुहम्मद अली और हुसेन आदि मुसलमानों के देवता या पूज्य पुरुष हैं। हमारे देवता जैसे त्याग, आत्मज्ञान, वीरता और संयम के लिए आदरणीय हैं, उसी भांति मुस्लिम देवता भी हैं। अगर हम श्री रामचंद्र को आदरणीय समझते हैं तो कोई कारण नहीं कि हुसेन को उतना ही आदरणीय न समझें। हम मंदिरों में पूजा करने जाते हैं, मुसलमान मस्जिदों में, ईसाई गिरजाघरों में। अगर कोई जैनी या आर्यसमाजी मंदिर में पूजा करने नहीं जाता तो क्या इसलिए हम जैनियों या आर्य-समाजियों को अपने से पृथक् समझते हैं। सिख भी हमारे मंदिर में नहीं जाते, उनके गुरुद्वारे अलग हैं, पर इसलिए हम सिखों से लड़ने नहीं जाते।"[1] अत: मंदिर, मस्जिद, गिरजे की विभिन्नता एवं भाषा की विभिन्नता से धर्म के मूल तत्व ईश्वर में भेद कहां आता है? वह चाहे जिस भी भाषा और जिस भी आकार में संबोधित एवं पूजित हो वह एक ही है।

प्रेमचंद देश का सांप्रदायिक संघर्ष साहित्यिक धरातल पर दूर करना चाहते थे। वे लेखकों का एक ऐसा संगठन चाहते थे, जहां हिंदू-मुस्लिम का आंतरिक वैमनस्य, द्वेष एवं घृणा दूर हो। साहित्य जीवन में नई क्रांति, नया विश्वास, नई ज्योति और संप्रदायों में प्रेम एवं एकता को सुदृढ़ कर सकता है। उनके विचार में "साहित्यिक जागृति किसी समाज की सजीवता का लक्षण है।...अगर आज हम हिंदू-मुसलमान एक-दूसरे के साहित्य से ज्यादा परिचित हों, मुमकिन है, हम अपने को एक-दूसरे के कहीं ज्यादा निकट पाएँ। साहित्य में हम हिंदू नहीं है, मुसलमान नहीं हैं, ईसाई नहीं हैं, बल्कि मनुष्य हैं, और मनुष्यता हमें और आपको आकर्षित करती है। क्या यह खेद की बात नहीं कि हम दोनों, जो इस मुल्क में आठ सौ साल से रहते हैं, एक-दूसरे के पड़ोस में रहते हैं, एक-दूसरे के साहित्य से इतने बेखबर हैं।"[2] प्रेमचंद आगे लिखते हैं—"ईश्वर से हमारी यही कामना है कि हिंदू-मुस्लिम समझौता सफल हो, और राष्ट्र एकात्मक होकर अपने अभ्युदय के पथ पर अग्रसर हो।"[3] "हमारी ईश्वर से यही प्रार्थना

1. विविध प्रसंग, पृ० 376।
2. प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ० 87-88।
3. विविध प्रसंग, 389 (भाग 2)

है कि वह हमें सन्मार्ग दिखाए और हम सांप्रदायिकता से ऊपर उठकर राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर हो सकें।"[1]

भारत की यह सांप्रदायिक समस्या महात्मा गांधी जैसे महान संत के उच्च विचारों और प्रेमचंद जैसे संत साहित्यकार की क्रांतिकारी भावना से भी नहीं सुलझी। अंत में भारत का विभाजन हो ही गया। आज भी भारत में यह सांप्रदायिक समस्या है। स्वतंत्र होने के बाद भी, इतने वर्षों से एक ही मातृभूमि पर पलने वाले दो भाई अविवेक की लड़ाई लड़ते हैं। बनावटी द्वेष और वैमनस्य का घृणित एवं तांडव नृत्य बीच-बीच में हमें देखना पड़ता है। जिस द्वेष, घृणा और वैमनस्य को राजनीति प्रश्रय देती है, उसे साहित्यकार चाहें तो अपने सद्विचार से, सतत प्रयास से, समाप्त कर सकते हैं। प्रेमचंद साहित्य की इसी मशाल को जलाते रहे कि इसकी ज्योति से वैमनस्य तथा घृणा का अंधकार मिट जाए और एकता एवं प्रेम का बीजमंत्र जन-जन के मानस में स्थापित हो जाए।

प्रेमचंद पर कुछ आलोचकों का आरोप है कि वे विशेष वाद के प्रचारक थे। कोई उन्हें आदर्शवादी, कोई गांधीवादी, कोई साम्यवादी मानता है। लेकिन मैं प्रेमचंद को किसी विशेष वाद का प्रचारक नहीं मानती क्योंकि उनके साहित्य में वाद-विशेष की स्थापना नहीं है। अगर प्रेमचंद गांधी के आदर्शों से प्रभावित थे तो हम यह नहीं मान सकते कि वे गांधीवादी थे। उनपर मार्क्सवाद का भी प्रभाव लक्षित होता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि प्रेमचंद इन वादों पर आधारित साहित्य रचते थे। वैसे, प्रेमचंद के साहित्य पर विश्व के कई महान उदारचेता साहित्यकारों के आदर्शों का भी प्रभाव दिखाया जा सकता है। हकीकत यह है कि प्रेमचंद एक महान उदारचेता साहित्य-सेवी संत थे जिनके साहित्य में मानवीय आदर्शों का समावेश हैं। बहरहाल प्रेमचंद को हम किसी विशेष वाद, पृथक पंथ या दर्शन का अनुयायी नहीं मान सकते।

प्रेमचंद का जीवन महती साधना का जीवन था। उन्होंने जन-रंजन के साथ-साथ जनकल्याण की भावना से साहित्य का सृजन किया है। वे मनुष्य को अर्थ के आधार पर अमीर और गरीब मानते थे। उन्होंने अपने कथा-साहित्य में मनुष्य को आर्थिक जीवन से संघर्ष करने की प्रेरणा दी। धर्म के आधार पर जो समस्याएँ उठाई जाती हैं, उन्हें वे हानिकारक मानते हैं। उनकी कहानियों और उपन्यासों में हिंदू-मुस्लिम एवं ईसाई पात्र साथ-साथ रहते हैं, और जीवन की प्रगति के पथ पर अग्रसर होते हैं।

यदि हम प्रेमचंद को किसी वाद में बांधना चाहें तो उन्हें मानवतावादी महान लेखक मान सकते हैं। उनका धर्म मानव-धर्म था। मानवता का पुजारी महान साहित्यकार किसी संकुचित सीमा में बंध कर नहीं सोचता। कबीर को पाखंडी और

1. वही, पृ० 395।

अकबर को काफिर कह कर आलोचना करने वालों का अभाव नहीं है । लेकिन वे कभी ऐसी आलोचनाओं से स्खलित नहीं हुए । वे मानवता के प्रशस्त पथ पर सदा चलते रहे । यही उनका लक्ष्य था । प्रेमचंद भी इन्हीं महान संतों की भांति जीवन के आदर्श के प्रतिपादक हैं ।

प्रेमचंद की साहित्य-साधना मानव जीवन की प्रगति की साधना थी । वे संपूर्ण मानव-समाज के शुभचिंतक थे । हिंदू और मुसलमान दोनों उनके साहित्य के प्रशंसक थे । उनके विज्ञ आलोचकों ने भी उन्हें सच्चा मानव और महान साहित्यकार माना है । उन्होंने उन्हें "फितरत निगार" और "शहंशाह नावल नवीस" का खिताब दिया । वे भारत की बहुसंख्यक जनता की सुख-समृद्ध, जागर्ति एवं आत्मिक विकास के आकांक्षी थे । वे संपूर्ण भारतीय समाज को सुखी, संपन्न, सुसंस्कृत, समृद्ध एवं पूर्ण मानव के रूप में देखना चाहते थे । वे एक उदारचेता चितक-थे । "उनका चिंतन वस्तुतः बहुत कुछ मध्यकालीन संतों के चिंतन के समान है जो सीधा ऋतु एवं आत्मानुभव पर आश्रित है, वह किसी बड़े नाम और ग्रंथ की आप्तता के सम्मुख भयभीत नहीं है । अतः उनके सिद्धांत व्यावहारिक, उपयोगी एवं ठोस भित्ति पर आधृत हैं ।"[1]

प्रेमचंद एक कर्मवीर लेखक थे । उनके लिए साहित्य-साधन एक मजदूर के कुदाल चलाने और जमीन को उर्वरा बनाने से कम न था । वे मानते थे—"कलम ही मेरी कुदाल है ।"[2] वे अपने साहित्य से सारे मानव-मन का परिष्कार करना चाहते थे । वे विश्वशांति और प्रेम के प्रवर्तक थे । उन्होंने कहा था—"विश्व में मानव समाज के कल्याण के लिए जितने भी आंदोलन देखे गए हैं, उनके लिए साहित्य ने अच्छी जमीन ही नहीं तैयार की, वरन् उसमें बीज बोने और जल सींचने का भी काम किया । प्रभुत्व, अन्याय और आत्मसर्वस्वता के विरुद्ध मनुष्य के मन में जो विद्रोह उठता है, वही साहित्य है । लेखक का काम तो केवल इतना है कि वह विद्रोह को भाषा में रूपांतरित कर दे ।"[3] वे मानव मन में असमता, सांप्रदायिकता और अन्याय के प्रति विद्रोह का भाव भरना चाहते थे और इस विद्रोह के माध्यम से जीवन में एक नई क्रांति लाना चाहते थे । वे "कलम का हथियार" लेकर लड़ते थे । उन्होंने कहा था—"मैं शांत नही बैठूंगा । प्रतिक्षण साहित्य और देश के लिए कुछ-न-कुछ करता रहूंगा ।"[4] वे साहित्य की मशाल लेकर अपने युग के अंधकार को दूर करने का प्रयास करते रहे । उनके लिए जीवन की मूल वस्तु इंसानियत थी । वे इसी इंसानियत की संस्कृति के

1. डॉ० नरेन्द्र कोहली : प्रेमचंद, पृ० 113 ।
2. वी० एस० वेसकुवनी : प्रेमचंद और गोर्की, पृ० 88 ।
3. वी० एस० वेसकुवनी : प्रेमचंद और गोर्की, पृ० 88 ।
4. वही, पृ० 88 ।

प्रचारक महामानव थे और युग-युग के मानव मन में प्रेम तथा इंसानियत की लगन का बीजारोपण करना चाहते थे ।

संतों के उदार और उदात्त भावों को जगाने में प्रेमचंद सदा प्रवृत्त रहे । उन्होंने संतों की तरह अपने युग को और भविष्य मानव को शांति, प्रेम और सांप्रदायिक एकता का संदेश दिया । श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा है कि --"प्रेमचंद जी के एक गुण ने मुझे सबसे अधिक आकर्षित किया था, वह था उनमें सांप्रदायिक का सर्वथा अभाव । हिंदू-मुस्लिम एकता के वे बड़े हामी थे और दोनों के सांस्कृतिक मेल के लिए उन्होंने जीवन भर परिश्रम किया था ।"[1] यही है उनकी सबसे महान उपलब्धि और सांप्रदायिक एकता को एक बड़ी देन । अतः वैचारिक उदारता, मानव-प्रेम और इंसानियत की संस्कृति में उनका विश्वास देखकर हम प्रेमचंद को महान संतों की परंपरा में 'आधुनिक संत साहित्यकार' मानते हैं ।

1. प्रेमचंद और गोर्की, पृ० 42 ।

उपसंहार

सांप्रदायिक एकता के संदर्भ में पिछले अध्यायों में जो कुछ लिखा गया और जिन प्रश्नों और समस्याओं का विश्लेषण किया गया है, उनका संक्षिप्त सार निम्न-लिखित विंदुओं में उल्लिखित है —

1. भारतीय जीवन विविध संस्कृतियों एवं संप्रदायों का समन्वय संगम है। अनेकानेक जातियों के लोग भारत में आए और भारतीय संस्कृति में मिलकर एकाकार हो गए। भारत में इस्लाम का आगमन शासकों के रूप में हुआ; शासकों के धर्म के प्रति लोगों में विरोध जगने लगा। मूलत: इस्लाम धर्म में विरोध की वैसी कोई विशेष बात नहीं थी। इस्लाम की तरह भारतीय दर्शन भी एक ईश्वर में आस्था रखता है। यह विरोध शासकों की ओर से पैदा हुआ था। सामान्य जनता से उसका कोई संबंध नहीं था।

2. मध्ययुग में सूफी साधकों ने एकता के आदर्श को ही जीवन और साहित्य का लक्ष्य माना। उनकी विश्वकल्याण की महती भावना, उनका मानव प्रेम, स्वानुभूति के प्रति आस्था, बाह्य विडंबनाओं और परंपरागत रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों के प्रति असंतोष—इन सब ने जीवन में क्रांति उपस्थित की। संत-परंपरा से प्रेमचंद का ऐसे तो कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है, लेकिन उन्होंने भी साहित्य के माध्यम से उसी भावना—सांप्रदायिक एकता—का प्रचार किया। प्रेमचंद साहित्य को मानव-मन के परिष्कार का साधन मानते थे।

3. 19वीं शताब्दी का भारत विभिन्न समस्याओं और संघर्षों का भारत था। इस युग में अनेकानेक जागरूक समाज सुधारक और कवि हुए जो देश-प्रेम का संदेश दे रहे थे। राजनीति के क्षेत्र में, कांग्रेस के तत्त्वावधान में, राष्ट्रीय नेता भी सांप्रदायिक एकता एवं राष्ट्रीय जागरण का प्रचार कर रहे थे। लेकिन अंग्रेजों की कुटिल नीति के प्रभाव में आकर यह एकता खंडित होती रही। प्रेमचंद इस सांप्रदायिक एकता को राष्ट्र की उन्नति एवं देशप्रेम के लिए अनिवार्य मानते थे। इसीलिए, साहित्य के माध्यम से उन्होंने मानव-मन का परिष्कार करना चाहा। साहित्य का क्षेत्र विस्तृत और उसका प्रभाव गंभीर होता है, अत: प्रेमचंद का प्रयास युग-युग के लिए एक आदर्श बन गया है।

4. प्रेमचंद का युग 20वीं शताब्दी का—राजनीतिक, आर्थिक और सांप्रदायिक संघर्षों का—भारत था। इस युग में क्रांति की ज्वाला दहक रही थी। गांधीजी

के नेतृत्व में देश एकता और स्वतंत्रता की ओर बढ़ रहा था। प्रेमचंद ने अपने साहित्य के माध्यम से इस भावना को उद्दीप्त किया।

5 प्रेमचंद का जीवन प्रारंभ से अंत तक निष्पक्ष और उदार रहा। मानवता के प्रति उनका दृष्टिकोण संतों की भांति उदार था। वे मानवीय एकता को धर्म, जाति, संप्रदाय से ऊपर मानते थे। साहित्य में ही नहीं, जीवन में भी वे एक सरल, सीधे-सादे मनुष्य थे। उनके लिए हिंदू-मुसलमान में कोई भेद नहीं था। राम-रहीम दोनों उनके लिए आदर्श थे। वे इंसान थे और इंसानियत से प्यार करते थे। अपने जीवन में वे हिंदू-मुस्लिम दोनों को प्यार करते थे। अपने शिक्षक मौलवी साहब और बाद में हकीम साहब की चर्चा उन्होंने जिस आदर और सम्मान से की, उसको देखकर उनकी उदात्त भावना का अनुमान लगाया जा सकता है। वे साधारण होकर भी असाधारण व्यक्ति थे। उनके जीवन पर महात्मा गांधी का, लियो टाल्स्टाय के आदर्शवाद का, गाल्जवर्दी के यथार्थवाद का और मार्क्स के साम्यवाद का प्रभाव लक्षित होता है।

6. प्रेमचंद आधुनिक युग के क्रांतिकारी कथाकार थे। उनके स्वतंत्र क्रांतिकारी विचार, पूर्वमान्य परंपराओं से उन्हें अलग करते हैं। उनके पहले के साहित्य में सांप्रदायिक एकता का उल्लेख उतना नहीं मिलता जितना अकेले प्रेमचंद में। इस विषय में उनका महत्त्व अद्वितीय है। उस समय के या पहले के कथाकार तिलिस्म, रहस्य, मनोरंजन या उपदेश को महत्त्व दे रहे थे। प्रेमचंद ने इस परंपरा से हटकर, नई दृष्टि से जीवन को देखना शुरू किया और समाज की आवश्यकता को साहित्य का आधार बनाकर क्रांतिकारी कदम उठाया। यह भारतीय साहित्य में एक नया प्रयास और प्रयत्न था।

7. प्रेमचंद ने अपने साहित्य में स्वतंत्रता आंदोलन एवं सांप्रदायिक एकता को उजागर कर यह स्पष्ट करने की कोशिश की है कि राजनीतिक प्रपंच लोगों को गुमराह करते हैं। छोटी-छोटी बातों को छोड़, देश की स्वतंत्रता और आपसी भाईचारे पर यदि अधिक ध्यान दिया जाए तो उससे सबका कल्याण हो। प्रेमचंद भारतीयों का एक नया समाज बनाना चाहते थे।

8. प्रेमचंद ने अपने साहित्य में इंसान को इंसान के रूप में प्रस्तुत किया। वे मनुष्यता से बढ़कर धर्म, जाति या संप्रदाय का कोई मूल्य स्वीकार नहीं करते हैं। वे मनुष्य का मूल्यांकन धर्म, जाति और संप्रदाय के आधार पर न कर, उसकी आर्थिक स्थिति पर आधारित मानते हैं। वे हिंदू-मुसलमान दोनों का कल्याण और उद्धार चाहते हैं। वे स्वीकार करते हैं कि सांप्रदायिक विद्वेष को साहित्य के सत्संदेश से दूर किया जा सकता है।

9. अपने कथा-साहित्य में प्रेमचंद ने अनेक महान् और उदार चरित्रों का निर्माण किया, जो सांप्रदायिक एकता के संदेशवाहक एवं मानव-प्रेम के परिपोषक हैं।

वे सभी धर्मों में एक ही मूलतत्त्व पाते हैं। उनके लिए "ठाकुर जी सभी के ठाकुर जी हैं।" ऐसे उदार पात्रों का विश्वास है कि दुनिया की भावी धर्म सत्य, न्याय और प्रेम पर आधारित होगा। इंसान-इंसान के रूप में पहचाना जाएगा, तभी समाज सही माने में प्रगति कर सकेगा। इंसानियत के प्रेम-वाहक ये पात्र पाठकों के मन में देवत्व जगाते हैं। वे धर्म के नाम पर विभागों और संप्रदायों की रचना को मानवता के विकास का अवरोधक मानते हैं। इससे संपूर्ण विश्व टूट जाएगा। वे मानते थे कि साहित्य की सत्प्रेरणा आगे भारत को अवश्य ही एकता की ओर गतिशील करेगी।

10. प्रेमचंद कबीर की भांति कपट, पाखंड, अत्याचार, अन्याय और विषमता के प्रबल विरोधी थे। परलोक या स्वर्ग में उनकी आस्था नहीं थी। अपनी बीमारी के दिनों में भी उनके मन में कोई भय, मोह या खीझ नहीं थी। शांत गंभीर संत की भांति उन्होंने जैनेन्द्र जी से कहा था—"ईश्वर को कष्ट देने की जरूरत उन्हें नहीं मालूम हुई।"[1] शिवरानी देवी ने भी लिखा है—"गृहस्थ के चोले में उनका संत का मन था।"[2]

1. प्रेमचंद : कलम का सिपाही, पृ० 644।
2. वही, पृ० 360।

C39.83009
२१६५ II

हिन्दी में प्रकाशित किसी भी
पुस्तक की आपको जरूरत हो, तो
पहले हमें लिखें
या हमारे शो-रूम में पधारें

□

आप मांगकर खाते नहीं,
मांगकर पहनते नहीं
फिर मांगकर पढ़ने की भी
जरूरत नहीं है

□

प्रतिमाह आप पचास रुपये भी
किताबों पर खर्च करें
तो पांच साल में आपके घर
में अच्छी लाइब्रेरी बन जाएगी

□

हमारी ओर से
आपको हर संभव सहयोग
अर्पित है—

पारिजात प्रकाशन
डाकबंगला रोड, पटना-१

हमारे कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

□

मेरा जीवन	आचार्य शिवपूजन सहाय	७५.००
जिजीविषा	सं० मनुज	६०.००
नेपाली और हिन्दी का तुलनात्मक अध्ययन	डॉ० आशा सिंह	६०.००
स्मृतियों में अब भी	केसरी कुमार	३०.००
पास से देखने का सुख	शंकरदयाल सिंह	३०.००
कहीं सुबह : कहीं शाम	,,	१५.००
पहली बारिश की छिटकती बूंदें	,,	२०.००
एक दिन अपना भी	,,	२५.००
कुछ बातें : कुछ लोग	,,	२२.००
चिनार	राका रश्मि	४०.००
दूब-धान	उषाकिरण खान	३०.००
बांधो न नाव इस ठांव	ऋता शुक्ल	२०.००
हिन्दी ही क्यों ?	डॉ० प्रभाकर माचवे	२५.००
बिना यात्रा की यात्रा	बालेन्दुशेखर तिवारी	२५.००
प्रेम : कितना सुखद, कितना दुखद	कृष्णकेतु	७०.००
आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी		२०.००
फादर कामिल बुल्के		१५.००
बाबू गंगाशरण सिंह		१५.००
प्रेमचन्द : स्मृति-धरोहर		१०.००
मुक्तकंठ : समापन अंक		५०.००

□

पारिजात प्रकाशन

डाकबंगला रोड, पटना-८०० ००१

आदेश आपका : डाकखर्च हमारा